# अंतर्दर्शन

श्रीहरिः

# अन्योक्ति-कल्पद्रुम

की

## विषयानुक्रमणिका

* श्रीहरिः *

# अंतर्दर्शन

## १—अलंकार

मानव-प्रवृत्ति अलंकार से अनुराग करती है, मनुष्य बात-बात में नूतनता अथवा चमत्कार लाने का प्रयत्न करता है। केवल "अलंकार-शास्त्र" के नियमों तथा भेदोपभेदों के जानकार ही अलंकारों का प्रयोग करते हों ऐसी बात नहीं; वरन् अपढ़, मूर्ख तथा ग्रामीण भी प्रतिदिन बोलचाल में आलंकारिक भाषा का उपयोग करते हैं। यद्यपि वे यह नहीं जानते कि उनकी भाषा में किस समय किस अलंकार का प्रयोग हो रहा है तथापि उनमें अलंकारता होती अवश्य है। किसी बात में अड़ंगा लगानेवाले को वे कहते हैं,—"दाल भात में मूसरचंद।" यह आलंकारिकों का उपमालंकार है। जन-समाज 'उपमा' और 'वक्रोक्ति' का प्रयोग तो पग-पग पर करता है। जैसा कि हम ऊपर कह चुके हैं, इसका एक कारण नूतनता की चेष्टा है। एक दूसरा कारण भी है। मानव-प्रवृत्ति वीभत्स, कठोर एवं दुःखपूर्ण घटनाओं के कटु सत्य को नहीं स्वीकार करती। अतः इन घटनाओं का वर्णन ऐसे ढंग से किया जाता है, जिससे वे उतनी अरुचिकर न ज्ञात हों—जितनी वे हैं। ऐसा करने का प्रयत्न करना भी भाषा में अलंकारता लाने का एक कारण है। "अमुक व्यक्ति मर गया" ऐसी कठोर एवं शोकपूर्ण घटना को इस रूप में कोई सुनना नहीं चाहता, इसी से लोग किसी की मृत्यु सूचित करने के लिये कहा करते हैं "अमुक का वैकुंठवास

हो गया, अमुक परमपद को प्राप्त हो गए" आदि। तात्पर्य वही है; पर जहाँ पहले कथन में मृतात्मा की मृत्यु पीड़ा कर रही है, वहाँ दूसरे कथन से मरना कोई दुःखद व्यापार नहीं ज्ञात होता। ऐसा प्रतीत होता है कि मृतव्यक्ति किसी अपने अभीष्ट लोक को गया है। इनके अतिरिक्त अपना चातुर्य प्रदर्शित करने की प्रवृत्ति भी कथन में अलंकारता लाने का एक कारण है। अतएव इन सब कारणों से मानव-जीवन का अलंकारों से अभिन्न सम्बन्ध हो गया है। मनुष्य का वाह्य और अंतर्जीवन अलंकारमय है। मनुष्य कुरूप ही क्यों न हो, उसके पास रत्नजटित स्वर्ण-रजत के आभूषण भी न हों; पर अपने को सुसज्जित करने की स्वाभाविक प्रवृत्ति उसमें भी पाई जाती है। बहुधा ग्रामीण बालक रंगीन कागज को देखते ही उस पर टूट पड़ते हैं और जैसा कुछ उनसे बन पड़ता है काट छाँट कर अपने और अपने साथियों के मुँह में थूक से चिपका लेते हैं, जब बच्चों में ऐसी बान पाई जाती है तो बड़े-बूढ़ों की क्या बात ? और फिर रूपवान व्यक्ति में यह प्रवृत्ति हो तो आश्चर्य ही क्या ? वीतराग संन्यासियों और संतों को भी इस प्रवृत्ति ने अछूता नहीं छोड़ा, परब्रह्म परमात्मा के ध्यान के लिये नाना प्रकार की क्रियाएँ अलंकारता नहीं तो क्या हैं ? सच पूछा जाय तो मानव-जीवन ही अलंकार है। सृष्टि का निर्माण ही अलंकार का पोषक है।

जब साधारण मनुष्य बोलचाल को भी चमत्कारक ढंग से कहने का प्रयत्न करता है तब सृष्टि के रत्न कवि की कविता में भी यदि अलंकारत्व आजाय तो उचित ही है। रमणीय उक्ति का नाम ही कविता है।* हम रमणीयता को कविता से भिन्न नहीं कर सकते। रमणीयता के अभाव में कविता और साधारण वाक्य में कोई अंतर ही नहीं रह जाता। यह रमणीयता ही अलंकारता है।

*रमणीयार्थ प्रतिपादिकः शब्दः काव्यम्।—पंडितराज जगन्नाथ।

इसीलिये कवि नग्न-सत्य कभी नहीं कहता। सीधी सादी बात में भी कुछ न कुछ रमणीयता लाता ही है। सुतरां अलंकार के बिना कविता हो नहीं सकती—चाहे कवि ने उसका प्रयोग जानकर किया हो अथवा बेजाने।

जब अलंकार-शास्त्र की उत्पत्ति भी नहीं हुई थी, अलंकारों का कोई नाम भी निश्चित नहीं था, तब भी कविता होती थी और कविता के सहज-गुण अलंकार उनमें भी विद्यमान रहते थे। कौन कह सकता है कि आदि कवि वाल्मीकि जी ने अलंकार-शास्त्र पढ़ा था (क्योंकि उस समय तक इसकी उत्पत्ति* ही नहीं हुई थी) अतः उनके कवित्व में अलंकारत्व नहीं है? उनका समस्त काव्य एक नहीं अनेक अलंकारों से समाकीर्ण है। सच्ची बात तो यह है कि अलंकार, व्याकरणादि कविता और भाषा में पहले नहीं बनते। भाषा की स्थिरता के पश्चात् इनका निर्माण होता है। फिर भी अलंकारहीन कविता या व्याकरण-हीन भाषा कोई कविता या भाषा नहीं; क्योंकि भाषा की अस्थिरता साहित्य के गौरव की बात नहीं है।

अलंकार का प्रयोजन कविता में माथा खरोच खरोच कर कपोल-कल्पनाओं का ठूंसना नहीं है। वैसी दशा में कविता "कविता" नहीं रह जाती और न यह "अलंकार" की परिभाषा ही है। कविता के सौंदर्य का नाम अलंकार है। हम बाहरी आभूषणों को अलंकार नहीं मान सकते, किसी कुरूप व्यक्ति को रत्नजटित गहनों से लाद ही क्यों न दिया जाय उसमें सौंदर्य आ नहीं सकता, क्योंकि उसमें स्वाभाविकता का अभाव है। अस्वाभाविकता—कृत्रिमता—में सच्चा सौंदर्य कहाँ? इसके विपरीत सहज-लावण्य-संपन्न व्यक्ति के शरीर में फटे

*अलंकार-शास्त्र का वर्णन पहले-पहल महर्षि द्वैपायन-व्यास रचित अग्नि-पुराण में पाया जाता है। जो महामुनि वाल्मीकि से बहुत पीछे हुए हैं।

चिथड़े भी शोभा देते हैं। इसीसे कवि-कुल-कुमुद-कलाधर कालिदास ने कहा है—

"किमिव हि मधुराणां मंडनं नाकृतीनाम्"

हारादि भूषण—यदि उचित मात्रा में हों—तो केवल सौंदर्य के उत्कर्ष-पोषक हैं। वास्तविक अलंकार काव्य का सौंदर्य ही है*। काव्य के लिये "सत्यं शिवं सुन्दरम्" ये तीनों गुण अपेक्षित हैं। अलंकार की इस व्यापक परिभाषा के अनुसार जहाँ "अलंकारा एव काव्ये प्रधानाः" कहा गया है वहाँ सुन्दरता से ही अभिप्राय है। इस सिद्धांत के अनुसार आजकल के अलंकार-विरोधी कवियों की कविता भी—यदि वे उसे वास्तव में कविता मानते हैं तो—अलंकारों से बच नहीं सकती। अन्यथा "अलंकारत्व" के अभाव में उनमें कवित्व ही नहीं माना जा सकता। अब रहे 'उपमा' 'अनुप्रास' आदि। ये अलङ्कार से भिन्न नहीं हैं। सौंदर्य का एक रूप नहीं होता, वस्तुभेद से सौंदर्य नाना प्रकार के हो सकते हैं। उपमानुप्रासादि उसी विविध प्रकार के सौंदर्य के भिन्न भिन्न नाम हैं जो स्वयं सौंदर्य हैं उनको "काव्य-शोभा-कर"† कहना ठीक नहीं। हमें तो "हारादि वदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः" यह उक्ति भी समीचीन नहीं जान पड़ती। हारादिअलङ्कार मूर्तिमान् पदार्थ हैं, पर अनुप्रासादि अमूर्त। वे 'हारादिवत्' कविता से भिन्न नहीं वरन् सौंदर्यवत् अभिन्न हैं।

आजकल अलंकार-शास्त्र का बहुत संकुचित अर्थ लिया जाता है। इसका परिणाम यह हो रहा है कि एक ओर तो प्रतिभाहीन कवि अपनी यथार्थ सौंदर्य-विहीन कविता को निरर्थक अलंकारों से लाद कर कविता का गला घोंट रहे हैं और दूसरी ओर कतिपय नव्यमतवादी अलंकारों को व्यर्थ बताते हैं।

*सौंदर्यमलंकारः।—आचार्य वामन।

†काव्यशोभाकरान्धर्मानलंकारान्प्रचलते।—दंडी

हमारी समझ में दोनों प्रकार कवि-जन ज्यादती पर हैं। प्रतिभाशील कवि को कविता में अलंकारता लाने का प्रयत्न ही नहीं करना पड़ता। भावों के उत्कर्ष की व्यञ्जना के लिये अथवा भाव, दृश्य, गुण या व्यापार को स्पष्ट करने के लिये जहाँ जिस अलंकार की आवश्यकता पड़ती है वह स्वयं आ जाता है, माथा-पच्ची की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। इसी कारण हम देखते हैं कि अलंकार-शास्त्र के लिये उदाहरण-स्वरूप गढ़े हुए छंदों में वैसा चमत्कार नहीं बोध होता जैसा काव्य-ग्रंथ में आए हुए एक स्वाभाविक छंद में प्रतीत होता है। सोच कर लिखे गए—या गढ़े गए—छंदों में कृत्रिमता आ जाती है। अस्वाभाविकता हृदय को खटकने वाली है, ऐसे छंद अलङ्कार-शास्त्र में गिनाए हुए अलंकारों के लक्षणों में किसी के अंतर्गत भले ही हो जायँ पर वस्तुतः अलंकार के उपयोग का तात्पर्य यह नहीं है। अलङ्कार-चमत्कार सहृदय-संवेद्य है।

जैसा कहा जा चुका है अलंकार-शास्त्र के निर्माण के पूर्व भी कविता होती थी। उसमें भी अलंकार होते थे। पर आजकल की तरह उनका नामकरण नहीं हुआ था। पीछे विद्वानों ने काव्यों से सुन्दर सुन्दर उक्तियाँ चुनकर उनके लक्षण बनाये और उनको भिन्न भिन्न नाम दिए। आरम्भ में अलंकारों की संख्या बहुत थोड़ी रही होगी। ज्यों ज्यों काव्यशास्त्र ने उन्नति की त्यों त्यों नई नई चमत्कारिणी युक्तियाँ ढूँढी गईं और उनके भी लक्ष्य-लक्षण बने। इस प्रकार अलंकारों की संख्या बढ़ती गई। यही कारण है कि आलंकारिकों में इनकी संख्या के सम्बन्ध में बहुत मतभेद है। कौन कह सकता है कि काव्यों को सभी सुन्दर स्थल खोज डाले गए हैं? और लक्ष्य-लक्षण बन चुके हैं? कभी कभी जब किसी किसी पद्य का अलंकार निश्चय किया जाता है तो बड़ी उलझन का सामना करना पड़ता है। समस्त अलंकारों के लक्षणों

उसका मिलान करने पर भी यह निर्णय नहीं होता कि इसको कौन सा अलंकार माना जाय। विवश हो किसी न किसी अलङ्कार में उसका अंतर्भाव करना पड़ता है। पर इससे मनस्तुष्टि नहीं होती। निर्णीत अलङ्कार से उसमें कुछ न कुछ न्यूनाधिक विशेषता रही जाती है। किन्तु हम उस अलङ्कार का कोई नामकरण नहीं कर सकते। अस्तु, अलङ्कारों की संख्या चाहे कितनी हो हम उन्हें कुछ मुख्य अलङ्कारों का विस्तरीकृतरूप ही मानते हैं।

कभी हमें किसी वस्तु को स्पष्ट करने के लिये उसी के समान रूप आकृति या गुण वाली अन्य वस्तु को सामने लाना पड़ता है, कभी उसके ठीक विरोधी पदार्थों द्वारा उसका यथार्थ ज्ञान कराना होता है, कभी किसी व्यापार या कार्य का प्रभाव बतलाने के लिये उसके कारण कार्य को खूब बढ़ा चढ़ा कर कहा जाता है इस प्रकार अलङ्कारों के (१) समता-विषमता-सूचक, (२) रंग-आकृति-सूचक, (३) गुण-अगुण-सूचक, (४) कारण-कार्य-सूचक इत्यादि प्रधान भाग किए जा सकते हैं। उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विरोधाभास, व्याघात इत्यादि अनेक अलङ्कार प्रथम श्रेणी के अंतर्गत आ जाते हैं। तद्गुण, अतद्गुण मीलित, उन्मीलित, सामान्य, विशेषक आदि कई अलङ्कारों का अंतर्भाव द्वितीय श्रेणी में हो जाता है। तीसरी श्रेणी में उल्लास, अवज्ञा, अनुज्ञा, तिरस्कार, लेश आदि अलङ्कार आते हैं। अप्रस्तुत-प्रशंसा, विभावना, असंगति, कारणमाला, काव्यलिंग, हेतु आदि अलङ्कारों का समावेश कारण-कार्य-सूचक अलङ्कारों में किया जा सकता है। अनेक अलङ्कार ऐसे भी हैं जिनसे केवल कवि का पांडित्य या चातुर्य ही लक्षित होता है, चमत्कार विशेष नहीं प्रतीत होता। उदाहरणार्थ अर्थालङ्कारों में मुद्रा, चित्रोत्तर आदि को अथवा शब्दालङ्कारों में दृष्टिकूटक चित्र आदि अलङ्कारों को ही लीजिए, इनमें व्यर्थ की माथापच्ची के अतिरिक्त और है ही क्या? कई अलंकार ऐसे

भी हैं जो बिलकुल अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं, असम्भव जान पड़ते हैं। पर उनकी असम्भवता चमत्कारमात्र की बोधिनी नहीं होती किन्तु भावों, दृश्यों या गुणों का उत्कर्ष भी व्यञ्जित करती है। "उत्प्रेक्षा" को ही लीजिए, इसमें केवल कपोल-कल्पना के और कुछ नहीं होता। पर अद्भुत सादृश्य के द्वारा हम वर्ण्य-वस्तु के रूप की कल्पना अपने मन में सहज ही कर सकते हैं। यही इस अलंकार का मुख्य उद्देश्य है। देखिए—

लता-भवन ते प्रगट भे, तेहि अवसर दोउ भाइ।
निकसे जनु जुग विमल विधु, जलद पटल विलगाइ॥

यहाँ दो चन्द्रों का होना असम्भव है। पर राम-लक्ष्मण की तत्कालीन शोभा पाठकों को हृदयंगम कराने के अभिप्राय से कवि ने क्या ही अनोखी कल्पना की है। इसी प्रकार "अत्यंतातिशयोक्ति" को लिजिए। प्रकृति का यह नियम है कि पहले कारण होता है तब कार्य। कारण के पश्चात् कार्य में कुछ न कुछ विलम्ब—चाहे पल भर का ही क्यों न हो—लग ही जाता है। पर कारण से पहले कार्य का होना तो असम्भव ही है। किन्तु "अत्यंताति-शयोक्ति" में कारण पीछे होता है पर कार्य पहले ही हो जाता है। जैसे—

हनूमान की पूँछ में, लगन न पाई आगि।
लङ्का सिगरी जरि गई, गए निसाचर भागि॥

इससे यह न समझना चाहिए कि वास्तव में कवि का तात्पर्य ऐसा ही था। यहाँ तो कार्य की शीघ्रता व्यंजित करना ही कवि का अभिप्रेत है। साधारण बोलचाल में भी लोगों को कहते हुए सुना जाता है कि "इतनी जल्दी आओ कि मानों तुम गये ही नहीं।" इसी प्रकार और भी अनेक अलंकार हैं। अस्तु, अब हम प्रस्तुत-विषय "अन्योक्ति" अलंकार के प्रसंग में आते हैं।

# २—अन्योक्ति

जिस प्रकार सादृश्य-सूचन के लिये "उपमा-मूलक" अलङ्कारों की सृष्टि हुई है उसी प्रकार "किसी दूसरे को बुरा न लगे" इस अभिप्राय से "व्यंग्य मूलक" अलङ्कारों का आविर्भाव हुआ है। इन "व्ययंग-मूलक" अलङ्कारों में निम्नलिखित अलङ्कारों का समावेश हो सकता है—

( १ ) अप्रस्तुत-प्रशंसा और उसके वक्ष्यमाण पाँचों प्रकार, ( २ ) प्रस्तुतांकुर, ( ३ ) समासोक्ति, ( ४ ) पर्यायोक्ति, ( ५ ) गूढ़ोक्ति, ( ६ ) काकुवक्रोक्ति, ( ७ ) व्याज आदि। प्रस्तुत "अन्योक्ति" अलङ्कार "अप्रस्तुत-प्रशंसा" का पाँचवाँ भेद है। अब हम उक्त अलङ्कारों को सोदाहरण समझाने का प्रयत्न करेंगे।

## ( १ ) अप्रस्तुत-प्रशंसा

जिस विषय का वर्णन करना अभीष्ट हो उसे "प्रस्तुत" कहते हैं, और इच्छित अर्थ के अतिरिक्त जो दूसरा कथन स्वयं भान होने लगता है उसे "अप्रस्तुत" कहते हैं। जहाँ 'प्रस्तुत' विषय को स्पष्ट शब्दों में न कह कर इस ढंग से कहें कि बात कोई दूसरी ही जान पड़े पर उससे वास्तविक बात—प्रस्तुत—लक्षित हो जाय वहाँ "अप्रस्तुत-प्रशंसा" अलङ्कार होता है। इसके पाँच भेद होते हैं—

( १ ) कार्य-निबंधना, ( २ ) कारण-निबंधना, ( ३ ) सामान्य-निबन्धना, ( ४ ) विशेष-निबन्धना और ( ५ ) सारूप्य-निबन्धना या "अन्योक्ति"।

### कार्य-निबन्धना

जहाँ कहना तो हो कारण पर उसे सीधे शब्दों में न कह कर उसके कार्य का कथन करके कारण जताया जाय। जैसे—

सरमैं लगे है अवसर मैं समुझि यह,

सूकर विहार करैं अहो ! तिहि सर मैं ॥

यहाँ कवि का अभिप्राय तालाब की दुर्दशा सूचित करने से है जिसको "उसे देख कर शर्माने लगना" उसके इस परिणाम ( कार्य ) के द्वारा स्पष्ट किया है ।

## कारण-निबंधना

कार्य-निबन्धना के ठीक विपरीत जहाँ इष्ट तो कार्य-कथन हो, पर कहा जाय उसका कारण । जैसे—

बरनै दीनदयाल, कहा षटपद ये करमैं ।

हैं पग पसु तें ड्योढ़, रमैं तातें सेमर मैं ॥

यहाँ कहना तो है कि "तू पशुओं से भी अधिक मूर्ख है" । पर ऐसा सीधे शब्दों में न कह कर कहा जाता है कि "तेरे पैर भी तो पशुओं से ड्योढ़े हैं ।

## सामान्य-निबन्धना

जो सिद्धान्त 'व्यापक' हो उसे "सामान्य" कहते हैं, और जो सीमित हो उसे "विशेष" । जहाँ किसी 'सामान्य' बात के द्वारा कोई 'विशेष' तात्पर्य प्रकट किया जाय वहाँ "सामान्य-निबन्धना" होती है । जैसे—

बरनै दीनदयाल होत नहिं कछु रूपन तें ।

छुटै न बंस सुभाव पाय आदर भूपन तें ॥

यहाँ एक सामान्य सिद्धान्त यह कहा गया है कि बड़े लोगों से संमानित होने पर भी कोई अपने वंश-परंपरागत दुःस्वभाव को नहीं छोड़ सकता । इस 'सामान्य कथन' द्वारा किसी ऐसे 'विशेष' पुरुष के प्रति उपालंभ है जो राज-संमान प्राप्त करने पर भी अपनी कुप्रवृत्तियों को नहीं छोड़ता ।

विशेष-निबन्धना

जहाँ किसी 'विशेष' कथन द्वारा 'सामान्य' सिद्धान्त सूचित किया जाय, जैसे—

कोलाहल सुनि खगन के सरवर जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा दुरदिन दैहैं त्यागि ।।

यहाँ तालाब और पक्षियों का वर्णन प्रस्तुत है। इस विशेष कथन द्वारा धनवानों को सावधान करने के लिये यह शिक्षा दी गई है कि "स्वार्थियों की चापलूसी सुनकर मत इतराओ, ये तुम्हारी विपत्ति के समय तुम्हारा साथ छोड़ देंगे"।

सारूप्य-निबन्धना या अन्योक्ति

प्रस्तुत के समान ही—ठीक मिलते जुलते—किसी अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत का कथन हो। जैसे—

गरजै बातन तें कहा धिक नीरधि गम्भीर।
विकल विलोकैं कूप-पथ तृषावंत तो तीर ।।

अपने धन पर इतराने वाला कोई कृपण प्रस्तुत-विषय है। पर उससे स्पष्ट न कह कर उसी के समानधर्मी समुद्र के प्रति लक्ष्य करके उसे ही यह बात सुनाई गई है। इसी अलंकार का नामान्तर "अन्योक्ति" भी है। यद्यपि इसके शब्दार्थ से ही इसकी परिभाषा स्पष्ट है तथापि हम इसी स्तंभ में इसका विशेष विश्लेषण करेंगे।

## ( २ ) प्रस्तुतांकुर*

जहाँ प्रस्तुत से अंकुरवत् एक दूसरा प्रस्तुत निकले वहाँ प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है; अर्थात् जब कोई बात इस प्रकार कही जाय कि उसके

* हमारे विचार से जड़ पदार्थों के प्रति किसी प्रकार के कथन से प्रस्तुतांकुर अलंकार नहीं हो जाता। किसी व्यक्ति विशेष से कोई बात कहते समय

द्वारा जिसके प्रति कही जाय और जिसपर व्यंग्य हो दोनों को लाभ पहुँचे। कहनेवाले का तात्पर्य ( प्रस्तुत ) दोनों से कथन करने को होता है। एक से तो प्रत्यक्ष कहता है और दूसरे को सुनाता है। प्रस्तुत कथन एक के लिये होता है और वह अंकुरवत् निकली हुई प्रस्तुत बात दूसरे के लिये।

## (३) समासोक्ति

यह अलंकार अप्रस्तुत—प्रशंसा के ठीक विपरीत है। जब किसी कथन में प्रस्तुत—कवि-इच्छित अर्थ—के अतिरिक्त शब्दों की गम्भीर गठन के कारण कोई दूसरा अर्थ ( अप्रस्तुत ) भी प्रतीत होता है तब "समासोक्ति" अलंकार होता है। "समासोक्ति" का अर्थ "संक्षेप में कथन" ( समास+उक्ति ) है। एक ही बात से दो अर्थ प्रकट करना संक्षेप—समास—उक्ति नहीं तो और क्या हो सकता है ? ऐसे कथन में श्लिष्ट द्व्यर्थक—शब्दों का आना अनिवार्य तो नहीं है, पर बहुधा अनायास ही आ जाते हैं। उदाहरण—

क—अश्लिष्ट-शब्द-समासोक्ति

आवत ही हेमंत तब, कंपन लगो जहान।
कोक कोकनद भे दुखी, अहित भये जगप्रान ॥

---

यदि दूसरा भी लाभ उठाये तो इस प्रकार की बातों में प्रस्तुतांकुर होना संभव है। जड़ पदार्थ उससे भला क्या लाभ उठावेगा। हाँ यह बात किसी पालतू पक्षी या पशु से कहने पर शायद दोनों को लाभ दायकप्रतीत हो। जैसे कोई अपने कुत्ते से कहे कि 'आजकल मोती तुम हमारा कहना नहीं करते जब तुम्हें बुलाता हूँ तो नहीं आते, यह तुम्हारे लिए बुरा है', और इसका लक्ष्य उसका भी पुत्र हो तो ऐसे स्थान में प्रस्तुतांकुर हो सकेगा।

इसमें हेमंत का वर्णन करना ही कवि को अभीष्ट है; साथ ही "दुर्जन-निंदा" भी इससे भासित होती है। यहाँ श्लिष्ट शब्द नहीं आए हैं।

ख—श्लिष्ट-शब्द-समासोक्ति

पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहिं।
चपलाजुत घनश्याम नित बिहरत हैं तव माहिं॥
बिहरत हैं तव माहिं नील-कंठहु सुखदाई।
अंबर देत सुहाइ द्विजन की करत सहाई॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तो सुखमा बस।
एकै हंस उदास रहे कहे हे पावस॥

यहाँ वर्षा-वर्णन प्रस्तुत है और एक अप्रस्तुत अर्थ ऐसे धनी व्यक्ति पर भी घटित होता है जो सबका उपकार करता है, विष्णु और शिव में अभेद समझ कर दोनों की उपासना समान रूप से करता है; किन्तु कोई गुणी उससे सहायता न मिलने के कारण निराश है। यहाँ "चपलाजुत घनश्याम", "नील-कंठ", "अंबर" और "द्विज" शब्द श्लिष्ट हैं।

## (४) पर्यायोक्ति

"पर्यायोक्ति" अलंकार दो प्रकार का होता है—

(क) कोई बात स्पष्ट शब्दों में न कह कर उसे कुछ घुमा फिरा कर कहने से "प्रथम पर्यायोक्ति" अलंकार होता है। जैसे—

सीता हरन पिता सन कह्यौ तात जनि जाय।
जो मैं राम तो कुल सहित कहिहि दसानन आय॥

इसमें राम जी ने यह न कहा कि मैं रावण को मरूँगा, पर वही बात घुमा कर कही गई है।

( ख ) जहाँ किसी विशेष इच्छित कार्य-साधन के लिये कोई युक्ति-युक्त क्रिया की जाती है; किसी बहाने अभीष्ट कार्य की सिद्धि की जाती है वहाँ "दूसरी पर्यायोक्ति" होती है। जैसे—

पूस मास सुनि सखिन सन साईं चलत सवार।
लै कर बीन प्रबीन तिय गायो राग मलार॥

## ( ५ ) गूढ़ोक्ति

जहाँ किसी दूसरे को कोई विशेष सूचना देने के लिये किसी अन्य प्रति कोई बात कही जाय जिससे वह सुन ले और गूढ़ ( छिपे हुए ) अभिप्राय को समझ जाय। जैसे—

हे हरिना अब भागु द्रुत बारी करु न बिहार।
या बारी को देखियत आवत राखनहार॥

"प्रस्तुतांकुर" में कहनेवाले का तात्पर्य उससे होता है जिसके प्रति बात कही जाय। सुननेवाला भी लाभ उठा ले तो 'अयं विशेषः' है नहीं तो कोई आग्रह नहीं, "गूढ़ोक्ति" में कहनेवाले का मुख्य अभिप्राय सुननेवाले से होता है। जिसके प्रति बात कही जाती है उससे नहीं। 'प्रस्तुतांकुर' मुख्यतः उपालंभ वर्णन के लिये है और यह अलंकार सूचनार्थ।

## ( ६ ) काकू—वक्रोक्ति

'काकु' शब्द का अर्थ 'कंठध्वनि है। जहाँ श्रोता शब्द के उच्चारण की विशेषता से वक्ता के कथन का दूसरा ही अर्थ कल्पित करे वहाँ "काकुवक्रोक्ति" अलंकार होता है। जैसे—

मैं सुकुमारि नाथ बन जोगू।
तुमहिं उचित तप मोकहँ भोगू॥

## ( ७ ) व्याज

जहाँ किसी बहाने से किसी व्यक्ति की स्तुति या निन्दा की जाय वहाँ 'व्याज' अलंकार होता है। इसके दो भेद होते हैं ( क ) व्याजस्तुति और ( ख ) व्याजनिन्दा।

### ( क ) व्याजस्तुति

जहाँ किसी की प्रशंसा ऐसे शब्दों में की जाय कि देखने में निन्दा सी जान पड़े अथवा प्रस्तुत व्यक्ति की प्रशंसा करने के लिये किसी दूसरे व्यक्ति की प्रशंसा की जाय उसे "व्याजस्तुति" अलंकार कहते हैं, जैसे—

सुरधुनि बंकित किमि चलै चकित सुकवि इहि हेत।
अहो होति लज्जित नहीं खलन ईस पद देत॥
खलन ईस पद देत नहीं परिनाम विचारे।
बाँधे गहि लै जटा न वे उपकार निहारे॥
बरनै दीनदयाल परी सब तो सिर पै सुनि।
करी अकरनी जौन भोग ताको री सुरधुनि॥

यहाँ प्रत्यक्ष में गंगा जी की निन्दा की गई है कि 'तुम पापियों को भी ईश पद देते हुए लज्जित नहीं होती" पर इसी बहाने गंगा जी की स्तुति की गई है कि "तुम पापियों को भी सद्गति देती हो"।

"व्याजस्तुति" का ठीक विरोधी अलंकार "व्याजनिन्दा" है।

उक्त सभी अलंकार 'व्यंग्यात्मक' हैं और प्रायः सभी में प्रस्तुत अप्रस्तुत का भाव आया है। ये अलकार प्रायः अन्योक्ति के अत्यन्त सन्निहित हैं, पर "व्यंग्य प्रधान' अलंकारों की यहीं पर इतिश्री नहीं हो जाती। अर्थांतरन्यास, काव्यलिंग, रूपकातिशयोक्ति, गूढ़ोत्तर ललित, व्याजोक्ति, आक्षेप आदि और भी अनेक अलंकार ऐसे हैं जिनमें व्यंग्य का आभास रहता ही है।

कुछ अलंकार ऐसे भी हैं जो 'अन्योक्ति' के प्रसंग में स्वतः आ ही जाते हैं। उनके लिये कुछ चेष्टा नहीं करनी पड़ती। सब में मुख्य "श्लेष"* अलंकार है। दीनदयाल जी की कई अन्योक्तियाँ "श्लेष"-गर्भित हैं। जैसे—

गुन को गहि यहि खेत में नमैं सुबंसज दोय।
कुसितन जीवन देत हैं पीछे गुरुता होय॥
पीछे गुरुता होय कूपतें आदर पावैं।
ऊँच कहैं सब कोय अमृत घट पुन्य सुहावैं॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिये जग उनको।
सहि दुख सुख दें सबै सरल अति हैं गहि गुन को॥

उक्त अलंकारों के अतिरिक्त और भी कतिपय अलंकार हैं जिनका प्रयोग कवि ने प्रस्तुत ग्रन्थ में स्वेच्छा-पूर्वक किया है।

## १—रूपक

उपमेय और उपमान का एकीकरण ही रूपक है। जैसे—

छल वंचक हीन चले पथ याहि "प्रतीति-सुसंबल" चाहनो है।
तहँ 'संकट-वायु' 'वियोग-लुवैं' दिल को 'दुख-दाव' में दाहनो है॥
"नद-सोक" "विषाद-कुग्राह" ग्रसैं कर धीरहि तें अवगाहनो है।
हित दीनदयाल महा मृदु है कठिनो अति अन्त निबाहनो है॥

यहाँ "प्रेम-पथ" की कठिनाइयों का वर्णन करते हुए "प्रतीति-सुसंबल", "सङ्कट वायु" आदि कई रूपकों द्वारा क्या ही सुन्दर "समस्त-वस्तु-विषयक सांग-रूपक" कहा गया है।

---

* एक ही शब्द के जहाँ दो से अधिक अर्थ होते हैं वहाँ "श्लेष" होता है।

## २—रूपकातिशयोक्ति

यह अलंकार "अतिशयोक्ति"* का एक भेद है। जहाँ केवल उपमानों का कथन होता है और उपमेय व्यंग्य से स्वयं समझा जाता है वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे—

देखो पथी अचम्भ यह जमुना तट धरि ध्यान।
महि में बिहरैं कंज द्वै करैं मंजु अलि गान॥
करैं मंजु अलि गान नील खम्भा तहँ दो पर।
पिक धुनि दामिनि बीच तहाँ सर हँस मनोहर॥
बरनै दीनदयाल संख पै सोम विसेखो।
ता ऊपर अहितनै ताहि पर बरही देखो॥

इसमें 'अन्योक्ति' तो कुछ भी नहीं केवल "रूपकातिशयोक्ति" के द्वारा श्रीकृष्ण का 'नख-शिख' वर्णन है। 'पथी' शब्द से किसी जन को ध्यान का उपदेश मात्र है। इसी को चाहे 'अन्योक्ति' कह लीजिये। 'रूपकातिशयोक्ति' के प्रयोग में भी दीनदयाल जी ने कमाल किया है। इसकी अंतिम चार उक्तियों से कवि का चातुर्य स्पष्ट है। दीनदयाल जी संन्यासी थे। वैराग्य उनकी नस-नस में कूट-कूट कर भरा था। पर कवि होने के कारण रसिकता छोड़ नहीं सके, नारी-निन्दा भी खुले शब्दों में कर सकते थे। किन्तु सँभलकर अलंकारों का आश्रय लेकर अपने पद के अनुसार स्त्री पर आसक्त न होने का सुन्दर और उपकारी उपदेश दे ही डाला। ऐसी ही कविताओं से कवि की प्रकृति, उसकी चातुरी और अलंकार-शास्त्र की उपयोगिता समझी जा सकती है।

---

* जहाँ किसी की अत्यंत सराहना करनी होती है वहाँ "अतिशयोक्ति" ( Hyperbole ) अलंकार होता है।

## ३—अर्थांतरन्यास

जहाँ कथित वाक्य का समर्थन किसी सिद्धांत-वाक्य द्वारा किया जाय वहाँ यह अलंकार होता है। जैसे—

कीजै गमन सुमानसर यह दुखदायक ताल।
हंस बंस अवतंस हौ मौन गहो इहि काल।
मौन गहो इहि काल काक बक खल या ठावैं।
अति कठोर बरजोर सोर चहुँ ओर मचावैं॥
बरनै दीनदयाल इनै तजि सुख सों जीजै।
सठ संगति अतिभीति भूलि तहँ गमन न कीजै॥

यहाँ हंस की सामान्य घटना से एक विशेष सिद्धान्त यह निकालते हैं कि "शठ-संगति बड़ी भयानक होती है।"

## ४—सूक्ष्म

जहाँ कोई बात इस प्रकार संकेतों द्वारा सूचित की जाय कि जिससे कहना अभीष्ट है उसके अतिरिक्त और कोई न समझ सके। इसके लिये यह आवश्यक है कि कहने और समझने वाले दोनों में इशारे बँधे रहें। दलालों में इस अलंकार का प्रयोग बहुत होता है। उनके कुछ संकेत ऐसे होते हैं कि उनके अतिरिक्त कोई नहीं समझ सकता। प्रायः भिन्न व्यवसायियों में भिन्न भिन्न संकेत रहते हैं। जासूसी-विभाग के कर्मचारियों का तो इस प्रकार के संकेतों के बिना कोई काम ही नहीं चल सकता। लड़ाई के समय झंडियों द्वारा बातचीत करने में भी एक प्रकार से सूक्ष्म अलंकार का ही प्रयोग है, दीनदयाल जी का भी दृष्टान्त देख लीजिये—

कासों हनिए कोप को कापै पैए ज्ञान।
गुरु मौन मै नहिं कह्यो छिति छ्वैकै धरिकान॥

छिति छ्वैकै धरि कान दसन रबि फेरि लखाए।
देखि केस की ओर सुनैन कपाट लगाए॥
बरनै दीनदयाल सिख्य गुरु की करुना सों।
समुझि लई सब सैन बैन तिन कह्यो न कासों॥

इसका विश्लेषण यथास्थान टीका में किया जा चुका है। यह अलंकार "क्रिया-विदग्धता" का अच्छा नमूना है।

## ६—मुद्रा

जहाँ प्रस्तुत अर्थ के कथन करने के लिये ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय, जिनसे कुछ ऐसे शब्द भी निकलें जिनकी एक जातीयता हो वहाँ "मुद्रा" अलंकार होता है। जैसे—

सो नाहीं नर सुघर है जो न भजै श्रीरंग।
पारावार अपार जग बूड़त भौंर कुसंग॥
बूड़त भौंर कुसंग ठौर तामहिं नहिं पावै।
सीसहु देत डुबाय भलो हाथहुँ न उठावै॥
बरनै दीनदयाल रूप हरि को तिहि माहीं।
ध्यान धरै दृढ़ नाव जानि बूड़त सो नाहीं॥

यहाँ शब्द-संगठन ऐसा विचित्र है कि प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त सोना, रांगा, पारा, संग, ताम्र, शीशा, लोहा, चाँदी आदि धातुओं के नाम भी आगये हैं।

दीनदयाल जी के ग्रन्थों में स्थान स्थान पर अनुप्रासादि शब्दालंकारों की भी कमी नहीं है। कहीं उनको अनुप्रास यमक आदि के लिए शब्दों को तोड़ना मरोड़ना भी पड़ा है। अस्तु, अब हम पुनः प्रस्तुत विषय "अन्योक्ति" पर लौटते हैं।

"अन्योक्ति" अलंकार जैसा कि हम कह चुके हैं "व्यंग्यात्मक" है। जिससे कोई बात कहनी हो सीधे उससे ही न कह कर दूसरे व्यक्ति को लक्ष्य कर वह बात उसे 'सुनाई' जाय, यही "अन्योक्ति" है। अब प्रश्न यह हो सकता है कि ऐसे द्राविड़-प्राणायाम की आवश्यकता ही क्या है। जिससे कहना हो उससे स्पष्ट शब्दों में कह दिया जाय तो यह मामला साफ हो जायगा। पर नहीं, यह बात नहीं है। स्पष्ट-वक्तव्य स्तुत्य तो अवश्य है, किन्तु सर्वत्र स्पष्ट-कथन का निर्वाह नहीं हो सकता। कई बातें ऐसी भी होती हैं जिनको लोग मुँह पर सुनना पसन्द नहीं करते। कम से कम अपने सामने अपनी निन्दा या अपने असत्कर्मों की आलोचना स्पष्ट शब्दों में सुनना कोई नहीं चाहता। अतएव ऐसे ही अवसरों के लिये 'अन्योक्ति' की सृष्टि हुई है। इस अलंकार द्वारा उपदेश या उपालम्भ बड़े ही सुन्दर ढग से दिया जा सकता है। किसी को बुरा लगने का मौका ही नहीं दिया जाता। देखिये—

कोलाहल सुनि खगन के जनि सरवर ! अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा दुरदिन दैहैं त्यागि॥
दुरदिन दैहैं त्यागि तोय तेरो जब जैहैं।
दूरहि तें तजि आस पास कोऊ नहिं ऐहैं॥
बरनै दीनदयाल तोहि मथि करिहैं काहल।
ये चल छल के मूल भूल मति सुनि कोलाहल॥

प्रायः यह देखा जाता है कि धनवानों को 'खुशामदी' लोग घेरे रहते हैं, और उनके द्वारा अपनी नीच वासनाएँ पूर्ण करके उनका सर्वस्व नष्ट कर उनको विपत्ति में छोड़ दूर हो जाते हैं। पर धन के मद के अन्धे धनिकों को तब तक यह नहीं सूझता जब तक उनको ठोकर नहीं लगती। किसी का समझाना भी उनको अच्छा नहीं लगता। समझना तो दूर रहा वे उलटे बिगड़

बैठते हैं। उक्त कुंडलिया में कवि ने सरोवर को लक्ष्य करके यही बात कही है। धनी व्यक्ति में कुछ समझ होगी तो वह अपना भला बुरा समझ कर सँभल जायगा और खुशामदियों की संगति छोड़ देगा। न समझेगा तो कम से कम यह कह कर अपमान तो नहीं कर सकेगा कि "हम अपने धन से चाहे कुछ करें आप का तो कुछ बनता बिगड़ता नहीं। हमें आपकी शिक्षा नहीं चाहिए।" इत्यादि। यही नहीं ऐसे कथन द्वारा उपदेष्टा अदालती कार्रवाइयों से भी साफ बच सकता है। वह कह सकता है कि हमने आपसे नहीं कहा। हम तो तालाब या पक्षी या पशु से कहते थे।

---

## ३—अध्यात्मवाद

संसार के समस्त प्राणियों में मनुष्य अपने आत्मज्ञान के ही कारण सर्वोच्च समझा जाता है। इस कारण मनुष्य में आत्मज्ञान प्राप्त करने की भावना का उदय ही उसके लिये श्रेयस्कर है। वरन् मानव जीवन का उद्देश्य ही आत्मज्ञान की प्राप्ति कहा जा सकता है। कितने प्राचीन दर्शनाचार्यों ने इसी सिद्धांत का प्रतिपादन किया भी है। सुतरां यदि मानव-जीवन आत्मवाद का विशेष रूप से समर्थक हो तो आश्चर्य की बात नहीं। फिर जिनकी आंतरिक भावनाएँ संसार के साधारण प्राणियों से कुछ विशेषता रखती हैं यदि ऐसे आनन्दी जीवों की रुचि आत्मवाद या अध्यात्मवाद की ओर हो तो और भी संगत है।

संसार में 'काव्यानन्द' और 'ब्रह्मानन्द' दो ही आनन्द आध्यात्मिक आनन्द माने गए हैं, अन्य आनन्द ( जिन्हें 'सुख' 'आराम' कहना चाहिए ) शारीरिक होने से उतना अधिक महत्व नहीं रखते। 'काव्यानन्द' ब्रह्मानन्द-सहोदर कहा गया है, इसीलिये जिनके हृदय में 'काव्यानन्द' का उद्रेक होता है 'ब्रह्मानन्द'

से भी उन्हें काम पड़ता है! कहने का अभिप्राय यह है कि 'काव्यानन्दी' 'ब्रह्मानन्दी' भी होता है। बिना 'ब्रह्मानन्दी' बने वह 'काव्यानन्द' का उतना अच्छा मजा नहीं ले सकता जितना उसे लेना चाहिए। यही कारण है कि चाहे कोई 'कवि' दार्शनिक भले ही न हो उसमें दार्शनिकता की गन्ध अवश्य ही रहती है। वरन् यह कहना चाहिए कि जिस कवि में इस प्रकार की दार्शनिकता की गन्ध नहीं आती उसका हृदय 'उदार' नहीं हो सकता और 'उदार' हृदय हुए बिना 'सत्कवि' की पदवी पाना कठिन ही समझिए। इस कथन की पुष्टि इस बात से भी हो सकती है कि संसार के सभी बड़े-बड़े कवि दार्शनिक हृदय के थे। इसलिये कविहृदय का अध्यात्मवाद से समवाय-संबध है।

अध्यात्मवाद के उदय के बारे में यही कहा जा सकता है कि यह मनुष्य को अपनी अल्पज्ञता के अनुभव होने का परिणाम है और शरीर की नश्वरता एवं शरीर में रहने वाले किसी अलक्ष्य की चैतन्यता इसकी विधायिका है। जिस ब्रह्मांड में मनुष्य रहता है वह अनन्त है उसका पूरा-पूरा पता कोई भी नहीं पा सका। ब्रह्मांड की बात जाने दीजिए, मनुष्य जिस पृथ्वी का निवासी है उस की संपूर्ण बातें उससे अज्ञात हैं। यही क्यों वही अपने शरीर के भीतर की बातों से भी अनभिज्ञ है, यद्यपि सदा उसके नेत्रों के समक्ष अपने कार्य-कलापों का नृत्य किया करता है। मनुष्य की इस अल्पज्ञता ने ही उसे अध्यात्मवाद की ओर बरबस झुका दिया है और अब त्रिकाल में भी यह अध्यात्मवाद मानव-जीवन से भिन्न नहीं किया जा सकता। पाश्चात्य देशों में इसकी चर्चा कम हो जाय तो हो जाय पर अध्यात्मवाद के अनुरागी आर्यावर्त्त से इसकी उपेक्षा की आशा करना आकाशकुसुमवत् असत्य है। उक्त मानवाल्पज्ञता ने पाश्चात्य देश के अनीश्वरवादी वैज्ञानिकों में भी जब ईश्वरवादिता की आस्था उत्पन्न कर दी, तब इस देश की आस्तिक आत्माएँ भला इसके विरुद्ध कब

हो सकती हैं ! आकाश के अनन्त आलोकमय तारामंडल तथा अन्य ग्रह आदि जब प्रत्यक्ष रूप से किसी शक्ति द्वारा संचालित न होते हुए भी परोक्ष रूप से किसी अज्ञेय, अजेय, अपरिमेय शक्ति द्वारा नियमपूर्वक संचालित होते आ रहे हैं तो भला संसार आस्तिकवादी और तदुपरांत अध्यात्मवादी क्यों न हो ?

आत्मा का सम्बन्ध किसी अलक्ष्य शक्ति से क्यों बताया जाता है ? इसका सीधा-साधा उत्तर तो यह है कि जिस प्रकार अखिल ब्रह्मांडों को नियमपूर्वक संचालित करनेवाली कोई शक्ति होते हुए भी संसारी के लिए अदृश्य है उसी प्रकार शरीर में चैतन्यता उत्पन्न करने वाली शक्ति होते हुए भी वह अदृष्ट है। अस्तु, अवश्य ही इन अलक्ष्य-युग्मों का कोई न कोई नाता होगा। संभव है प्राणी में निवास करने वाली छोटी अलक्ष्य-शक्ति का ही कोई न कोई अंश हो अधिकांश दार्शनिकों के मत से शरीर के भीतर बसने वाली अज्ञेया शक्तियाँ उस अतर्क्य शक्ति की अंशभूता हैं जो कल्पनासाध्य भी नहीं। पर वस्तुतः रहस्य क्या है ? इसका ठीक-ठीक उत्तर आज तक न किसी से बन पड़ा है और न भविष्य में ही बन पड़ने की आशा है । फिर भी मानव-समाज ने दार्शनिकों के मनन किए हुए इस सिद्धान्त को भलीभाँति ग्रहण कर लिया है कि प्राणी मात्र के अभ्यंतर में वास करने वाली अलक्ष्य-शक्ति ( जिसे 'आत्मा' कहते हैं ) किसी सर्वशक्ति संपन्न शक्ति—परमात्मा—की अंगभूता है और किसी विशेष कार्य के लिए उससे वियुक्त हो गई है। यही कारण है 'आत्मा' और 'परमात्मा' की अनोखी उक्तियाँ कवि कहा करते हैं। इसी का दूसरा नाम 'रहस्यवाद' भी है क्योंकि इस प्रकार रहस्य ( भेद ) की बातें कही जाती हैं। लोगों को संसार का रहस्य बताया या समझाया जाता है। यह 'रहस्य' इसी लिए है कि यह अज्ञेय है।

ईश्वर ( परमात्मा ) अनन्त है और संसारी सांत। इसलिए संसारी की यह स्वाभाविक प्रवृत्ति हो गई है कि वह अनन्त बने, यही नियम है, जब 'अनन्त' को "एकोऽहं बहुस्याम्" के अनुसार सांत होने की अभिलाषा हुई थी तो सांत में अनन्त बनने की वांछा उचित ही है। बस इसी अभिलाषा ने मानव-हृदय के चतुरवेत्ता कवियों में ईश्वर की ओर संसारी को ले जाने की प्रवृत्ति उत्पन्न कर दी है। जिन कवियों ने अनन्त की ओर संसारी को ले जाने का उद्योग नहीं किया वे संसार को उसके विनाश की ओर ले जा रहे हैं। यद्यपि सांत का अनन्त होना भी अपना अस्तित्व मिटा कर नष्ट होना ही है, पर यह 'लयता' शान्तिप्रद है, और वह 'नाश' विभीषिकापूर्ण। इसी लिए पहले का नाम 'निर्वाण' है और दूसरे का 'नाश'।

अध्यात्मवाद दार्शनिक विषय है इसलिए संसार की रसिकता के समक्ष यह 'वाद' रस-लोलुपों को नीरस लगता है। भला रागात्मक संसारी इन विराग भरी बातों में आनन्द कैसे पा सकता है। पर कवियों की करतूत से बेचारा अध्यात्मवाद भी 'सरस' बना दिया गया है। इसका कारण है कवि-हृदय की विशेषता। कवि सभी स्थानों में सौंदर्य का ही प्रत्यक्षीकरण करता है और शुष्क विषयों में भी सरसता उत्पन्न करता है। जिसमें यह शक्ति नहीं वह स्वाभाविक कवि नहीं है। बस इन आनन्दी जीवों ने अध्यात्मवाद में भी अपनी सरसता का रंग चढ़ा दिया है। अभिप्राय यह है कि सांसारिक बातों के वर्णनों द्वारा परोक्ष रूप से अध्यात्मवाद का व्यंग्य करके उसे मानव-हृदय-ग्राह्य कर दिया गया है। मनुष्य काव्य का, एवं सांसारिक बातों के वर्णन का मज़ा भी लेता है और पारलौकिक बातों को भी हृदयंगम करता है।

कवि यदि अपने कथन में दर्शन के स्थूल या सूक्ष्म विषयों का प्रतिपादन करने बैठे और उसमें किसी प्रकार की रोचकता न लावे तो स्वभावतः संसारी

की उससे अनिच्छा हो जायगी। वह कवि के वर्णनों को चाव से न पढ़ेगा, किन्तु सिद्धहस्त कवियों में यही तो कौशल होता है कि वे 'अपावन ठौर में भी कंचन' को ही ढूँढ़ निकालते हैं। इस प्रकार के वर्णनों में पारलौकिक विषयों का संनिवेश दो रूपों में मिलता है। एक तो वह जहाँ पर पारलौकिक विषय प्रस्तुत और कथित विषय अप्रस्तुत होता है और दूसरा वह जहाँ कथित विषय तो प्रस्तुत रहता है पर अप्रस्तुत रूप से पारलौकिक या अध्यात्मिक विषय की ओर भी संकेत होता है। एक तीसरी अवस्था की भी कष्ट कल्पना की जा सकती है। जहाँ दोनों में प्रस्तुत और अप्रस्तुत का निर्णय कर लेना संदेहात्मक हो। सच्चा अध्यात्मवाद तो पहले प्रकार में ही है। क्योंकि वैसी अवस्था में कवि का अभिप्रेत ही आध्यात्मिक विषय का व्यंग्य होता है।

आजकल के नवयुवकों ने इसी 'अध्यात्मवाद' का कल्पित और अशुद्ध नाम 'छायावाद' रख लिया है, जो अंग्रेज़ी के Mysticism या Mystic poetry का अनुवाद करने के प्रयत्न का परिणाम है। अंग्रेज़ी साहित्य में इसका उदय जल-यान-यात्रा में अथाह समुद्र के बीच किसी प्रदेश के गगन मण्डल में पड़ते हुए प्रतिबिंब के देखने से हुआ है। अनन्त सागर के मध्य से यह कल्पित छाया बड़ी मनोहर दिखती है। कवियों ने इसी प्रकार सांसारिक कविताओं में ईश्वरी छाया के भावों को गर्भित करके कविता को मनोहर बनाने का उद्योग करना आरम्भ किया और उसका नाम Mystic poetry रखा। पर अंग्रेज़ी साहित्य के विद्वानों को यह भाव बहुत पीछे सूझा और वह भी छाया ही धुँधला ( इंगलिश में Mist का अर्थ कोहरा—धुँधला—है )। भारत के लिये यह भाव बहुत प्राचीन है। आदि ग्रंथ वेद संसार की सबसे बड़ी पुस्तकें हैं। उनमें अध्यात्मवाद और काव्य दोनों का संमिश्रण है। संस्कृत के भक्त

कवियों ने भी इसका पल्ला पकड़ा है। पर प्राचीन अध्यात्मवाद छायावाद की भाँति ऊटपटांग नहीं है। जो मन में आवे बक देना और उसे छायावाद की कविता कह कर पुकारने लगना नितांत अनुचित है। आधुनिक हिन्दी-साहित्य के सभी छायावादी कवि हमारे इस कथन में नहीं आते। उनमें कुछ कवि वस्तुतः अध्यात्मवाद की कविता करते हैं। उनकी कविता में धाँधली नहीं मिलती, आत्मानुभूति के दर्शन होते हैं; किन्तु बहुत से नवयुवक ऐसे भी हैं जिनका दार्शनिक विषयों से कुछ भी संपर्क नहीं, जिनका अनुभव बहुत ही थोड़ा है और फिर भी वे अपनी कविता में इस प्रकार का कोई 'परलोकवादत्व' लाने की असफल चेष्टा करते हैं।

अध्यात्मवाद की कविता दो प्रकार के कवि कर सकते हैं। प्रथम वे जो स्वयं मन तन से अध्यात्मवादी हों और दूसरे वे जो अपने अनुभव के बल पर अध्यात्मवाद की कविता करने का साहस करें और अपने कवित्व के बल से उसमें सत्यांश ला सकें। आजकल प्रथम प्रकार का एक भी कवि देखने में नहीं आता। दूसरे प्रकार के ही अध्यात्मवादी विशेष हैं। यहाँ तक कि आधुनिक छायावादियों के आचार्य कविसम्राट् रवींद्रनाथ ठाकुर महोदय भी द्वितीय श्रेणी के ही अंतर्गत आते हैं। श्री रवींद्र बाबू मनसा वाचा कर्मणा सब प्रकार अध्यात्मवादी नहीं कहे जा सकते पर उनका अनुभव इतना प्रबल है कि वे अपनी आत्मानुभूति के बल पर अपने वचनों में अध्यात्मवाद की छाया ला सकते हैं जो मूल से सत्य न होने पर भी सत्य भासित होती है। नियमानुकूल तो वही कवि सच्चा अध्यात्मवादी कहा जा सकता है जो वाह्य और आभ्यंतर दोनों रूपों में अध्यात्मवादी हो, नहीं तो जिस सुग्गे ने 'अध्यात्मवाद' की बातें रट ली हैं वह भी उनकी आवृत्ति करते हुए अध्यात्मवादी कहा जा सकता है। गाँव के अपढ़ भी किसी की मृत्यु पर दूसरों को उपदेश देते फिरते हैं 'संसार असत्य

है' 'यहाँ कोई किसी का नहीं' 'हाथ पसारे आया है हाथ पसारे जायगा' आदि। तो ऐसे लक्षणों को शुद्ध मानने पर वह अपढ़—पूरा विलासी ही क्यों न हो—'अध्यात्मवादी' कहा जा सकेगा। यद्यपि 'अध्यात्मवाद' का सीधा सम्बन्ध आत्मा से है पर जब तक मनुष्य का शरीर और उसके व्यवहार भी उससे प्रभावित नहीं हो लेते तब तक उसमें व्यापकता नहीं आ सकती। जो 'आत्मा' शरीर पर भी अपना भाव न उत्पन्न कर सकी वह किसी अलक्ष्य शक्ति पर अपना प्रभाव किस बिरते पर उत्पन्न कर सकेगी यही बात विचारने की है। ऐसी आत्मा का यह स्वर निर्जीव वाद्यों के स्वरों से अधिक मेल खा सकता है।

उक्त कथन का यह अभिप्राय नहीं है कि 'अध्यात्मवादी' साँचे में पूर्णतः ढले बिना 'अध्यात्मवाद' की कविता करना ढोंग है वरन् इसका तात्पर्य यह है कि यदि कवि भी 'अध्यात्मवादी' बन गया हो तो उसकी कविता में सच्ची संजीवनी शक्ति होगी। इस विचार को भी भुलाकर यदि दूसरे प्रकार के कवियों को भी कुछ वैसा ही पद देने का साहस किया जाय तो भी अनुभव की उपेक्षा तो त्रिकाल में भी नहीं की जा सकती। आत्मानुभूति यों तो कविता में भी पूर्ण रूपेण अपेक्षित है पर अध्यात्मवाद में तो उसका पौने सोलह आना होना भी खटकनेवाला ही होगा।

इस कारण अध्यात्मवाद की सफल कविता करने के लिये आवश्यक है कि उसके रचयिता प्रौढ़ावस्था के सांसारिक अनुभव प्राप्त 'बूढ़े-जन' हों। यौवनावस्था में ही आत्मानुभूति की पराकाष्ठा हो जाना न तो कभी देखा ही गया है और न मनोविज्ञान से ही यह बात सिद्ध है। सभी लोग मानते हैं कि इस अवस्था में रागात्मिका वृत्ति का जोर होता है और वह आत्मानुभूति को अपने कस में किये रहती है। यदि एकाध अपवाद कहीं से टपक पड़े तो यह सिद्धांत काट कर फेंका नहीं जा सकता। पर अपवाद को भी सिद्धांत बना देना कुछ

ऊटपटांग ही है। आधुनिक हिन्दी के नवयुवक छायावादियों को अल्पावस्था में ही सर्वज्ञता का दम भरने के दंभ ने जितना असन्मार्ग दिखाया उससे अधिक उन्हें 'छायावादी' बनने के शौक ने चौपट किया है।

हिन्दी में भी इस प्रकार की कविता के प्रादुर्भाव का मूल-कारण बँगला और अँगरेज़ी साहित्य का अनुकरण है और उसमें सहायक होनेवाली बात है कविवर रवींद्र की ख्याति-सी प्रसिद्धि पाने की लालसा। यदि द्वेष आदि कुभावों से प्रेरित न होकर इसके लेखक ठंढे दिमाग से विचार करें तो वे स्वयं समझ लेंगे कि वे जो कुछ कविता करते हैं अपने 'स्वांतः सुखाय' न कर किसी प्रकार के लोभ से करते हैं। 'छायावाद' का नाम तो इस लोभ के चरितार्थ करने का आवरण मात्र है। हम यहाँ पर फिर कह देना चाहते हैं कि यह कथन सभी कवियों पर लागू नहीं हो सकता। जिन नवयुवकों ने सांसारिक अनुभव की कमी के होते हुए भी इस अलौकिक क्षेत्र में प्रवेश करने का दुस्साहस किया है उन्हीं की कविता में यह दोष पाया जाता है और कृत्रिम 'स्वर-ताल' के शिकंजे में कस कर व्यर्थ ही उसकी असिद्ध सार्थकता सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाता है। जो हमारे कथन को नहीं मानते उन्हें मम्मटाचार्य के निम्नलिखित कथन का मनन करना चाहिये। वे देखें उनके बताये ये तीन कारण कविता के लिये आवश्यक हैं या नहीं—

शक्तिर्निपुणता लोकशास्त्र काव्याद्यवेक्षणात्।
काव्यज्ञशिक्षयाभ्यास इति हेतुस्तदुद्भवे॥

अवश्य ही इसमें कवि-शक्ति मुख्य है फिर भी 'निपुणता' (अनुभव) और 'अभ्यास' की उपेक्षा सरासर की ही नहीं जा सकती। यदि अतुल 'शक्ति' सम्पन्न मनुष्य भी निपुणता और अभ्यास न करे तो उसकी शक्ति का स्फुरण नहीं हो सकता। इन दोनों में 'निपुणता' (अनुभव) अत्यंतावश्यक है।

क्योंकि "काव्यज्ञशिक्षाभ्यास-हीन" व्यक्तियों में भी वैसी प्रतिभा कभी-कभी देखी गयी है जैसे कबीर साहब, पर निपुणताहीन में यह बात न तो देखी ही गई है, और न देखी ही जा सकती है। अस्तु, हमारे होनहार नवयुवकों को अन्य साहित्यों का अंधानुकरण न कर अपने साहित्य के अटल सिद्धांतों की ओर भी देखना चाहिए। अन्यथा उनकी कविता में स्थायित्व न आ सकेगा और अनुभवहीन छायावादी कविता तो पुस्तक के पन्नों या मासिक पत्रिकाओं के पृष्ठों में पड़ी-पड़ी भविष्य में उनके उतावलेपन का एक चिह्न-मात्र रह जायगी। साहित्य को उससे कोई गौरव न प्राप्त हो सकेगा।

यहाँ पर हम हिन्दी के प्राचीन अध्यात्मवाद पर कुछ विचार करना आवश्यक समझते हैं। संस्कृत-साहित्य तथा अन्य साहित्यों से इस कविता के इतिहास की पड़ताल करने बैठना हमारी इस पुस्तक के अनुपयुक्त होगा। उसका विवेचन और विश्लेषण किसी स्वतंत्र लेख में करना ही अधिक उपयुक्त हो सकता है। यों तो हिन्दी के सभी भक्त कवियों ने कुछ न कुछ अध्यात्मवाद की बातें कही हैं पर वस्तुतः अध्यात्मवादी कवि कबीर, जायसी, मीराबाई, दादू दयाल, दीनदयालु गिरि आदि कहे जा सकते हैं। इनमें कबीर साहब को हम हिन्दी के अध्यात्मवादी कवियों का सम्राट् मानते हैं और जितनी भाषाओं से हमारा संपर्क है उनको देखते हुए तो हम कबीर साहब को संसार के अध्यात्मवादी कवियों में सर्वश्रेष्ठ समझते हैं। महाकवि रवींद्र भी इस विषय में कबीर-साहब के ऋणी हैं, और की तो बात ही क्या ! कबीर साहब के पश्चात् दूसरे स्थान में 'जायसी' का नाम लिया जा सकता है। कबीर साहब यद्यपि अध्यात्मवाद के जबर्दस्त लेखक हैं पर उनके अध्यात्मवाद में काव्यकला को कोई स्थान प्राप्त नहीं है पर जायसी का अध्यात्मवाद शुष्क न होकर काव्यकला से पूरा-पूरा सामंजस्य रखता है।

कुछ समालोचक जायसी को प्राचीन हिन्दी साहित्य का सर्वश्रेष्ठ अध्यात्मवादी कवि मानते हैं पर हमें इस बात में कुछ आपत्ति है। हम जायसी को इस विषय का एक जबर्दस्त कवि तो अवश्य स्वीकार करते हैं पर सर्वश्रेष्ठ नहीं। हमारे विचार से बाबा दीनदयाल गिरिजी ने उनसे कम अध्यात्मवाद का स्पष्टीकरण नहीं किया है वरन् वे कुछ बढ़े हुए हैं। जायसी का रहस्यवाद चाहे कतिपय स्थानों पर स्पष्ट न हो पर इनका अध्यात्मवाद सर्वत्र सुस्पष्ट है। इस कारण हम इन्हें जायसी के पीछे मानने को तैयार नहीं हैं। हमने ऊपर अध्यात्मवादी कवियों की जो दो श्रेणियाँ की हैं, बाबा दीनदयाल गिरिजी उनमें पहली श्रेणी के ही अध्यात्मवादी हैं। उन्होंने जितनी बातें कही हैं वैसा आचरण भी किया है। उनका 'वाद' व्यापक था संकीर्ण नहीं। उनका हृदय इतना असांसारिक था कि उन्होंने अपने ग्रंथों में श्रृंगार को स्थान ही नहीं दिया वरन् स्थान स्थान पर श्रृंगारियों को फटकारा है। केवल शुद्ध प्रेम की व्यंजना के लिये गोपियों के विरह आदि का वर्णन किया है। साहित्य के रसज्ञों की रसशाला की परीक्षा द्वारा ये विरह के छंद भले ही श्रृंगार के अंग मान लिये जायँ पर वे केवल शुद्ध प्रेम के भावों का दिग्दर्शन कराने के ही लिये लिखे गए हैं। उनका सांसारिक श्रृंगार से सीधे सम्बन्ध नहीं है। पर जायसी ने 'पद्मावत' के 'समागमखंड' में जो वर्णन किया है उसमें साहित्यिक दृष्टि से अश्लीलता स्पष्ट है और उसके परिहार का कोई 'सूत्र' नहीं मिल सकता। भले ही जायसी के भाव ऐसे न रहे हों पर समाज के सामने इस प्रकार के वर्णनों का रखना स्तुत्य तो नहीं है। 'पद्मावत' के अंत में जायसी ने अपनी पूरी पुस्तक को 'व्यंग्य' ( अन्योक्ति ) कहा है अर्थात् उसका लक्ष्य ईश्वर सम्बन्धी प्रेम बताया है। हो सकता है, पर सर्वांश में उसे अन्योक्ति मान लेना तो न्यायतः ठीक नहीं है। इसी प्रकार उर्दू के 'शायर' भी आशिक और माशूक के दर्दभरे

दास्तानों को ईश्वर-प्रेम का व्यंग्य कहते हैं। यदि ऐसी बात मानी जा सकती है तो जो लोग हिन्दी-साहित्य के 'नायिका' भेद को कड़ी दृष्टि से देखते हैं उन्हें इसे भी ईश्वरप्रेम की अन्योक्ति मानने के लिये बाध्य होना पड़ेगा। कहने का अभिप्राय यह है कि ईश्वर-प्रेम का व्यंग्य सभी प्रकार के वर्णनों से नहीं किया जा सकता। हम यह मानते हैं कि ईश्वर को 'परम पुरुष' और आत्मा को 'विरहिणी' मान कर ही अधिकांश में ईश्वर-प्रेम का व्यंग्य किया गया है और किया जाता है। पर स्मरण रखना चाहिये कि इसमें 'प्रेम-मार्ग' के वासनालोलुप हृदयों के 'चोचलों' का वर्णन न होकर सीधी-सादी बातें होती हैं। इसके लिये महात्मा कबीरदास और मीराबाई के एतद्विषयक पद उदाहरण स्वरूप उपस्थित किये जा सकते हैं, उर्दू के 'दास्ताने इश्क' नहीं।

ईश्वर का रूप 'सत्यं शिवं सुन्दरम्' कहा जाता है। कौन जानता है ईश्वर का यहाँ रूप होगा? पर जिनके भाव उदार हैं, जिनकी भावना में अलौकिकता का समावेश हो चुका है वे ईश्वर के उक्त स्वरूप की भावना संसार की सभी सत्य, कल्याणकारी, एवं सुन्दर वस्तुओं में करते हैं। यही कारण है अध्यात्मवादी कवि संसार में जहाँ कहीं चमत्कार देखता है वहाँ उसी ईश्वर की भावना करके गद्गद हो जाता है। इसी तन्मयता में वह ईश्वर का चित्र खींचने लगता है और अपनी वाणी द्वारा वह उसे संसार के सामने रखता है। संसार इसी में 'अध्यात्मवाद' का रूप लखता है। कहा जा सकता है कि क्या ईश्वर का रूप उक्त तीन ही गुण संपन्न पदार्थों में दृष्टिगोचर हो सकता है अन्यत्र नहीं? पर यह एक शुष्क तर्क मात्र है, क्योंकि इसका अर्थ व्यापक ही लेना उचित है न कि परिमित; क्योंकि ऐसी दशा में स्वयं ईश्वर को ही परिमित मान लिया जाता है। ईश्वर के विराट् रूप में लता-पत्र, घास-पात उसके रोम कहे गये हैं, इन सबमें ईश्वरीय भावना अध्यात्मवाद है। कवि हृदय और

अध्यात्मवादी कविहृदय बड़ा उदार, बड़ा विस्तीर्ण और कारुणिक होता है। उसकी दृष्टि में संसार की समस्त वस्तुएँ ईश्वरमय हैं और उसकी सत्यता का भास भी उस परब्रह्म की सत्यता का ही प्रमाण है। यही सच्चा अध्यात्मवाद है। इसका प्रत्यक्षीकरण जिन जिन कवियों ने किया है उन्होंने संसार को सत्पथ दिखाया है और इस सांसारिक अशांति में भी उसे शांति प्रदान करने का सफल प्रयत्न किया है। क्योंकि संसार में पारलौकिक कल्पना ही शांति दे सकती है।

ऊपर हमने अध्यात्मवादी कवियों की दो श्रेणियाँ स्थिर की हैं, एक सच्चा अध्यात्मवादी और दूसरा अध्यात्मवाद का लेखक—अंतःकरण से अध्यात्मवाद नहीं। बाबा दीनदयाल गिरिजी प्रथम श्रेणी के ही कवि हैं उनका हृदय भी अध्यात्मवादी था, इसके प्रमाण में उनके ग्रंथ उपस्थित किए जा सकते हैं। अध्यात्मवाद के भी तीन रूप हैं। एक वह जिसमें केवल दार्शनिक बातों का ही खोपड़ा खाया गया हो। दूसरा वह जिसमें दार्शनिकता और काव्यत्व दोनों बराबर मात्रा में हों और तीसरा वह जिसमें काव्य की चकाचौंध में दार्शनिकता उड़ गई हो। कहना नहीं होगा कि इनमें कविता के लिये दूसरा अध्यात्मवाद ही श्रेयस्कर कहा जा सकता है। क्योंकि कविता से साहित्यज्ञता का पल्ला छूट जाने से कोरी दार्शनिकता रोचक नहीं हो सकती और केवल काव्यत्व के शिकंजे में दब कर भी उसका रूप बिगड़ जाता है। प्रथम प्रकार की अधिकांश कविता महात्मा कबीर के ग्रंथों में मिलती है। दूसरे कैंड़े की कविता के दर्शन जायसी और बाबा दीनदयाल गिरि के ग्रंथों में पाये जाते हैं, तीसरे ढंग की कविता 'केशव' ऐसे काव्याचार्यों के ग्रन्थों में मिल सकती है।

अध्यात्मवाद के लेखक ईश्वर का वर्णन करते हुए समाज का ही आश्रय लेते हैं और प्रधानतः प्रेम की पद्धति को ग्रहण कर ईश्वर सम्बन्धी प्रेम की

व्यंजना में संलग्न होते हैं। संसार में सबसे अधिक दृढ़ सम्बन्ध पुरुष और स्त्री का ही समझा जाता है, बस इसी के आलंबन से अध्यात्मवाद की अधिकांश कविताएँ कही गई हैं। यों तो और भी अनेक सम्बन्धों के लगाव से कविता का प्रणयन होता है, फिर भी यही मुख्य है और होना भी चाहिए। साहित्य के रसज्ञों का मत है कि और प्रकार के प्रेम 'रसता' को प्राप्त नहीं होते वे केवल भाव मात्र हैं,—रसाभास हैं, केवल स्त्री-पुरुष का प्रेम ही 'रसता' को प्राप्त हो सकता है। जो कुछ भी हो, संसार में अब भी स्त्री-पुरुष के सच्चे प्रेम की बड़ी महिमा है और उसका स्थान दृढ़ता के विचार से सब प्रकार के प्रेमों से बढ़कर है। अस्तु, इस कैंड़े के कवि ईश्वर को नायक और जीवात्मा को नायिका मान कर कविता करते हैं और जीवात्मा को विरहिणी के रूप में दिखाते हैं। वैष्णव संप्रदायों में भी इस प्रकार का अध्यात्मवादी संप्रदाय मौजूद है पर उसमें व्यापकता के स्थान पर कुछ सीमित रूपता आ गई है। इसी प्रकार के संप्रदाय क्यों प्रायः सभी संप्रदायों में व्यापकता का वह रूप नहीं रह गया है। कवि-हृदय सदा व्यापकता का ही दर्शन कराता है। बाबा दीनदयाल जी की कविता से कुछ उदाहरण लीजिये :—

पिय तें बिछुरे तोहि री बिते बहुत हैं रोज।
पिय पिय पपीहा जड़ रटै तू न करै पिय-खोज॥
तू न करै पिय खोज कितै दुरमति मैं भूली।
होन लगे सित केस कौन मद मैं अब फूली॥
बरनै दीनदयाल सुमिरि अजहूँ तेहि हिय तें।
है सब तेरी चूक नहीं कछु तेरे पिय तें॥

उक्त छंद में आत्मा को उत्तेजित करने के लिये पपीहा के 'पी-पी' कहने की बात कह कर ज्ञानहीन पक्षियों में भी प्रियतम के प्रेमविरह की व्यंजना

दिखाई गई है। उस परम-पुरुष के पाने के लिये सारा संसार विरह-व्याकुल है, इस कथन में कितनी मार्मिकता है। पक्षियों में 'प्रिय-प्रेमी' की कल्पना काव्यत्व के ही सहारे की गई है, पर उसमें कितनी स्वाभाविकता है यह विरह-व्यथा के अनुभवी समझ सकते हैं। प्रियवियुक्त व्यक्ति संसार में इसी बात को देखता है। कोई पक्षी कुछ बोला कि उसे प्रियतम सम्बन्ध में ही उसकी ध्वनि निकलती ज्ञात होगी। यह प्रेम की अत्यंत उच्च और पवित्र कल्पना है। बंग साहित्य के उद्भट लेखक माइकेल मधुसूदनदत्त महोदय ने भी इसी प्रकार की सहानुभूति से प्रेरित होकर एक 'मोरिनी' को लक्ष्य करके किसी विरह-विदग्धा से कहलाया है—

"शिखिन विरस वदना हो बैठी तरु शाखा पर तू कैसे।
तेरे प्राण न देख श्याम को रोते हैं क्या मुझ जैसे॥
तू भी है दुखिया क्या आहा! उन पर कौन नहीं मरता?
किसे नहीं शशि शीतल लगता किसका हृदय नहीं हरता।

—('मधुप' कृत हिन्दी अनुवाद से)

सच्चा प्रेम तो वही है जब प्रियतम के विरह में व्याकुल होकर मनुष्य संसार में उसी की भावना में मस्त होकर पेड़-पक्षी और पशुओं-पक्षियों से भी उसी प्रेम-गाथा की चर्चा चलाने लगे। जिसमें इतने ऊँचे दर्जे का प्रेम नहीं है उन्हें 'प्रेम-पाठशाला' से अपना नाम कटवा लेना चाहिए। ठीक इसी प्रकार जिस आत्मा में शरीर की वृद्धता के आने पर भी सांसारिकता का चस्का लगा है उसको कैसे शांति मिल सकती है। आत्मा को 'पनिहारिन' बना कर देखिए संसार के आवागमन का प्रसिद्ध सिद्धांत किस खूबी से प्रतिपादित किया गया है।

पनिहारी इहि सर परे लरति रही सब पाँह।
रीतो घट लै घर चली उतै मारिहै नाह ॥
उतै मारिहै नाह काह तिहि ऊतर दै है।
रोय रोय पति खोय फेरि सर पै फिरि ऐहै ॥
बरनै दीन दयाल इतै हँसिहैं सब नारी ।
ख्वारी दुहुँ दिसि परी अरी ग्वारी पनिहारी ॥

संसार में आत्माएँ किसी विशेष कार्य के लिये ही अवतरित होती हैं फिर भी वे अपने कार्य को संपन्न न कर सांसारिक विलासिता को आलिंगन करने में लग जाती हैं, यह उनके लिये खेद की बात है। पर होता विपरीत ही है कितनों का 'घट' खाली जाता है और उसी के भरने के लिये फिर आना पड़ता है। यदि घड़ा भर जाय, ईश्वर की तल्लीनता प्राप्त हो जाय और आत्मज्ञान का प्रकाश प्रस्फुटित हो उठे तो फिर 'घड़ा' भरने आने की आवश्यकता नहीं। 'पिय' और 'तिय' का अखंड संयोग हो जाय।

इसी सम्बन्ध में यह भी स्मरण रखना चाहिए कि अध्यात्मवाद की कविताओं में प्रायः अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया गया है। ईश्वर से आत्मा की जो भिन्नता दिखाई जाती है उसे विशिष्टाद्वैत न मान कर अद्वैतवाद का ही रूप समझना चाहिए। विशिष्टाद्वैत तो वहाँ पर माना जा सकता है जहाँ ईश्वर की एकात्मता लक्ष्य न होकर उससे भिन्नता ही लक्ष्य हो। वैष्णव संप्रदाय के बहुत से भक्तों का यही लक्ष्य होता है, वे ईश्वर में अपने को लय नहीं करना चाहते, वे ईश्वर का प्रेम भर चाहते हैं। बारंबार उन्हें जन्म लेना प्रिय है, केवल ईश्वर से अप्रेम ही उनके लिये खटकने वाली, बात होती है। तुलसीदास जी ने भरत जी के निम्नलिखित कथन द्वारा इस बात का लक्ष्य कराया हैः—

अरथ न धरम न काम रुचि गति न चहौं निरवान।
जनम जनम रति राम पद यह बरदान न आन॥

बाबा दीनदयालगिरि जी ने भी अद्वैतवाद का ही प्रतिपादन किया है उसमें जहाँ कहीं विशिष्टता का लक्ष्य होता है वहाँ आत्मा का ईश्वर से विप्रयोग ही इसका कारण समझना चाहिए, 'विशिष्टवाद' नहीं। क्योंकि विशिष्टाद्वैतवादी 'सेवक सेव्य भाव' को मानते हैं और अद्वैतवादी 'प्रेम-भाव' को। निम्नलिखित छंद में यही बात है।

चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैनि विछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस संदोह॥
सुहृद हंस संदोह कोह अरु द्रोह न जाको।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताको॥
बरनै दीनदयाल, भाग बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई॥

सच्चा अध्यात्मवाद यही है।

अधिक उदाहरणों की आवश्यकता नहीं पुस्तक में अधिकांश उक्तियाँ अध्यात्मवाद की ही हैं। हाँ दीनदयाल जी के इस अध्यात्मवाद की कुछ समालोचना कर देना भी उपयुक्त होगा। यद्यपि बाबा दीनदयाल गिरिजी की अधिकांश उक्तियाँ इसी ढंग की हैं जिनमें काव्य और अध्यात्मवाद दोनों का सामंजस्य है पर फिर जहाँ बरवश काव्यत्व का प्रयोग किया गया है वहाँ दार्शनिकता की व्यंजना में अड़चन पड़ती है। जहाँ जहाँ इन्होंने अपना कवित्व दिखाने का प्रयत्न किया है वहाँ वहाँ यह बात स्पष्ट देखने में आती है। यद्यपि इन्होंने अपने पांडित्य से उसमें वास्तविकता लाने का उद्योग किया है पर फिर भी हम उसे प्रशंसनीय प्रयत्न कदापि नहीं कह सकते। बाबा दीनदयाल गिरिजी

अध्यात्मवाद के उद्भट लेखक हैं इसमें संदेह नहीं पर कबीर साहब के अतिरिक्त सर्वश्रेष्ठता का सेहरा दूसरे के सिर नहीं बाँधा जा सकता। हमारे विचार से आजकल के छायावादी कवियों को अन्य भाषा के कवियों के अतिरिक्त अपनी भाषा के इन कवियों का अनुकरण कहीं अधिक श्रेयस्कर होगा। अधिक न लिख कर कभी महात्मा कबीरदास के सम्बन्ध में लिखते समय इस बात का अधिक विवेचन उपयुक्त होगा।

---

## ४—आलोचना

काव्य के दो मुख्य भेद होते हैं। दृश्य-काव्य और श्रव्य-काव्य। दोनों के नाम से ही उनका लक्षण स्पष्ट है। अतः उनके विस्तृत विवेचन की यहाँ आवश्यकता नहीं। दृश्यकाव्य के अंतर्गत वे ग्रंथ आते हैं जिन्हें हम नाटक, रूपक आदि कहते हैं। यद्यपि ये श्रव्य-काव्य भी कहे जा सकते हैं, पर सुनने की अपेक्षा उनका रंगमंच पर प्रत्यक्ष अभिनय देख कर और भी अधिक आनंद होता है, साथ ही श्रव्य-काव्य की अपेक्षा इनका प्रभाव भी तभी अधिक पड़ता है जब ये रंगमंच ( Stage ) पर खेले जायँ। श्रव्य-काव्य केवल कान के विषय हैं। इनको सुन कर या पढ़ कर ही हम अलौकिक आनंद तथा महत्वपूर्ण उपदेश ग्रहण कर सकते हैं। प्रबन्ध-भेद से श्रव्यकाव्य के दो मुख्य भेद माने गये हैं। प्रबन्ध-काव्य और मुक्तक-काव्य। प्रबन्ध-काव्य में काव्य की वस्तु एक होती है। आदि से लेकर अंत तक एक एक अध्याय, एक एक श्लोक कथानक या वस्तु के सूत्र में इस प्रकार गुथा रहता है कि हम उसको अलग नहीं कर सकते। समग्र काव्य से उसको निकाल देने से उसमें वह चमत्कार नहीं प्रतीत होता। साथ ही उसके अभाव में काव्य के चमत्कार में भी बहुत कुछ न्यूनता

आ जाती है। सारांश यह कि एक एक श्लोक प्रबन्ध के आश्रित रहता है। प्रबन्ध से भिन्न उसका कोई महत्व नहीं।

"मुक्तक-काव्य" इसके ठीक विपरीत होता है। "मुक्तक-काव्य" का लक्षण है "अन्यैः (श्लोकैः) मुक्त इति मुक्तकम्*", अर्थात् जहाँ एक पद्य का अपने पूर्ववर्ती अथवा परवर्ती किसी भी पद्य से संबन्ध न हो, अपने-अपने विषय को प्रकट करने में प्रत्येक पद्य पृथक्-पृथक् पर्याप्त हो, ऐसे पद्य को "मुक्तक" कहते हैं, इसी का नामांतर "उद्भट" या "स्फुट (फुटकर)" भी है। जिस ग्रंथ में ऐसे "मुक्तक-काव्य" संगृहीत हों उसे "कोष" कहते हैं। "मुक्तक" स्वयं एक काव्य है। पूर्वापर प्रसंग के बिना ही उसमें पूर्ण भाव, पूर्ण चमत्कार लक्षित करना होता है। अतः प्रबंध-काव्य की अपेक्षा "मुक्तक-काव्य" रचने में ही कवि-कौशल झलकता है। एक ही पद्य में समस्त भावों का समावेश करना, रसों का पूर्ण परिपाक दिखलाना, सारे प्रबन्ध-काव्य की सामग्री को बन्द करना, वास्तव में "गागर में सागर" भरना ही है। जहाँ प्रबन्ध-काव्य में कवि को विस्तृत क्षेत्र मिल जाता है वहाँ 'मुक्तक' में क्षेत्र अत्यन्त संकुचित होता है। अत: मुक्तक-काव्य रचना भी कोई हँसी खेल नहीं है। इस सिद्धांत पर विचार करने से दीनदयाल जी का प्रस्तुत ग्रन्थ भी "मुक्तक-कव्य" या "फुटकर-काव्य" ही कहा जा सकता है। अब हम मुक्तक-काव्य की कसौटी पर कस कर "अन्योक्ति-कल्पद्रुम" के खरे खोटे होने का निर्णय करेंगे। मुक्तक-काव्य में दो दो प्रधान आलोच्य विषय हैं, भाषा और भाव। पहिले हमें यह देखना होगा कि जिस भाषा में काव्य-रचना की गई है उस पर कवि का अधिकार कहाँ तक है। तब यह विवेचन करेंगे कि कवि उस भाषा में अपने भावों को प्रकट करने में कहाँ तक

*मुक्तमन्येन नालिंगितं, तस्य संज्ञायां कन्। पूर्वापरनिरपेक्षेणापि हि येन रसचर्वणां क्रियते तदेव मुक्तकम्।—श्री अभिनवगुप्त पादाचार्य।

सफल हुआ है। तत्पश्चात् हम कह सकेंगे कि "दीनदयाल" जी सफल कवि थे या नहीं। अस्तु पहले "भाषा" को ही लीजिए।

## ( अ ) भाषा

कोई सुकवि अपने भावों को किसी भी भाषा में व्यक्त कर सकता है। इसके लिये कोई विशेष बन्धन नहीं हो सकता। तब भी हम देखते हैं कि हिन्दी के प्रायः सभी कवियों एवं महाकवियों ने ब्रजभाषा को ही अपनी कविता के लिये उपयुक्त माना है। इसका कारण ब्रजभाषा की स्वाभाविक लोच एवं नैसर्गिक माधुर्य ही है हिन्दी जगत् ब्रजभाषा के लालित्य से खूब परिचित है। किसी भी रस की कविता उत्तमता से करने के लिये ब्रजभाषा में अद्भुत शक्ति है। आवश्यकतानुसार हम रस के अनुकूल बनाने के लिये ब्रजभाषा को अपने ढाँचे में ढाल सकते हैं। सभी प्रकार के भावों को व्यक्त करने के लिये ब्रजभाषा में शब्दों की कमी नहीं। कमी पड़ भी जाय तो ब्रजभाषा की पाचन-शक्ति इतनी प्रबल है कि वह किसी भी विदेशी भाषा के शब्द को बड़ी आसानी से "ब्रजभाषात्व" देकर हजम कर जाती है—अपना लेती है। एक ही शब्द के अनेक रूप ब्रजभाषा में प्रयुक्त होते हैं। अतएव छंद-रचना करने एवं 'तुक' मिलाने के लिये भी ब्रजभाषा में सुगमता होती है। कवि को भाषा के खड़ेपन का दास न बनकर भावों को सुरक्षित रखने की शक्ति होती है। इन्हीं सब विशेषताओं के कारण अधिकांश कवियों तथा महाकवियों ने ब्रजभाषा को ही अपनी रचना का आधार बना कर उसे गौरवान्वित किया है। यही कारण है कि ब्रजभाषा आज दिन अन्य भाषाओं के सामने अभिमान एवं गौरव से सिर ऊँचा किए है। ब्रजभाषा का अतीत उज्ज्वल रहा है, और जब तक सूर, तुलसी, बिहारी आदि कविवरों का साहित्य-हिन्दी-संसार में आदर पाएगा भविष्य में भी इसकी कीर्त्ति अविचल एवं अक्षुण्ण रहेगी।

दीनदयाल जी की भाषा भी ब्रजभाषा ही है, और यह उनके भावों को व्यक्त करने के लिये है भी उपयोगी। एक सुकवि होने के कारण इनकी भाषा प्रसाद-गुण-परिपूर्ण है। अन्योक्ति-कल्पद्रुम की कविता शांत-रस की होने के कारण माधुर्य-गुण से संपन्न है। भाषा का सबसे प्रधान गुण तो यह है कि भाव स्पष्ट हो जाय, भाषा के चक्रव्यूह में भाव भटक न जायँ। दीनदयाल जी की भाषा में यह गुण पर्याप्त-मात्रा में है। भाषा के बाहरी आडम्बर से भावों की हत्या करना इनको अच्छा नहीं लगता था। कविता में स्वाभाविकता लाने के लिये जन-साधारण में प्रचलित मुहावरों और ठेठ शब्दों का प्रयोग आवश्यक है। सुकवि को उनके प्रयोग के लिये कोई चेष्टा नहीं करनी पड़ती। वे तो सर्वसाधारण बोलचाल के होने के कारण कवि जिह्वा पर चढ़े रहते हैं, और जब तक कवि स्वयं जान-बूझ कर उनसे बचने की चेष्टा न करे स्वतः आ ही जाते हैं। एक बात और भी है। कवि प्रांतीयता से अलग नहीं हो सकता। अपनी जन्मभूमि की बोलचाल के मुहावरों या शब्दों का प्रयोग उसके लिये स्वाभाविक ही है। दीनदयाल जी बनारस के रहने वाले थे। अतः उनकी कविता में ऐसे प्रयोग बहुत अधिक परिमाण में दिखलाई देते हैं जो केवल बनारस में ही बोले जाते हैं। भाषा 'ब्रजभाषा' होते हुए भी उसमें स्थान स्थान पर 'बनारसी' भाषा का पुट दिखलाई पड़ता है। बनारसी मुहावरों का प्रयोग देखिए—

मारि डारिहैं वार भजो ये फिरैं "अनेरैं"।

यहाँ "अनेरैं" शब्द "अनयरत" का विकृत रूप है। काशी में अब भी ऐसे ही अर्थ में बोला जाता है, "क्या अनेरै घूम रहे हो?" और भी देखिये—

(१) मन को खेद न करिए तरु पच्छिन को "भरु पाय"।

( २ ) नाहीं कछु फल फूल तो "बज्यो नाम" मंदार ।

कहीं कहीं दीनदयाल जी मुहावरे गढ़ भी लेते हैं जैसे—

( १ ) परावार अपार धार सिर "क्रीट करे" हो ।

यहाँ "क्रीट करना" कोई अच्छा मुहावरा नहीं जँचता । हमें तो यह गिरिजी की गढ़ंत ही जान पड़ती है । इस मुहावरे का प्रयोग उन्होंने एक सरे स्थान पर भी किया है—

( २ ) बरनै दीनदयाल तिनै नृप 'क्रीटन कीनै" ।

कहीं कहीं इनके मुहावरे गढ़ने का ढंग भी बड़ा विचित्र है । जैसे—

( १ ) सौरें कीस करें महा किलकारें इत कोल ॥

यहाँ "शोर करना" में "शोर" शब्द को अलग करके उसके बहुवचनांत प्रयोग के साथ क्रिया-पद को मिलाया है । इसी प्रकार—

( २ ) ससक लोमरी आदि स्वतंत्र करैं सब राजैं ॥

यहाँ भी "राज करना" के "राज" शब्द के बहुवचनांत प्रयोग के साथ क्रिया-पद जोड़ा है । हमें तो ये प्रयोग अनुचित जान पड़ते हैं । व्याकरण की दृष्टि से भी ये अशुद्ध हैं । इनसे कवि की रचना में शिथिलता प्रकट होती है ।

ठेठ बनारसी शब्दों का प्रयोग तो इन्होंने बहुत अधिक मात्रा में किया है—

( १ ) तूल "कुबतियाँ" त्यागि भए सतसोभा भाजन ।

( २ ) बरनै दीनदयाल तोहि मथि करिहैं "काहल" ।

( ३ ) "फोकट" नाम सुनाय नहीं कछु काम सरै है ।

( ४ ) तजि "कुल्हिया" को मोह यही बन्धन है तोको ।

( ५ ) ऐसी "धोनी" धोइ जो मैलो होइ न फेरि ।

"घोनी" शब्द ठेठ बनारसी है। इसका प्रयोग कबीर साहब ने भी किया है, "ऐसी घोनी धोव तू...।"

(६) बरनै दीनदयाल सबै श्रम जैहैं 'खाली"।

(७) बरनै दीनदयाल कौन यह तेरी "चाली"।

"चाली" का प्रयोग ब्रजवासी या बुंदेलखंडी भी करते हैं। 'पदमाकर' ने लिखा है—

"दाहन तें दूनी तेज तिगुनी त्रिसूलन तें
चिल्लिन तें चौगुनी चलांक चक्र "चाली तें"।

(८) बरनै दीनदयाल "जटे" इन "जटी" सुकाही ॥

ठगने के अर्थ में जटना बनारस में प्रतिदिन काम आता है। (शायद बनारस में ही इसका प्रयोग होता हो)।

(९) दुख दीनता मलीन उलूक रहैं ढिग "ढूके"।

दीनदयाल जी संस्कृत के प्रखर विद्वान थे। तब भी इनकी कविता में 'केशवदास' जी की तरह संस्कृत शब्दों की भरमार नहीं है। संस्कृत के वे ही शब्द इनकी भाषा में आए हैं जो साधारण बोलचाल में प्रसिद्ध हैं। किन्तु संस्कृत के अप्रसिद्ध शब्दों के प्रयोग से वे अपने को सर्वथा बचा नहीं सके। जैसे—

(१) ता छिन तें बरखन लगे अमृत को तजि 'ग्राव' ॥

'ग्राव' शब्द का अर्थ संस्कृत में 'पत्थर' होता है। पत्थर 'ओलों' को भी कहते हैं। इसी कारण दीनदयाल जी ने भी ओले के अर्थ में 'ग्राव' शब्द का प्रयोग कर ही दिया। संस्कृत में 'ग्राव' शब्द भले ही परिचित हो पर हिन्दी में इसका प्रयोग कुछ क्लिष्ट अवश्य जान पड़ता है। इसी प्रकार "देवन" शब्द को लीजिए—

( २ ) बरनै दीनदयाल सेइ कै सोभित "देवन" ।

यह शब्द शुद्ध संस्कृत शब्द है जिसका अर्थ "बगीचा" होता है। हिन्दी में "देवन" शब्द देवताओं के ही अर्थ में प्रयुक्त होता है। "बगीचे" के अर्थ में इसका प्रयोग भ्रमात्मक है। अतः यह "अप्रयुक्त" दोष माना जायगा। एक और भी उदाहरण लीजिए—

( ३ ) "सानुमान" कहि अचल कहि सब जग करैं बखान ।

यहाँ "सानुमान्" शब्द भी शुद्ध संस्कृत है, जिसका अर्थ पर्वत होता है। पर हिन्दी में यह शब्द अप्रयुक्त है। श्लेष से इसका अर्थ "शान वाला" लेने से और भी क्लिष्टता आ गई है।

अन्य कवियों की भाँति दीनदयाल जी भी विदेशी भाषा के शब्दों का व्यवहार करने में मुक्त-हस्त रहे हैं। पर हाँ, उनको भी अपने ही ढाँचे में ढाल लिया है। कई शब्द तो ऐसे हैं जो विदेशी होते हुए भी सर्वसाधारण में बोले जाते हैं अतः उनको विदेशी न कह कर स्वकीय ही मान लेने में कुछ भी अनौचित्य नहीं है। उदाहरण लीजिये—

( १ ) गिरा नचाव सुखेन सिद्धिदायक सब "लायक" ।

( २ ) महा छली है मधुप यह कहा करै "इतबार" ।

( ३ ) छाँड़ि "ऐब" दै हाथ को पछिलत्तहु जनि ठान ।

उक्त तीनों शब्द "अरबी" भाषा के हैं जिनका प्रयोग दैनिक बोलचाल में बहुत पाया जाता है।

( १ ) दरे "दरद" हे सरद हिय करे मोद सन्दोह ।

( २ ) हैं छलमय पल के असद ए "कागद" के फूल ।

( ३ ) तोहि "सराय" समाज छूटि साथी सब जैहैं ।

( ४ ) पियतें बिछुरे तोहि री बिते बहुत हैं "रोज" ।

ये चारों "फारसी" शब्द भी अति-प्रयुक्त व्यावहारिक शब्दों में से हैं।

'अरबी' 'फारसी' के कई ऐसे शब्दों का भी इन्होंने प्रयोग किया है जो हिन्दी में प्रचलित हैं। कुछ घोर 'फारसी' 'अरबी' शब्दों के भी उदाहरण लीजिये—

( १ ) भोगत सुख 'अंबाह' मोह दुख होय न ताके।

( २ ) बोलन लगे 'नकीब' डंक अब तो तिहुँ बाजे।

( ३ ) 'जामा' जीरन भयो कहा अब सोवै दरजी।

( ४ ) तोरें मति तरु मूल तें फूल सहित हित 'नूर'।

इन चारों शुद्ध 'फारसी' के शब्दों में से प्रथम तो एकदम अप्रचलित है अंतिम तीन "अल्प प्रचलित" हैं।

( ५ ) करटन की "मिरियासि" रहैं या को सठ घेरे।

यह शब्द 'अरबी' का है। इसका शुद्ध रूप "मीरास" है जिसका अर्थ "पिता की संपत्ति ( बपौती )" है।

दीनदयाल जी आवश्यकतानुसार अन्य भाषाओं से शब्द उधार लेना अनुचित नहीं समझते थे। इसी कारण उनकी ब्रजभाषा में 'खड़ी-बोली' के भी अनेक प्रयोग हैं। अथवा यह भी कह सकते हैं कि सामयिक होने के कारण वे अपने को खड़ीबोली के प्रयोगों से बचा नहीं सके।

( १ ) बरनै दीनदयाल "रहैगि" न है यह सचला।

( २ ) या ठठेर मंजाहिका सुर सुनि "मोहैगी न"।

( ३ ) द्वै बन बिनै प्रपंच कहो को कूर "कहै है"।

तीसरा प्रयोग मेरठ के आसपास के प्रांत का है। कुछ लोग इन्हें शुद्ध ब्रजभाषा भी कहते हैं।

( १ ) कियो कुधातु महीस मुकुट "क्या" है चिंतामनि।

यहाँ 'क्या' के स्थान में 'का' बड़ी आसानी से हो सकता था। मात्रा की कमी वेशी भी बाधक नहीं हो सकती थी। इससे मालूम पड़ता है कि इनको खड़ी-बोली का प्रयोग केवल आवश्यकतानुसार ही नहीं करना पड़ता था। ब्रज-भाषा में खड़ीबोली का प्रभाव पड़ना स्वाभाविक था।

कवि लोग निरंकुश माने जाते हैं। दीनदयाल जी ने अपने इसी अधिकार का कम लाभ नहीं उठाया। पहला अधिकार कवियों को आवश्यकतानुसार शब्दों को विकृत करना है। कवि मात्रा या तुक अथवा गति के लिये शब्दों का रूप वदलने में स्वतंत्र है। पर इसका यह आशय नहीं कि कवि अंडबंड जैसा मन मानै वैसा ही रूप बिगाड़ दे। इतनी स्वतंत्रता भी कवि को नहीं है। शब्दों को विकृत करने में भी कवि स्वाभाविकता का सीमोल्लंघन नहीं कर सकता।

"अन्यदुच्छृङ्खलं सत्वमीयच्छास्त्रनियन्त्रितम्।

दीनदयाल जी ने भी शब्दों का रूप बदल दिया है। कहीं मात्रा के लिये रूप बिगाड़ा है तो कहीं तुक के लिये।

( १ ) या मैं फोकट नाम "अडंबर" सुनियत एकै।

यह शब्द केवल मात्रा कम करने के लिये विकृत किया गया। और भी देखिए—

( २ ) कहा भयो अलि मलिन हिय जो नहिं आदर "कीय"।

( ३ ) बरनै दीनदयाल छाँह मुद देति "अनेकै"।

( ४ ) महा समर या ठाँवँ चलै सर कुन्त "कृपानै"।

यहाँ 'कमनीय', 'एकै', और 'आनै" के तुक के लिये उक्त शब्दों का रूप विकृत करना पड़ा है।

तुकांत के लिये पुल्लिंग स्त्रीलिंग का भेद भी इन्होंने छोड़ दिया—

( ५ ) क्रूर न कोमल होहिं कला जो कीजै "केतो"।

'चेतो' के तुक के लिये 'केती' का 'केतो' कर दिया। 'कला' स्त्रीलिंग है। अतः इसका विशेषण भी स्त्रीलिंग ही होना चाहिए था।

( ६ ) बरनै दीनदयाल यथा मजनू मन "लैली"।

कह नहीं सकते कि यह परिवर्तन दीनदयाल जी ने क्यों किया? वे फ़ारसी के भी जानकार थे। अतः हमारी समझ में लैला को "लैली" "थैली" के तुकांत के लिये ही लिखा गया है। और 'ई'कार स्त्रीलिंगत्व के अत्यन्त संनिकट है भी।

( ७ ) "भौंरा!" अंत बसन्त के है गुलाब इहि रागि।

'भौंरा' शब्द का संबोधन में "भौंरे" होता है। पर 'तुकांत' के लिए भौंरा ही रहने दिया गया है। ऐसा तो इन्होंने अत्यधिक किया है और लोग भी करते हैं।

महात्मा सूरदास जी की भाँति इन्होंने भी बड़े बड़े विचित्र प्रयोग किए हैं। जैसे--

( १ ) बरनै दीनदयाल सरल को कछू न "देवत"।

( २ ) आछी भांति सुधारि कै खेत किसान "बिजोय"।

यहाँ "बीज बोना" के अर्थ में 'बिजोना' एक विचित्र क्रिया बना ली है।

( ३ ) भखत कुव्याल कराल "चाल या नहीं भली में"।

कई प्रयोग तो इतने अस्पष्ट हैं कि उनके अर्थ में धोखा हो जाता है। सहसा उनका कुछ और ही अर्थ जान पड़ता है पर वह किसी और ही अर्थ में प्रयुक्त किया गया है।

( १ ) ख्वारी दुहुं दिसि परी अरी "ग्वारी" पनिहारी।

यह शब्द "गँवारी" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। पर सहसा 'ग्वारी' शब्द से "ग्वालिन" का ही अर्थ ध्यान में आता है।

( २ ) सोहै नहिं "सज" सुमन ! तो अज ढिग नखरो नाज।

यहाँ "सज" शब्द "सद्यः" के अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है, पर अस्पष्ट है। 'सज' का अर्थ 'सज्ज्' धातु से 'सुन्दर' या 'सुसज्जित' भी लिया जा सकता है। इस प्रकार के अस्पष्ट प्रयोग भी एक नहीं अनेक हैं—

( ३ ) "दीने ही चोरत" अहो इन सम चोर न और।

( ४ ) एकै नाम न भूलि अलि "इतो कथन मंदार"।

( ५ ) हा ! किमि धारैं धीर बीर "या पीर कहूँ किस"।

कुछ अन्य भाषाओं के भी विलक्षण प्रयोग देखिए—

( १ ) "सरमैं लगे हैं" अवसर हैं समुझि यह...।

यह "शरमाने लगे हैं" के अर्थ में उर्दू का बड़ा विचित्र प्रयोग है।

( २ ) "भयो कि" मूढ़ द्रयो न जो सुनिकै पंचम नाद॥

यह एक और विलक्षण प्रयोग है जो बँगला से मिलता है। तुलसीदास जी ने भी एक स्थान पर ऐसा ही प्रयोग किया है—

"चेरि छांड़ि अब 'होब कि' रानी"॥

इन दोनों में "कि" का अर्थ "क्या" ( और क्या ) है। तुलसी और सूर की तरह संज्ञा शब्दों से क्रिया बनाना इन्होंने भी नहीं छोड़ा। कहीं कहीं तो वे प्रयोग बिलकुल स्वाभाविक हैं। वैसा करना कविता के लिये आवश्यक एवं समुचित भी है। देखिए—

( १ ) बरनै दीनदयाल दरसि पदद्वंद्व "अनन्दौं"।

( २ ) तैसे ही "अनुरागि" त्यागि मति मैली थैली।

( ३ ) इनहीं के मुख लखैं बैन इनके "अभिलाखैं"।

( ४ ) एक घोर बरजोर चोर "निंदै" दुखदानी।

ये सब स्वाभाविक हैं। इनको क्रियापद मानने में कोई आपत्ति भी नहीं जान पड़ती। किन्तु कुछ संज्ञाएँ तो ज़बर्दस्ती क्रिया बना दी गई हैं। ऐसी अवस्था में "निरंकुशाः कवयः" के अधिकार का दुरुपयोग ही कहना पड़ता है।

(१) बरनै दीनदयाल कहा खटपद ये "करमै"।

(२) सुनै कौन या ठौर जितै ये खल के "सोरैं"।

यहाँ 'कर्म' का बहुवचन और 'शोर' का बहुवचन बना देने में अनौचित्य है।

दीनदयाल जी ने 'सु' का प्रयोग भी बहुत किया है। "सु" आदि केवल पादपूरणार्थक ही नहीं होते। इनका समुचित प्रयोग भाषा में विशेष अर्थ का द्योतक भी होता है। संस्कृत के कवि च, खलु, किल, हि तु, इत्यादि शब्दों को भी केवल पादपूरण के लिए प्रयोग करने में दोष समझते हैं। कारण इससे कवि के शब्दकोष में कमी जान पड़ती है जिसके कारण कवि को अभीष्ट शब्द के अभाव में 'सु' आदि का प्रयोग करना पड़ता है। दीनदयाल जी में यह शैथिल्य भी कुछ न कुछ पाया जाता है। उदाहरण अनेक हैं—

(१) शिशिर 'सु' आप प्रसाद जगत सब ही सुख पावैं।

(२) जिन संसिन को सींच तुम करी 'सु' हरी बहार।

(३) कीजै गमन 'सु' मानसर।

(४) यह अन्योक्ति 'सु' कल्पद्रुम।

(५) बरनै दीनदयाल 'सु'-नाट्य कला सुर बाजा।

दीनदयाल जी की भाषा प्रौढ़ नहीं है। यह व्याकरण से तो अनेक स्थलों पर अशुद्ध है। इसका कारण यही कहा जा सकता है कि संस्कृत के धुरंधर विद्वान होने के कारण इनकी भाषा प्रौढ़ नहीं हो पाई। अपवाद सभी में होता है। किन्तु यह सर्वतोभाव से मान्य है कि संस्कृत के विद्वान प्रायः शुद्ध शुद्ध

हिन्दी लिखना तो दूर रहा बोल भी नहीं सकते। अतएव दीनदयाल जी के ग्रंथ में भी व्याकरण सम्बन्धी अशुद्धियों का रहना कोई आश्चर्य की बात नहीं। लिंग-वचन सम्बन्धी अशुद्धियाँ तो कई अन्योक्तियों में हैं। एक छंद में आद्यंत एक ही वचन का निर्वाह नहीं कर पाए हैं। क्रिया अलग वचन में है तो कर्ता अलग वचन में। एक ही पदार्थ के लिये यदि कहीं एक वचन का प्रयोग किया है तो उसी छंद में दूसरी जगह उसका बहुवचनांत प्रयोग किया है। ऐसा करके गिरि जी ने व्याकरण की विडंबना की है। एक सुकवि की कविता में यह बड़ा भारी दोष है। किन्तु जैसा कि हम कह चुके हैं इसमें दीनदयाल जी का उतना दोष नहीं जितना उनकी संस्कृतज्ञा का है। 'वचन' सम्बन्धी भूलों के उदाहरण लीजिए—

( १ ) बरनै दीनदयाल कुंद मिस तो "जस छाये"।

यहाँ 'जस' एकवचनांत है। उसके साथ 'छाये' बहुवचन की क्रिया का प्रयोग अशुद्ध है।

( २ ) 'जिन' 'तरु' को परिमल परसि लियो सुजस सब ठांव।
'तिन' भंजन करि आपनो कियो प्रभंजन नाम ॥

\+ + +

लै सुख सीतल छांह 'तासु' तोरयो जिन तरु को ॥

यहाँ एकवचनांत 'तरु' शब्द के लिये कहीं एकवचन 'तासु' और कहीं बहुवचन 'जिन' 'तिन' का प्रयोग चिंत्य है।

( ३ ) चातक 'प्यासे' 'रटि' 'मरे' 'तापर' परे पखान।

'प्यासे' और 'रटि मरे' बहुवचन में हैं। अतः यहाँ पर एकवचनांत 'तापर' की जगह में 'तिन पर' हो सकता था।

(४) 'ए' कागद के फूल सुगंध मरंद न "या" में।

(५) राही सोवत इत किते 'चोर लगैं' चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को "गिनै" नींद की स्वास।
लिए जात बनि मीत माल "ये" साँझ सवेरे
बरनै दीनदयाल न चीन्हत है तू "ताही"॥

— — —

(६) बहुत बिध "दुकानै" हैं 'लगीं' तू न जानै।
धनिक बहु बिधा के सोहते रूप 'जाके'॥

इन सबमें पहले जिन वस्तुतों को बहुवचन में लिखा है उन्हीं वस्तुओं का अंत में एकवचनांत प्रयोग किया है।

ऐसी बीसियों व्याकरण सम्बन्धी गलतियाँ इनमें भरी पड़ी हैं। किन्तु एक बात और है। इनके भाव ऐसे सुन्दर हैं, रचना-सौष्ठव इतना आकर्षक और मर्मस्पर्शी है कि ये सब दोष यकायक ध्यान में नहीं आते।

कुछ अशुद्धियाँ ऐसी हैं जिनको हम बनारसीपन कह सकते हैं। अतएव वे भूलें क्षम्य हैं। बनारस की एक खास विशेषता है कि यहाँ के लोग कई शब्दों का—जिन्हें सर्वसाधारण पुल्लिग मानते हैं—स्त्रीलिंगवत् प्रयोग करते हैं। उदाहरण के लिए "दही" शब्द को लीजिए। काशी में "दही मीठा है" के स्थान पर कहते हैं "दही मीठी है"। इसी प्रकार 'गुनाह', 'ढेर', 'अचंभा' ये सभी पुल्लिंग हैं, पर काशी में ये सब स्त्रीलिंग बोले जाते हैं। दीनदयाल जी भला बनारस के निवासी होते हुए इन दोषों से कैसे मुक्त हो सकते थे। उनके भी उदाहरण लीजिए—

(१) सबकी छमत 'गुनाह' नाह तुम सबके भूतल॥
(२) रही "राख" की "ढेर" जहाँ देखी वह सोभा॥
(३) बरनै दीनदयाल बात यह बड़ी "अचंभा"॥

इन सब दोषों के अतिरिक्त और भी कई दोष ऐसे हैं जो कान को खटकते हैं।

( १ ) काक—कोकिला—'ज्ञान' जात नहिं 'जाने' तौ लों।

'ज्ञान' के साथ पुनः 'जानना' क्रिया का प्रयोग व्यर्थ प्रतीत होता है।

( २ ) बरनै दीनदयाल नेह मैं नचो "नटीवत" ॥

यहाँ जीव पुल्लिंग की उपमा नटी स्त्रीलिंग से दी गई है जो अनुचित है।

( ३ ) रहे महा मुख बाय ग्रसन को भारी "ग्राहैं" ॥

'ग्राह' का बहुवचन' 'ग्राहैं' लिखा है जिससे ग्राह शब्द में स्त्रीलिंगत्व झलकता है। पर यह शब्द पुल्लिंग है।

( ४ ) कितै छप्यो तृन ओट में 'ससे' खोलि दृग देखि ॥

'शश' शब्द के लिये 'शशे' सम्बोधन भी हिन्दी में कुछ खटकता-सा है और स्त्रीलिंगत्व-द्योतक है।

( ५ ) जौ नहिं हन्यो पखान बन्यो तौ रूप अजौ लों ॥

'आज लौं' के अनुकरण से 'अजौं लों' भी गढ़ लिया गया है। ऐसा होना स्वाभाविक भी कहा जा सकता है।

कुछ शब्द और मुहावरे ऐसे भी हैं जो बोलचाल के होने पर भी कुछ खटकते से हैं—

( १ ) तोरै चोंच न क़ीर ! तू यह "पंजर है लोह"।

( २ ) तब देखिहौं "तरंग तोय" वह ग्रीषम आए ॥

यदि 'लोह पंजर' या 'तोय तरंग' होता तो षष्ठी तत्पुरुष बनकर अर्थ स्पष्ट हो जाता। यहाँ 'लोहे का पिंजड़ा' या 'तोय की तरंग' ये अर्थ लगाने में खींच-तान तो नहीं है पर हाँ 'भाषा की अनस्थिरता' अवश्य है।

(१) कब ह्वैहौ हरि उदय "तुमै बिन" लोक मलीने ॥

(२) "तुमैं बीच" सुचि जानि आनि घनस्यामहु छाजैं ॥

ये बनारसी प्रयोग हैं। अग्रवाल समाज में इनका प्रयोग अब भी होता है। 'तुम्हारे' के स्थान पर 'तुमारे' का प्रयोग स्वर्गीय पं० गोविंदनारायण मिश्रजी भी किया करते थे। 'तुम्हारे' की अपेक्षा 'तुमारे' जनता के उच्चारण के अधिक संनिकट है भी।

दो एक उदाहरण अन्वय दोष के भी लीजिए। कहीं कहीं तो अन्वय के लिये व्यर्थ खींचातानी करनी पड़ी है।

(१) लेहु कलंक न कंद पालि दलि जिन संसिन को।

इसकी रचना में बहुत शिथिलता है। तात्पर्य स्पष्ट होने पर भी शब्दों का ठीक ठीक पारस्परिक सम्बन्ध नहीं ज्ञात होता।

(२) बरनै दीनदयाल बकन हटि तू बरजो मैं।
सरसैं समुझि न हंस कुसंगति को सर ! तो मैं ॥

इन दो पंक्तियों का संगठन भी बड़ा विचित्र है। ठीक ठीक अन्वय किसी प्रकार भी नहीं बैठता, खींचतान भले ही करलें।

यति-भंग आदि दोष इनकी कविता में नहीं के बराबर पाए जाते हैं। एक आध स्थल पर होना नगण्य ही है—

एहो तोख कुलोभ तम-को तौ लों है बास।

दोहे के विषम चरणों की यति तेरहवीं मात्रा पर होती है। तदनुसार 'तम' शब्द में यति पड़ती है। पर 'तम' शब्द की 'को' विभक्ति दूसरे चरण में चली गई है। अतएव यहाँ 'यति-भंग' दोष है।

———

## ( आ ) भाव

हम ऊपर कह चुके हैं कि भाषा कविता का आधार मात्र है। कविता में मुख्य वस्तु "भाव" है। भाव ही कविता की जान है। भावहीन आडंबरपूर्ण लच्छेदार भाषा को हम काव्य-संज्ञा ही नहीं दे सकते। भला प्राणहीन शरीर को मनुष्य कौन कह सकता है? हृदय कल्पनाओं का स्रोत है। अध्ययन एवं नाना प्रकार के अनुभवों के कारण हमारे हृदयों में विविध कल्पनाओं का उद्रेक होता है। हृदय की उन कल्पनाओं की अभिव्यक्ति को ही "भाव" कहते हैं। अनुभवी को इन सुन्दर भावों के लिये कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता। माथापच्ची करके सोचने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। हृदय की अनुभूति होने के कारण स्वतः उनका आविर्भाव होता है। अतएव उनमें स्वाभाविकता रहती है। भाव-स्रोत सरितास्रोत की भाँति है। जैसे नदी सरस स्थल से स्वयं—बिना खोदे खादे—निकलती है वैसे ही "भाव" भी किसी "सरस-हृदय" से स्वतः निकल पड़ते हैं। उन्हें गढ़ने की ज़रूरत ही नहीं पड़ती। बड़े सोच विचार के बाद गढ़े हुए विचार अस्वाभाविक होने के कारण बड़े भद्दे होते हैं। उनमें चमत्कार का भी सर्वथा अभाव रहता है। बाज़ार के झूठे मोतियों की भाँति उनका कोई मूल्य नहीं होता और वे हृदय की सहज उपज के सामने ठहर नहीं सकते। जिस कविता में ऐसे भोंड़े भाव भरे हों वह कविता निम्न श्रेणी की होती है। जहाँ स्वाभाविकता कविता का मुख्य अंग ही है वहाँ कृत्रिमता उसके लिये भार-स्वरूप है। जो कवि किसी सहृदय के हृदय में अपने भावों को प्रकट करने में समर्थ होता है वही "सुकवि" है।

दीनदयाल जी ऐसे ही सुकवियों में से हैं। इनका अध्ययन बहुत बढ़ा चढ़ा था ही, साथ ही इनका सांसारिक अनुभव भी इनके पुस्तकीय ज्ञान से किसी प्रकार कम नहीं कहा जा सकता। यही कारण है कि जैसी स्वाभाविकता इनकी

कविता में पाई जाती है वैसी बहुत कम कवियों में होती है। इसी अपेक्षित स्वाभाविकता के कारण इनका एक एक पद्य हिन्दी-साहित्य का एक अनूठा रत्न है। एक बात और भी ध्यान देने योग्य है। बिना हृदय की सच्ची अनुभूति के अन्योक्तियाँ कही नहीं जा सकतीं। जब हम किसी व्यक्ति में कोई त्रुटि देखते हैं तभी उसको उपदेश दे सकते हैं। जब किसी व्यक्ति के क्षुद्र व्यवहार के कारण हमारे हृदय में मर्मांतक आघात पहुँचता है तभी हम उसको उपालंभ दे सकते हैं। अतएव अन्योक्तियों में स्वाभाविकता का न होना ही अस्वाभाविक है। दीनदयालजी की अन्योक्तियाँ स्वाभाविकता की साक्षात् मूर्ति ही हैं, इनके विस्तृत लोकानुभव की सजीव प्रतिकृति हैं। कतिपय उदाहरण देखिए—

संसार स्वार्थमय है। स्वार्थ साधन के लिये मनुष्य नीचातिनीच काम करने से भी नहीं चूकता। स्वार्थी व्यक्ति अंधा हो जाता है, स्वार्थ के अतिरिक्त और कुछ देखता ही नहीं। जिससे हमारा स्वार्थ सधता है उसके अपराधों पर दृष्टि ही नहीं पड़ती। अपने उपकारी की डाँट-डपट भी सहनी ही पड़ती है। दीन-दयाल जी इसी सिद्धांत को "अग्नि" पर घटाकर कहते हैं—

भीखन दुसह सुभाव तुव सुनो अनल जग माहिं।
करत कोटि अपराध हो तऊ तजत कोउ नाहिं॥
तऊ तजत कोउ नाहिं बगर पुर नगर जरावत।
हित सों वल्लभ मानि तुमैं ढूँढ़न को जावत॥'
बरनै दीनदयाल तेज सब करैं निरीखन।
तुम बिन सरै न काज जदपि जग हौ अति भीखन॥

आग के बिना हमारा कुछ भी काम नहीं चल सकता। फिर हमको उससे हानि ही क्यों न उठानी पड़े, हम उसे छोड़ नहीं सकते। ठीक भी है। ग़रज़ हमारी। बिना आग के हमारी निभ भी तो नहीं सकती।

कृतघ्न जिस पत्तल में खाता है, उसी में छेद करता है। जिस व्यक्ति से उसको लाभ पहुँचता है उसीका सर्वनाश करने पर उतारू हो जाता है। पर कृतघ्नता का परिणाम कभी अच्छा नहीं हो सकता। "बड़ी अदालत" से उसको कृतघ्नता का दंड मिल ही जाता है—

जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सब ठाँव।
तिन भंजन करि आपनो लियो प्रभंजन नाम॥

+ + +

बरनै दीनदयाल सेउ अब खल! मरुथल को।
लै सुख सीतल छाँह तासु तोरयो जिन तरु को॥

"वसंत में जिन वृक्षों के पुष्पों के पराग के संस्पर्श से वायु को लोग 'मलयानिल' कहते थे ग्रीष्म में उन्हीं वृक्षों का "भंजन" करने के कारण उसी हवा का नाम "प्रभंजन" पड़ गया। बदनामी तो उठानी ही पड़ी, साथ ही मरुस्थल में भी रहना पड़ा"। दीनदयाल जी ने "विधि" अलंकार द्वारा उक्त सिद्धांत को बड़ी ही खूबी के साथ समझाया है। अलंकारों की उपयोगिता का यह भी एक अति उत्तम दृष्टांत है।

क्षुद्र व्यक्ति बड़े लोगों का तो कुछ भी नहीं बिगाड़ सकते, किन्तु उनके सम्बन्धियों वा आश्रितों पर ही अत्याचार करने में अपना पुरुषार्थ समझते हैं। इसके विपरीत उच्चाशय, उदार व्यक्ति अपने शत्रु के आश्रितों और सम्बन्धियों पर भी कृपा-दृष्टि रखते हैं। फल यह होता है कि महाशयों की बड़ाई होती है और नीच व्यक्ति पर कलंक लगता है—

मित्र नाम को दीप लघु कहा करै रे नास।
वे वरु तो अभिधान को अधिकौ करत प्रकास॥

अधिकौ करत प्रकास भलाई उनकी छाई।
त्रिभुवन भवन मँझार पूजि सब करैं बड़ाई॥
बरनै दीनदयाल करै तू कौन काम को।
रही कारिखी छाय जराय न मित्र नाम को॥

'पतंग' और 'दीप' के श्लेष से कवि ने यह बात बड़ी सुन्दरता से समझा दी है। दीये के लिये 'रे' और 'तू' एवं सूर्य के लिये 'वे' और 'उनकी' के प्रयोग भी काव्य-कुशलता के परिचायक हैं। 'रे' और 'तू' के प्रयोग दीये के प्रति कवि की घृणा के द्योतक हैं, तथा 'वे' और 'उनकी' के प्रयोग सूर्य के लिये सम्मान सूचित करते हैं।

मालूम पड़ता है कि दीनदयाल जी के समय में भी आधुनिक "चंदाबहादुरों" की कमी नहीं थी, अपने नाम के लिये बड़ी बड़ी सभा-सोसाइटियों में चंदा देने में सभी मुक्तहस्त हो जाते थे, पर जिनको उनके दान की सबसे बड़ी आवश्यकता होती थी अथवा जो पूर्णतया उनके ही आश्रित रहते थे, उन्हीं पर निर्भर रहते थे, वे भूखों मरते थे। दीनदयाल जी ऐसी बात भला कब पसन्द कर सकते? संन्यासी की भाँति तटस्थ वृत्ति से ऐसे व्यक्ति को उपालम्भ दे ही तो दिया—

जग को घन तुम देत हौ गँजि कै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान॥

× × ×

उपदेश का उपदेश, उलहने का उलहना, किसी को बुरा भी नहीं लग सकता। यदि समझदार व्यक्ति होगा तो सँभल भी जायगा। "जीवन" शब्द ने इस पद्य में और भी "जीवन" डाल दिया है।

दीनदयाल जी "नाम बड़े दर्शन थोड़े" ऐसे टाइटिल-धारियों से भी बहुत चिढ़ते थे। उनका यह सिद्धान्त था कि नाम के साथ गुणों का होना भी परमावश्यक है—

एकै नाम न भूलि अलि इतो कथन मंदार।
वह औरै मन्दार है करनी जासु उदार॥
करनी जासु उदार देत अभिमत फल वे तो।
यातें ठगे सुकादि कला करि हारे केतो॥
बरनै दीनदयाल सुखद गुन उन्हें अनेकै।
यामैं फोकट नाम अडंबर सुनियत एकै॥

आजकल के टाइटिल-धारियों पर ये बातें स्पष्ट घटित होती हैं। नाम में 'ए' (A) से 'जेड' (Z) तक सभी अक्षर आजाने चाहिये चाहें गुण खाक भी न हों।

केवल नामसाम्य से ही कोई बड़ा नहीं हो सकता। बड़ा तो तब कहा जा सकता है जब बड़ों के योग्य गुण भी हों। केवल वेश-भूषा से ही अथवा नाम-समता से ही प्रत्येक का विश्वास न करना चाहिए—

रसना ए तो दसन हैं सुनि द्विज नाम न मोहि।
इन्हें न पंडित मानिए खंडित करिहैं तोहि॥
× × ×
ऊपर उज्ज्वल रूप देखि मति मोहैं रसना॥

'द्विज' कहने से ही दाँतों को ब्राह्मण या पण्डित मान लेना महा-मूर्खता है। सोना और धतूरा दोनों को 'कनक' कहते हैं। पर क्या नाम-समता से धतूरा सोने का काम दे सकता है *

* "कनक धतूरे सों कहत गहनो गढ़ो न जाय"—बिहारी।

गुणों की 'कद्र' गुणग्राही के अतिरिक्त कौन कर सकता है? गुणों की प्रशंसा करने के लिये सहृदयता एवं उदारता अत्यावश्यक हैं। नीरस एवं मत्सरतापूर्ण हृदय गुणों को पहिचान नहीं सकते। हृदयहीन लोगों पर गुणों का कुछ भी प्रभाव नहीं पड़ सकता। ऐसे लोगों के सामने अपनी कला प्रकाश करना निपट निरर्थक है—

अहे बजंत्री हरिन-भ्रम कहा बजावे बीन ॥
या ठठेर-मंजारिका सुर सुनि मोहैगी न ॥
सुर सुनि मोहैगी न सुने इन ठक ठक बाजैं।
कितो थको करि कला अजौं नहिं आवत लाजैं ॥
बरनै दीनदयाल कहा याके ढिंग तंत्री।
ह्याँतैं होय निरास जाय घर अहे बजंत्री ॥

ठठेरे की बिल्ली जो रात दिन 'ठक ठक' सुना करती है भला वह बीणा की क्या 'कद्र' करेगी? वह 'मृग' नहीं है जो बीणा के नाद पर भूल कर अपने को ही निछावर करदे।

यह "कवि-प्रौढ़ोक्ति" है कि अशोक तब तक नहीं फूलता जब तक किसी तरुणी का पदस्पर्श न हो।* इसी बात को एक कवि बड़ी मार्मिकता से कहता है—

तिय बस होहिं न चतुर नर, ते दुर्लभ तिहुँ लोक।
फूलत कामिनि पद परस आनँद मगन असोक ॥

इसी 'कवि-प्रसिद्धि' की आड़ में दीनदयाल जी भी अशोक को फटकारते हैं—

---

*पादाघातादशोको विकसति वकुलो योषितामास्यमद्यैः ॥

सेवत तुम्हें असोक यह, माली गयो बुढ़ाय।
अधिकै कियो ससोक तुम, फोकट नाम सुनाय ॥

\+ + +

लगे "बाम-पद" अहो फूल अभिराम धरै है ॥

\+ + +

दिन सदा किसी के भी एक-से नहीं रहते। जो एक दिन राजा था वह आज रंक होकर दरदर का भिखारी है और जो जन्म का दरिद्र था वह आज लक्ष्मी का कृपापात्र बनकर सुख से दिन काट रहा है। संसार का इतिहास इस सिद्धांत का साक्षी है—

सब दिन होत न एक समान।
दुख सुख जीवन भोगहि मानो दो दिन की गुजरान ॥
—तुलसी ॥

सदा सुखी या निरंतर दुःखी कोई नहीं रह सकता। सुख के बाद दुःख, दुःख के पश्चात् सुख "चक्रवत्" परिवर्त्तित होते रहते हैं। यही इस दुःखमय संसार का अटूट नियम है। दीनदयाल जी भी इस सिद्धांत के परिपोषक हैं। उनको दृष्टांत के लिये पुराण-इतिहासों की शरण न लेनी पड़ी। राजा हरिश्चन्द्र, श्रीरामचन्द्र आदि के उदाहरण न देकर वे प्रकृति में ही इस सिद्धांत को घटाते हैं—

जहँ धरि पीत पराग पट बर सम कियो बिहार।
तिहि बन पवन जती भयो रमत रमाए छार ॥
रमत रमाए छार घोर ग्रीषम दव लागे।
दुख में मधुकर सखा संग सबही तजि भागे ॥

बरनै दीनदयाल रही छवि कुसुमाकर भरि।
दूलह बन्यो समीर रम्यो पट पीरो जहँ धरि॥

जो 'पवन' बसंत ऋतु में दूल्हा बना हुआ था वही आज समय के फेर से ग्रीष्म ऋतु में दूल्हा बनकर भटकता फिरता है। बलिहारी है इस कालचक्र की!

सर्वसम्मत से यही बात अधिक मान्य है कि "अनेक गुणों के समुदाय में एकाध अवगुण छिप जाते हैं।" यही बात हम प्रत्यक्ष देखते भी हैं। प्राचीन एवं अर्वाचीन कवियों ने खुले हृदय से इस सिद्धांत का समर्थन किया है—

( १ ) अनंतरत्नप्रभवस्य यस्य हिमं न सौभाग्यविलोपिजातम्।
"एको हि दोषो गुणसन्निपाते निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः॥"

—कालिदास ( कुमारसंभव )

( २ ) एक दोष गुण पुंज में होत निमग्न 'मुरार'।
जैसे चन्द मयूख में अंक कलंक निहार॥

मुरारदान

इसी सिद्धांत का आधार लेकर इसके ठीक विपरीत मत का स्थापन करके दीनदयाल जी ने अपनी "मौलिकता" की सिद्धहस्तता दिखलाई है। वे कहते हैं कि "एक ही साधारण दुर्गुण सब सद्गुणों को मिट्टी में मिला देता है।"

( १ ) जग में प्रगट, नसाहिं एक ऐगुन तें बहुगुन॥
( २ ) ये सब गुन के जाल जाहिंगे अजस गली में॥

हमारी समझ में ये दोनों ही मत युक्तिसंगत हैं। बहुत सद्गुणों में एक साधारण दोष का छिप जाना जितना ही सम्भव और सत्य है उतना ही एक बड़े भारी अवगुण का गुणों पर विजय पाना भी।

\+ \+ \+

हम कह चुके हैं कि यह "मुक्तक" काव्य है। इसके एक एक पद्य में काव्य का सहज गुण रमणीयत्व होना ही चाहिए। अतः किसी एक पद्य को विशेष चमत्कारयुक्त कहना दूसरे के साथ अन्याय करना है। तब भी लोगों की रुचि भिन्न भिन्न होती है। किसी को कुछ रुचता है, किसी को कुछ।

दधि मधुरं मधु मधुरं द्राक्षा मधुरं तथा सितापि।
तस्य तदेव हि मधुरं यस्य मनो यत्र संलग्नम्॥

यही बात हम इस ग्रन्थ के विषय में भी कह सकते हैं। किसी को कोई पद्य-विशेष रमणीय जान पड़ता है तो किसी को कोई। तथापि कुछ स्थल ऐसे भी हैं जो प्रत्येक सहृदय के हृदय को समान रूप से आकृष्ट करते हैं। "पथिक" संबंधी कतिपय पद्य और "शांत-शृंगार-संगम" ये दोनों प्रकरण ऐसे ही स्थल विशेष हैं। इस विषय में कई लोगों से हमारा मतभेद हो सकता है। पर इससे हमारा यह अभिप्राय कदापि नहीं कि अन्य प्रसंग अरोचक हैं। अस्तु।

पथिक-प्रसंग में साधारण यात्री पर घटा कर संसार-यात्रा के पथिक के लिए बड़े ही सुन्दर उपदेश भरे पड़े हैं, जो एक संन्यासी के हृदय के स्वाभाविक उद्‌गार हैं। इस बात को सभी खुले हृदय से स्वीकार करते हैं कि वासना ही दुःखों का मूल स्रोत है। इसी लिए संन्यासी लोग सबसे पहले वासना-त्याग का उपदेश करते हैं। वासना ठगिनी है। यह मनुष्य को लालच देकर कुपथ में ले जाती है और जब वह अच्छी तरह भूलभुलैया में फँस जाता है तब उसको दुःख के कूप में ढकेल देती है। बिना वासना-विसर्जन किए सुखों की आशा "आकाश-कुसुम" है। दीनदयाल जी कहते हैं—

जैये गैल सुछैल बनि पथी सुपन्थ बिचार।
भ्रमो न ठगिनी मारिहै तुमैं ठगोरी डारि॥
तुमैं ठगोरी डारि छीनि सब ही धन लैहै।
महा अंध बन कुप बीच या नीच छपैहै॥
बरनै दीनदयाल लाल निज माल बचैये।
अहै ठगन को पुञ्ज कुञ्ज इत गुनकै जैये॥

मरने पर कोई अपना साथ नहीं देता। इसी जन्म भर का साथ है, फिर सब अपनी अपनी राह नापेंगे। दूसरे जन्म में साथ होने की कोई आशा नहीं। इस लिये जब तक जीवन है तब तक एक दूसरे से मिलजुल कर रहना चाहिये। न जाने फिर भेंट हो या न हो—

कोई सङ्गी नहिं उतै है इत ही को सङ्ग।
पथी लेहु मिल ताहि ते सबसों सहित उमङ्ग॥
सबसों सहित उमङ्ग बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव संजोग फेर यह मिलि है नाहीं॥
बरनै दीनदयाल पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल पथी जैहैं सब कोई॥

दीनदयाल जी ऐसे वीतराग संन्यासी समय समय पर इसी प्रकार संसार की असारता का दिग्दर्शन कराते हुए हेल-मेल से रहने का उपदेश देते आए हैं। पर अभागा भारतवर्ष इस उपदेश की अवहेलना ही करता आया, जिसका फल भी उसको आज दिन भरपूर भोगना पड़ रहा है।

× × ×

"शांत शृङ्गार-सङ्गम" में कवि ने दो विरोधी रसो का एकत्र समावेश करके कमाल कर दिया है, कविकौशल की पराकाष्ठा दर्शाई है। हमें तो यही

प्रसङ्ग सब से बढ़कर जान पड़ता है। इसका एक एक पद्य निराला और हिन्दी-साहित्य का स्थायी अमूल्य रत्न है। प्रत्यक्ष रूप से कवि किसी कुलीन स्त्री को उपदेश करता है, अपने पति को रिझाने का उपाय बताता है। स्त्रियों के लिये ये उपदेश सर्वथा मान्य हैं। पर दीनदयाल जी का लक्ष्य केवल स्त्रियों को उपदेश देना तो था ही नहीं। वे थे संन्यासी। केवल स्त्रियों या पुरुषों का ही पक्ष लेने की उन्हें कोई आवश्यकता न थी। वे "एक पन्थ दो काज" के सिद्धांत पर चलते थे। उनका उपदेश मनुष्यमात्र के लिये है, स्त्रियाँ केवल अपने ही लिये समझ कर लाभ उठालें तो अच्छी बात है। एकाध उदाहरण लीजिये—

इस संसार में थोड़े ही दिन रहना है, अन्त में उसी परमेश्वर से मिलना है। इसलिये यौवन मद में न भूलो, और ऐसे ऐसे सद्गुणों से अलंकृत होओ जिससे परमेश्वर प्रसन्न होवे। इसी बात को दीनदयाल जी नायिका पर घटाकर इस ढंग से कहते हैं—

भूले जोबन के न मद अरी बावरी बाम।<br>
यह नैहर दिन चार कों अन्त कन्त सों काम॥<br>
अन्त कंत सों काम तंत सबहीं तजिदै री।<br>
जातें रीझै नाह नेह नव तातें कै री॥<br>
बरनै दीनदयाल भूष भूषन अनुकूलै।<br>
चलि पिय गेह सनेह साजि लखि देह न भूलै॥

यह संसार गुड़ियों का खेल है। जन्म भर विषय वासनाओं में फँसे रहें, समय का कुछ मूल्य न जाना। अब पिय (ईश्वर) के निकट जाने का—मरने का—समय निकट है। अब भी सँभल जा, परमेश्वर को रिझाने वाले गुण सीख ले, नहीं तो पछताने के सिवाय कुछ हाथ नहीं आएगा—

गौने को दिन निकट अब होन चहै पिय मेल।
अजहूँ छुटो न तोहि री गुड़ियन को यह खेल॥
गुड़ियन को यह खेल खेलि सब समै बिगारे।
सिखे नहीं गुन कछू पिया-मन मोहनवारे॥
बरनै दीनदयाल सीख पैहै पिय भौने।
ए री भूषन साजि भटू दिन आवत गौने॥

इस प्रकरण के सभी पद्यों में अध्यात्मवाद या रहस्यवाद भरा है। बुद्धि को स्त्री और परमेश्वर को पति मानकर मनुष्य मात्र को बड़े ही हृदयस्पर्शी उपदेश दिए गए हैं। इन उपदेशों में कृत्रिमता छू भी नहीं गई है। एक संन्यासी के लिये ऐसे उपदेश देना अत्यन्त स्वाभाविक है। शृंगार रस के वर्णन में वैराग्य का उपदेश करने का ढंग भी बड़ा ही सुन्दर है। ऐसा केवल दीनदयाल जी ने ही नहीं किया, उनके प्रथम भी बहुत से महाकवि ऐसा कर गये हैं। कबीर साहब और मलिक मुहम्मद जायसी इनमें से मुख्य हैं—

इस प्रकार के कथन में दीनदयाल जी उक्त कवियों से किसी प्रकार घट कर नहीं हैं। जैसा कि हम पहले दिखला चुके हैं। इन दो प्रसंगों के अतिरिक्त अन्य बहुत से स्थलों में उन्होंने अध्यात्मवाद कहा है और सफल भी हुए हैं। सारांश यह कि दीनदयाल जी के भाव उनके हृदय के स्वाभाविक उद्गार हैं और उनके व्यापक ज्ञान एवं विस्तृत लोकानुभव के पूर्ण परिचायक तथा मर्मस्पर्शी हैं।

## ( इ ) तुलनात्मक

दो समान श्रेणी के पदार्थों में ही तुलना हो सकती है। प्रत्येक कवि का क्षेत्र अपने ढंग का निराला होता है। अतएव विभिन्न क्षेत्रवाले कवियों का

मिलान करना नितांत असमीचीन है। तुलनात्मक समालोचना का प्रयोजन यही नहीं है कि हम किन्हीं दो कवियों को—चाहे उनका क्षेत्र भिन्न ही क्यों न हो—एक ही तुला में तौल कर उनके गुरुत्व या लघुत्व का अनुमान करके उनकी श्रेणी बाँध दें अथवा उनका स्थान नियत कर दें। दो समान श्रेणी के कवियों में ही तुलना हो सकती है। इस सिद्धांत को दृष्टि-कोण में रखकर जब विचार करते हैं तो हमको हिन्दी-साहित्य-संसार में कोई भी कवि या महाकवि ऐसा नज़र नहीं आता जिससे दीनदयाल जी की तुलना की जा सके। कारण दीनदयाल जी का कविता-क्षेत्र अनोखा है और हिन्दी के अन्य कवियों से सर्वथा भिन्न है। अतएव दीनदयाल जी के ग्रंथ की तुलनात्मक आलोचना नहीं हो, सकती। हाँ, भावसाम्य अलबत्ता दिखाया जा सकता है।

भाव-साम्य के कई कारण हैं। एक ही विषय पर मनन करने से अनेक व्यक्तियों के मन में एक ही प्रकार के भावों का उदय होना स्वाभाविक है। "संवादास्तु भवन्त्येव बाहुल्येन सुमेधसाम्" के अनुसार कवियों के भाव आपस में स्वत:—बिना किसी प्रयत्न के—टकरा ही जाते हैं। काव्यों का अध्ययन करने से भी प्राचीन कवियों के भाव मन में घर कर लेते हैं और कविता करते समय वे ही भाव अनजाने हृदय से निकल पड़ते हैं। एक कारण और भी है। कविलोग प्रायः प्राचीन कवि की सूक्ति को अपनाकर उसमें कुछ उत्कृष्टता या नवीनता ले आते हैं। तब यह भाव परकीय नहीं रह जाता। कवि उसमें निजत्व की छाप लगा देता है। सारांश यह कि उक्त तथा और भी कई कारणों से कवियों में भावसाम्य होना अनिवार्य सा हो जाता है। इच्छा रखते हुए भी कवि अपने को भावसाम्य से बचा नहीं सकता। भावापहरण कई प्रकार से होता है। किसी कवि के भाव लेकर उसमें कुछ भी नूतनता लाए बिना केवल अपने शब्दों का आवरण मात्र दे देना या तो "अनुवाद" है या "भावों

की चोरी।" इनमें से पूर्व में कुछ कौशल अवश्य होता है, उत्तर सदा गर्ह्य है। इसके विपरीत "छायापहरण" में बड़ी प्रतिभा की आवश्यकता है। अपने पूर्व कवियों के भावों की छायामात्र लेकर उसको अपने ढाँचे में ढालना "छायापहरण" कहलाता है। इस छायापहरण से तो किसी भी भाषा के महाकवि तक नहीं बचने पाए। इसी से कहते हैं कि "छायामपहरति कविः"। कवि अपने पूर्ववर्त्ती कवियों के भावों की छाया लेते ही हैं।

१—दीनदयाल और संस्कृत कवि।

हम पहिले कह चुके हैं कि दीनदयाल जी संस्कृत के प्रकांड विद्वान् थे। अतएव उनकी कविता में संस्कृत कवियों की छाया का होना स्वाभाविक ही है। उनकी अधिकांश अन्योक्तियाँ संस्कृत श्लोकों के आधार पर बनी हैं। नीचे हम कतिपय अन्योक्तियाँ उद्धृत करते हैं जिनका संस्कृत कवियों से "भाव-प्रतिबिम्ब-भाव" हो गया है।

(१) ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैर्दिनकृता दग्धोऽपि यश्चातकः।
त्वां ध्यायन्घन वासरान् कथमपि द्राघीयसो नीतवान्॥
दैवाल्लोचनगोचरेण भवता तस्मिन्निदानीं यदि।
स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा तत्कम्प्रति ब्रूमहे॥
—पण्डितराज जगन्नाथ।

पण्डितराज जगन्नाथ जी ने जिस भाव को एक ही "शार्दूलविक्रीडित" में कह दिया है उसी भाव को स्पष्ट करने के लिये दीनदयाल जी को तीन अन्योक्तियाँ कहनी पड़ी हैं। अथवा यों भी कहा जा सकता है कि उक्त श्लोक की छायामात्र लेकर दीनदयाल जी ने तीन कुँडलियाँ कह डाली हैं। सब में नूतनता है।

भीखन ग्रीषम ताप तें भयो झाँवरो छीन ।
है यह चातक डावरो अनुग रावरो दीन ॥
अनुग रावरो दीन लीन आधीन तिहारे ।
कहै नाम वसु जाम रहै घनस्याम निहारे ॥
बरनै दीनदयाल पालिए लखि तप तीखन ।
सरी सरोवर सिंधु काहु इन माँगी भीख न ॥

इस कुँडलिया में श्लोक के पूर्वार्द्ध का ही भाव आ सका है। पर "ग्रीष्मे भीष्मतरैः करैः,.....।" में जो बात है वह "भीखन ग्रीषम ताप तें" में नहीं है। श्लोक का "दग्धोऽपि" शब्द कवि की विदग्धता का नमूना है। इससे प्रेमी का कष्ट-बाहुल्य व्यंग्य है। इसी प्रकार "कथमपि" शब्द भी बड़े कमाल का है। प्रेमी अपने प्रेमपात्र से मिलने की आशा में ही "कथमपि" अपने कष्टमय दिनों को घसीटता है, यही भाव व्यंजित होता है। पर कुँडलिया में इस चमत्कार का अभाव है। इसके बाद श्लोक के उत्तरार्द्ध में "तत्कम्प्रति ब्रूमहे" से चातक की—अपने प्रेमी के प्रेम से वंचित प्रेमपात्र की—नितांत निराशा प्रकट होती है। इसके विपरीत कुँडलिया के अन्तिम दो पदों में कवि चातक के कष्टों पर सहानुभूति दर्शाते हुए बादल से अपनी ओर से उसपर कृपा-दृष्टि करने की सिफरिश करता है। श्लोक के "स्वीचक्रे करकानिपातनकृपा" को ही लेकर दीनदयाल जी ने दो कुँडलियों में बादल को उसकी अविचार-शीलता के कारण क्या ही सुन्दर उलहना दिया है—

( अ ) गज को घन तुम देत हौ गँजिकै जीवन दान ।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान ॥

(आ) आयो चातक बूँद लगि सब सर सरित बिसारि।
चहियत जीवनदानि ! तिहि निरदै पाहन मारि॥

× × ×

(२) अस्ति यद्यपि सर्वत्र नीरं नीरज-मंडितम्।
रमते न मरालस्य मानसं मानसं विना॥

—सुभाषितरत्नभाण्डागारम्

हितकारी मानस बिना नहीं हंस चित चैन।
छिन छिन व्याकुल बिरहबस सोचत है दिन रैन॥

× × ×

बरनै दीनदयाल मरालहिं संकट भारी।
मानस और न चहै बिना मानस हितकारी॥

श्लोक में हंस का मानसरोवर के प्रति अकारण प्रेमातिशय व्यंजित है, पर कुंडलिया में मानसरोवर के प्रति हंस का प्रेम होने का कारण सविस्तार कहा गया है।

(३) अपसरणेव शरणं मौनं वा तत्र राजहंसस्य।
कटुवदति निकटवर्ती टिष्टिट्टिभो यत्र॥

—सु० रा० भा०।

कीजे गमन सु मानसर यह दुखदायक ताल।
हंस बंस अवतंस हौ मौन गहौ इहि काल॥
मौन गहो इहि काल काक बक खल या ठावैं।
अति कठोर बरजोर सोर चहुँओर मचावैं॥
बरनै दीनदयाल इनै तजि सुख सों जीजै।
सठ संगति अति भीति भूलि तहँ गमन न कीजै॥

भाव दोनों का एक ही है। कुंडलिया में क्षेत्र अधिक होने से वही बात खुलासा करके कही गई है। इसमें संदेह नहीं कि कुंडलिया लिखते समय दीनदयाल जी के ध्यान में उक्त श्लोक अवश्य ही रहा होगा।

(४) वातोल्लसित कल्लोल धिक् ते सागर गर्ज्जितम्।
यस्य तीरे तृषाक्रान्तः पान्थः पृच्छति वापिकाम्॥

—सु० र० भा०।

गरजै बातन तें कहा धिक नीरधि गंभीर।
बिकल बिलोकैं कूप पथ तृषावंत तो तीर॥
तृषावंत तो तीर फिरैं तुहि लाज न आवै।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै॥
बरनै दीनदयाल सिंधु तोकों को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात बृथा बातन तें गरजै॥

कुंडलिया के दोहे में ही श्लोक का पूरा भाव स्पष्ट हो गया है, रोला के अंतिम चार पद केवल कुंडलिया की पूर्ति के ही लिये हैं। "बातन" और "तरंगी" श्लिष्ट शब्दों से पद्य खिल सा गया है।

(५) रक्ताक्तयन्नखरकोटिनिभाः दभानाम्।
यूथाः पलाशवनतोऽपि पलाय्य जग्मुः॥
सिंहस्य तस्य जरतो विषमा दशा यद।
गोमायवैरयवैरपि नास्ति वृत्ति॥

—जल्हण।

टूटे नख रद केहरी वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइकै यह दुख दियो बढ़ाय॥
यह दुख दियो बढ़ाय चहूँ दिसि जंबुक गाजैं।
ससक लोमरी आदि स्वतंत्र करैं सब राजैं॥

बरनै दीनदयाल हरिन बिहरैं सुख लूटे।
पंगु भयो मृगराज आज नख रद के टूटे॥

दोनों का भाव एक ही है, किन्तु कुंडलिया की शब्दावली बड़ी आकर्षक है। उसमें श्लोक की अपेक्षा सिंह की वृद्धावस्था का करुणापूर्ण दृश्य खींचने में अधिक सफलता प्राप्त हुई है।

(६) बीजेरंकुरितं लताभिरुदितं वल्लीभिरुज्जृम्भितम्।
कन्दैः कन्दलित जनैः प्रमुदितं धाराधरे वर्षति॥
भ्रातश्चातक पातकं किमपि ते सम्यङ् न जानीमहे।
येनास्मिन्न पतन्ति चञ्चुपुटके छिन्नाः पयो बिन्दवः॥
—सु० र० भा०।

बरषा भरि बरषत धरा धाराधर धरि धीर।
कहा दोख चातक तिनै तो मुख परयो न नीर॥

कुंडलिया से श्लोक में भाव अधिक स्पष्ट और सुन्दर है। "भ्रातश्चातक पातकं किमपि ते" से चातक के प्रति सहानुभूति दर्शाई है, और "छिन्नाः पयो बिन्दवः" से उसकी दयनीय दशा का बड़ा ही अच्छा चित्रण किया है। यह बात कुंडलिया के "कहा दोख चातक तिनै तो मुख परयो न नीर" में नहीं आने पाई है।

(७) पन्थाधार इति द्विजाश्रय इति श्लाघ्यस्तरूणामिति।
स्निग्धच्छाय इति प्रियो हर इति स्थानं गुणानामिति॥
पर्यालोच्य महातरो तव घनच्छायां वयं संश्रिता-
स्तत्त्वत्कोटरवासिनो द्विरसना दूरी करिष्यन्ति नः॥
—सु० र० भा०।

उपकारी हौ द्रुम महा हम भाखत तुव पाहिं।
राखहु नाहिं दुजिह्व को हिय कोटर के माहिं॥
हिय कोटर के माहिं देत दुख तो पच्छिन को।
पथी न आवैं पास त्रास उपजै लखि तिनको॥
बरनै दीनदयाल सकल गुन हैं तुव भारी॥
यह कुसंग ततकाल त्यागिए जग उपकारी॥

यहाँ भी दोनों का भाव एक ही है। श्लोक में जो बात ध्वनि से लक्षित होती है वही बात कुंडलिया के अंतिम पद में स्पष्ट कर दी गई है।

(८) देखो पथी उवारि कै नीके नैन विवेक।
अचरजमय यहि बाग़ में राजत है तरु एक॥
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा।
द्वै खग तहाँ अचाह एक इक बहुफल चाखा॥
बरनै दीनदयाल खाय सो निबल विसेखो।
जो न खाय सो पीन रहै अति अद्भुत देखो॥

इस कुंडलिया का मसाला दीनदयाल जी ने गीता और मुंडकोपनिषद् से इकट्ठा किया है। पहिले तीन पदों का आधारभूत यह श्लोक है।

(अ) ऊर्ध्वमूलमधः शाखा अश्वत्थः प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्॥

श्रीमद्भगवद्गीता (अध्याय १५)

कुंडलिया में श्लोक के प्रथम चरण का ही भाव आ सका है। शेषांश का भाव लाने की चेष्टा ही नहीं की गई है—जान-बूझ कर छोड़ दिया गया है। गीता में रूपक बाँधा गया है, पर दीनदयाल जी को ऐसा करना अभीष्ट न था।

"रूपक" के झमेले में फँसने से "अचरजमय बाग़" का "अचरज" ही ग़ायब हो जाता है।

कुंडलिया के शेष तीन पद निम्नलिखित ऋचा के आधार पर रचे गए हैं—

(आ) द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिष्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥
—बृहदारण्य मुण्डकोपनिषद्।

(६) "परमधाम" के विषय में कहा जाता है कि वहाँ रात-दिन, पाप-पुण्य, दुःख-सुख, वियोग-संयोग आदि द्वंद्वों का नाम नहीं होता। सर्वत्र अनंत शांति और परम आनन्द का साम्राज्य रहता है, परम ज्योति का प्रकाश फैला रहता है। वहाँ पहुँचने पर "जीव" आवागमन के कष्ट से मुक्त हो जाता है—

न तद्भासयते सूर्यो न शशांक न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम॥ *
—श्रीमद्भगवद्गीता (अ० १५)

(अ) सोई देस विचारिकै चलिए पथी सुचेत॥
जाके जस आनन्द की कविवर उपमा देत॥
कविवर उपमा देत रंक भूपति सम जामैं।
आवागौन न होय रहै मुद मंगल तामैं॥
बरनै दीनदयाल जहाँ दुख सोक न होई।
एहो पथी प्रवीन देस को जैए सोई॥

(आ) चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एक रस दिवस ही सुहृद हंस संदोह॥

× × ×

---

*कहो उस देश की बतियाँ, जहाँ नहिं होत दिन रतियाँ।
—कबीर साहब।

पिय मिलाप नित रहै ताहि सर तू चल चकई ॥

( १० ) हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम् ॥

—श्रीमद्भगवद्गीता ।

ह्वै हो जीते जसी मरे सुरलोकहिं पैहौ ॥

गीता में भगवान् ने अर्जुन को क्षत्रियोचित उपदेश दिया है। इसी के आधार पर दीनदयाल जी भी किसी 'क्षत्रिय' को "क्षात्रधर्म" का उपदेश करते हैं।

( ११ ) प्रीति ऐसे ही लोगों में निभ सकती है जिनके शील स्वभाव में, आचार विचार में समानता हो। अपने से उच्च अथवा निम्नश्रेणी के लोगों के साथ आदर्श मित्रता नहीं हो सकती—

मृगा मृगैः संगमनुव्रजन्ति गावश्च गोभिस्तुरगास्तुरंगैः ।

मूर्खाश्च मूर्खैः सुधियः सुधीभिः समानशीलव्यसनेषु सख्यम् ॥

—भर्तृहरि ( नीतिशतक )

बरनै दीनदयाल रहो इनहीं तें हिल मिल ।

प्रीति समान बखान करैं कविजन हे कोकिल ॥

( १२ ) भर्तृहरि जी सत्संगति की प्रशंसा में कहते हैं—

जाड्यं धियो हरति सिञ्चति वाचि सत्यम् ।

मानोन्नतिं दिशति पापमपाकरोति ॥

चेतः प्रसादयति दिक्षु तनोति कीर्त्तिम् ।

सत्संगतिः कथय किं न करोति पुंसाम् ॥

—भर्तृहरि ( नी० श० )

दीनदयाल जी लोहे और पारस की संगति का सत्परिणाम दिखलाते हुए इस मत का समर्थन करते हैं—

बरनै दीनदयाल कौन सतसंग न सोहा ।
पैहैं रूप अनूप बढ़ैगी कीमति लोहा ॥

( १३ ) अपनी उन्नति तो कोई भी कर सकता है, पर वास्तव में प्रशंसनीय वही कहा जा सकता है जो अपने साथ औरों का भी उत्कर्ष बढ़ावे । इसी बात को भर्तृहरि जी चंदन पर घटा कर कहते हैं—

किं तेन हेमगिरिणा रजताद्रिणा वा ।
यत्राश्रिताश्च तरवस्तरवस्य एव ॥
मन्यामहे मलयमेव यदाश्रयेण ।
कङ्काल-निम्ब-कुटजा अपि चन्दनास्युः ॥

—भर्तृहरि ( नी० श० )

दीनदयाल जी भी चंदन की प्रशंसा में कहते हैं—

चंदन ! बंदन जोग तुम धन्य द्रुमन में राय ।
देत कुटज कंकोल लौं देवन सीस चढ़ाय ॥

श्लोक का पूरा भाव कुंडलिया में नहीं आने पाया है । श्लोक में कहते हैं कि "हम उन सोने चाँदी के पहाड़ों को—सुमेरु पर्वत, हिमालय आदि को—क्या करें जो अपने आश्रित पेड़ों को अपने समान नहीं बना सकते । हाँ, 'मलयाचल' ही एक पर्वत कहे जाने योग्य है जिसके आश्रित सभी पेड़ चंदन हो जाते हैं । कुंडलिया में चंदन के उक्त गुण का उल्लेख करते हुए उसके "संताप-निकंदनादि" गुणों का भी ज़िक्र कर दिया है ।

( १४ ) पुण्य और पाप की व्याख्या व्यास जी ने समास रूप से यों स्पष्ट की है—

संक्षेपात् कथ्यते धर्मो जनाः किं विस्तरेण वः ।
परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम् * ॥

—श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यास ।

सचमुच 'पाप' 'पुण्य' कुछ भी नहीं है । जिस कार्य से दूसरे का हित हो वही 'पुण्य' है और जिससे किसी की हानि हो, किसी की आत्मा को कष्ट पहुँचे वही 'पाप' है । दीनदयाल जी कहते हैं—

बरनै दीनदयाल आप जग में जस लीजै ।
परम धरम उपकार द्विजन को जीवन दीजै ॥

× × ×

यहाँ हमने संस्कृत के थोड़े श्लोक उद्धृत किए हैं जिनसे दीनदयाल जी के भाव मिल जाते हैं और भी ऐसे श्लोक हैं जिनका आधार दीनदयाल जी ने लिया है । कहीं कहीं तो ठीक अनुवाद ही जान पड़ता है, पर कहीं केवल छाया-मात्र लेकर दीनदयाल जी की प्रतिभा-प्रसूत कल्पना ने उसको सर्वथा नवीन रूप दे दिया है । सारांश यह कि संस्कृत काव्य के पूर्ण ज्ञाता होने के कारण संस्कृत कवियों की अन्योक्तियों और सिद्धांतों ने दीनदयालजी के हृदय में घर कर लिया था, कविता रचते समय वे ही सूक्तियाँ अज्ञात भाव से उनके हृदय से उद्भावित हो उठीं । अतः संस्कृत का आधारभूत होने पर भी उनकी कविता में मौलिकता पूर्ण रूप से विराजमान है । इनके और ग्रंथ देखने से भी उनमें संस्कृत के भावों की विशेष छाप देख पड़ती । दृष्टांततरङ्गिणी इसका उदाहरण है ।

## २—दीनदयाल और हिंदी कवि ।

हिंदी के प्रायः सभी सुकवि या महाकवि दीनदयाल जी के पूर्ववर्ती थे । अतएव दीनदयाल जी ने अपने पूर्ववर्ती कवियों के काव्यों का अध्ययन किया

---

*पर हित सरिस धरमु नहीं भाई । पर पीड़ा सम नहि अधमाई ॥
तुलसी ।

होगा इसमें कोई आश्चर्य नहीं। कम से कम हिंदी-साहित्य का प्रेमी तुलसी और सूर के कवितामृत के आस्वादन से वंचित नहीं रह सकता। अतः दीनदयालजी की कविता में तुलसी, सूर तथा अन्यान्य कवियों के व्यापक सिद्धांतों का आना अत्यंत स्वाभाविक है। कतपय उदाहरण लीजिये—

( २ ) लागे सर सरवर परयो करयो चोंच घन ओर।
धनि धनि चातक प्रेम तव पन पाल्यो बरजोर॥
पन पाल्यो बरजोर प्रान परजंत निबाह्यो।
कूप नदी नद ताल सिन्धु जल एक न चाह्यो॥
बरनै दीनदयाल स्वाति बिन सब ही त्यागे।
रही जन्म भरि बूँद आस अजहूँ सर लागे॥

—( दीनदयाल )

बध्यो बधिक परयो पुण्यजल उलटि उठाई चोंच।
तुलसी चातक प्रेम-पट मरतहुँ लगी न खोंच॥

—( तुलसी )

दोहा और कुंडलिया दोनों का भाव एक ही है। मरण-पर्यंत चातक के प्रेम-निर्वाह की प्रशंसा दोनों कवियों ने खुले दिल से की है। दीनदयाल जी के "कूप नदी नद ताल सिन्धु जल" की अपेक्षा तुलसीदास जी के "पुण्यजल" का प्रयोग अधिक उपयुक्त है। मरते समय जिस गंगाजल की एक बूँद पान करने की अभिलाषा प्रायः सबको रहती है; तुलसीदास जी का चातक अपने प्रिय स्वाती नक्षत्र के जल के सामने उसको तुच्छ गिनता है। बड़ी बड़ी चीज़ों के लिये बड़े बड़े संयमियों का मन भी हाथ से बाहर हो जाता है। पर तुच्छ पदार्थों के लिये नियत बिगाड़ना अत्यन्त क्षुद्र-हृदयों का ही काम है। इस दृष्टि से तुलसीदास जी के चातक का प्रेम-निर्वाह अधिक श्लाघ्य है। "रही

जन्म भरि बूँद आस अजहूँ सर लागे"—से दीनदयाल जी ने चातक की निराशा का करुण-दृश्य अंकित कर दिया है।

(२) चाली हंसन की चलै चरन चोंच करि लाल।
लखि परिहै बक तव कला भख मारत ततकाल ॥
+ + +
बरनै दीनदयाल वैठि हंसन की आली।
मंद मंद पग देत अहो यह छल की चाली ॥
—( दीनदयाल )

चरन चोंच लोचन रंगौ चलौ मराली चाल।
छीर नीर बिवरन समय बक उघरत ततकाल ॥
—( तुलसी )

दोनों का कथन एक ही है। दीनदयाल जी को कुंडलिया में स्थान की अधिकता के कारण पाखंड का रूप अधिक स्पष्ट करने का अवसर मिला है। पर भंडाफोड़ होने का ढंग भिन्न है। कपटी लोग सज्जनों का वेशमात्र धारण कर सकते हैं। तुलसीदास जी उनमें गुणों का अनुकरण करने की अयोग्यता को उनकी पोल खुलने का कारण मानते हैं तो दीनदयाल जी कहते हैं कि वे ( कपटी लोग ) अपने दुर्गुणों को छोड़ नहीं सकते, इसी से उनका भेद खुल जाता है।

( ३ ) सब तरु धरा धरे रहे, वेख बड़े प्रिय कीस।
एकै ही तुलसी लसी, लघु सरूप हरि सीस ॥
—( दीनदयाल )

सहज अपावन नारि, पति सेवत सुभ गति लहै।
जस गावत श्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय ॥
—( तुलसी )

"हरि" की "तुलसी-प्रियता" को लेकर दोनों कवियों ने क्या ही सुन्दर उक्तियाँ कही हैं।

( ४ ) जग को घन तुम देत हौ, गँजिकै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे, तापर परे पखान॥
—( दीनदयाल )

जलद जनम भरि सुरत बिसारउ। जाचत जल पवि पाहन डारउ॥
चातक रटनि घटे घटि जाई। बढ़े प्रेम सब भाँति भलाई॥
—( तुलसी )

कुंडलिया में बादल को उसके अविचार के लिये उपालंभ है। 'रटि मरे' से चातक की निराशा भी व्यंजित होती है, पर चौपाई से केवल चातक का दृढ़ प्रेम ही सूचित होता है। बादल चाहे जल बरसावे अथवा जल न बरसा कर ओले और वज्र ही बरसा दे; चातक अपना प्रेम नहीं छोड़ सकता।

( ५ ) अहो कुसंग प्रचंड काहि जग में न बिगारै।
—( दीनदयाल )

को न कुसंगति पाय नसाई। रहै न नीच मते गरुआई॥
—( तुलसी )

दोनों का तात्पर्य एक है।

( ६ ) बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहिं।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहै नाहिं बरष शत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहि परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखै॥
—( दीनदयाल )

ऊसर बरषै तृन नहिं जामा। संत हृदय जिमि उपज न कामा ॥

—( तुलसी )

"ऊसर भूमि को सींचने से घास भी पैदा नहीं हो सकती।" इसी दृष्टान्त को लेकर दोनों कवि विपरीत मतों का निर्णय करते हैं। तुलसीदास जी कहते हैं कि प्रलोभनों के बीच में रहते हुए भी "संतों के हृदय में कामादि विकार पैदा ही नहीं होते।" दीनदयाल जी कहते हैं कि "मूर्ख को कितना ही उपदेश क्यों न दो कुछ भी असर न होगा।" एक स्थल पर तुलसीदास जी ने भी यही उक्ति इसी से मिलते जुलते ढंग से कही है—

फूलइ फरइ न बेत, जदपि सुधा बरषहिं जलद।
मूरख हृदय न चेत, जौ गुरु मिलहिं विरंचि सत ॥

—( तुलसी )

( ७ ) आए ग्रीषम देखिहौं लघु सर तेरी शान।
कहा करै एतो बड़ो पावस पाय गुमान ॥

—( दीनदयाल )

छुद्र नदी भरि चली तोराई। जस थोरे धन खल इतराई ॥

—( तुलसी )

थोड़े ही वैभव पर फूल जाने वाले ओछे मन के लोगों की उपमा तुलसीदास जी "छुद्र नदी" से देते हैं और दीनदयाल जी "लघु-सर" से। बात एक ही है, पर हमें तुलसीदास जी की उक्ति स्वाभाविकता के अधिक सन्निकट जान पड़ती है।

( ८ ) बरनै दीनदयाल कोऊ परसै जो पायस।
तऊ तजै न मलीन मलहिं खाये बिन बायस ॥

—( दीनदयाल )

वायस पलिअहि अति अनुरागा। कबहुँ निरामिष होहि कि कागा ॥
—( तुलसी )

दोनों का भाव एक ही है।

( ६ ) जग में गुनमय करि तुमै बरनै सकल महान।
कहा भयो जो नहिं कियो चपल एक अलि मान ॥
चपल एक अलि मान कियो नहिं कछू नसायो।
हे कपास सहि खेद धन्य परछेद दुरायो ॥
बरनै दीनदयाल स्याम याको गनि ठगमै।
मधुप मन्द किमि जान तुमैं बुध जानैं जगमैं ॥
—( दीनदयाल )

साधु चरित सुभ सरिस कपासू। निरस बिसद गुनमय फल जासू ॥
जो सहि दुख परछिद्र दुरावा। बन्दनीय जेह जग जसु पावा ॥
—( तुलसी )

दोनों कथनों में बहुत साम्य है। 'गुनमय', 'सहिखेद', 'परछिद्र' शब्दों से साफ़ "तुलसीत्व" झलकता है, पर 'तुलसी' का रूपक 'सांगोपांग' है, कोई भी तुलना छूटने नहीं पाई है। दीनदयाल जी का "रूपक" क्षेत्र काफ़ी बड़ा होने पर भी अपूर्ण ही रह गया है। यद्यपि कपास-सज्जन की समता के लिये गिरि जी तुलसी के आभारी हैं, पर उनका कथन तुलसी से सर्वथा भिन्न है। उसमें पूर्ण मौलिकता है।

( १० ) समै न आए काम, काम कौने, भ्रमि भूले।
—( दीनदयाल )

का वर्षा जब कृषी सुखाने। समय चूकि पुनि का पछिताने ॥
—( तुलसी )

दोनों का सिद्धांत एक ही है। दीनदयाल जी ने विस्तार से कहा है।

( ११ ) भारी भार भर्यो बनिक तरिबो सिन्धु अपार।
तरी जरजरी फँसि परी खेवनहार गँवार ॥
खेवनहार गँवार ताहि पर पौन झकोरै।
रुकी भँवर में आय उपाय चले न करोरै ॥
बरनै दीनदयाल सुमिर अब तू गिरधारी।
आरतजन के काज कला जिन निज संभारी ॥
—( दीनदयाल )

नैया मोरी तनिक सी बोझी पाथर भार।
चहुँदिशि अति भँवरे उठत केवट है मतवार ॥
केवट है मतवार नाव मँझधारहि आनी।
आँधी चलत उदंड ताहु पर बरसत पानी ॥
कह गिरिधर कविराय नाथ हौ तुमहिं खेवैया।
उठै दया को डाँड घाट पर आवै नैया ॥
—( गिरिधर कविराय )

दोनों कवियों का तात्पर्य एक ही है। शब्दावली भी प्रायः समानांतर है। दीनदयाल जी भवसागर में फँसे हुए मनुष्य को भगवद्भजन का उपदेश करते हैं; गिरिधरदास जी की कुंडलिया में भवसागर में फँसा हुआ व्यक्ति दीनदयाल जी के उपदेश का पालन कर रहा है।

( १२ ) तौलों है ऋतुराज नहिं कोकिल कांग बिचार।
स्याम स्याम रँग एक से सोहत एकै डार ॥
—( दीनदयाल )

भले बुरे सब एक से जौलों बोलत नाहिं।
जानि परत हैं काक पिक रितु बसन्त के माहिं॥

जो बात दोहे में संपतः कथन है वही बात दीनदयाल जी ने सविस्तर कही है।

(१३) गरलहु को तरु लाय न चाहिय निज-कर छेदन॥
—(दीनदयाल)

तोरिये न कबौं विषहू को रूख लायकै॥

दोनों कथन सर्वव्यापी लोकमत के ही आधार पर हैं।

(१४) ऐरे मेरे धोबिया तोसों भाखत टेरि।
ऐसी धोती धोइ जो मैलो होय न फेरि॥
—(दीनदयाल)

ऐसी धोती धोउ तू फेरि न मैला होय।
—(कबीर)

(१५) बरनै दीनदयाल नहीं जिन प्रेम किए पल।
ते किमि जानैं पीर वियोगी जन की हे जल॥
—(दीनदयाल)

(अ) बिन आपने पाँय बेवाई गए कोउ पीर पराई का पावतु है।
—(ठाकुर)

(आ) जाके पाँव न भई बेवाई। सो क्या जानै पीर पराई॥

(इ) बाँझ कि जान प्रसव की पीरा—(तुलसी)

(ई) पंडित जन को श्रम मरम जानत जे मतिधीर।
कबहूँ बाँझ न जानई तन प्रसूत की पीर॥*
—(वृन्दकवि)

---

*विद्वान्नेव विजानाति विद्वज्जनपरिश्रमम्।
नहि वंध्या विजानाति गुर्वीं प्रसववेदनाम्॥

दृष्टांत पृथक् पृथक् हैं। पर सबके कथन का तात्पर्य यही है कि "जिसके ऊपर बीतती है वही जानता है"।

इनके अतिरिक्त हिन्दी-साहित्य के अन्य कवियों से भी दीनदयाल जी का बहुत कुछ साम्य है। जितने कवियों से हमने दीनदयाल जी का मिलान किया है वे सब दीनदयाल जी के पूर्ववर्त्ती थे। अतएव उनके काव्यों का अध्ययन एवं मनन करने से अनेक स्थलों पर जो भाव-सादृश्य दिखलाई देता है वह स्वाभाविक ही है। सुकवियों की सूक्तियों, सुन्दर भावों तथा व्यापक सिद्धांतों को कौन नहीं अपनाता। सुकवि वह है जो किसी भी कथन को मौलिकता का आवरण पहना दे। इस दृष्टि से जब हम विचार करते हैं तो यह मानना पड़ता है कि दीनदयाल जी ने अन्य कवियों की उक्तियों की छाया लेने पर भी उनको अपनाने में सफलता पाई है। उनकी कविता में पूर्वकवि की अपेक्षा नूतन चमत्कार है, पूर्ण मौलिकता है।

## ( ई ) पिंगल*

कविता में मुख्य वस्तु सुन्दर भावपूर्ण उक्ति है। छन्द तो उन भावों का, सूक्तियों का, आवरणमात्र है। सुकवि छन्द-संपुट में अपने भावों को सुरक्षित रख सकता है। केवल कहने का कौशल चाहिये। कवियों ने भिन्न-भिन्न छन्दों में अन्योक्तियाँ कही हैं, और सुन्दर कही हैं। किन्तु यह कहना ही पड़ता है कि कुछ ऐसे भी छन्द हैं जिनमें अन्योक्ति विशेष रमणीय जान पड़ती है। 'लाल' गुदड़ी में छिपा होने पर भी अपनी वास्तविक शोभा में किसी प्रकार कम नहीं हो सकता। पर वही सुन्दर सोने या चाँदी के संपुट में, रेशम की तह में लपेट कर रख दिया जाय तो उसकी शोभा विशेष भव्य हो जाती है। अन्योक्ति के

---

* पिंगल का प्रारंभिक संक्षिप्त परिचय परिशिष्ट में देखिये।

लिये सबसे उपयोगी छन्द दोहा और कुंडलिया हैं। इन दोनों में भी अन्योक्ति की जो चमत्कृति दोहे में झलकती है वह कुंडलिया में नहीं। दोहा है भी एक अपूर्व छन्द। इस छन्द में कोई भी उक्ति बड़ी खूबी के साथ कही जा सकती है। संस्कृत के प्रयुक्त छन्दों में अनुष्टुपछन्द सबसे छोटा है। इस वृत्त का प्रयोग इतनी अधिकता से हुआ है कि काव्य-ग्रन्थों की तो बात ही जाने दीजिये, रीतिग्रन्थ, शास्त्र, पुराण, ज्योतिष, आयुर्वेद, संगीत आदि सभी विषयों की रचना इसी छन्द में हुई है। जो महत्व या जो स्थान संस्कृत में अनुष्टुप् वृत्त को मिला है वही महत्व, वही स्थान हिन्दी में दोहे का है। यह छन्द भी अनुष्टुप् की ही भाँति बहुत छोटा, कुल ४८ मात्राओं का छन्द है। दोहा ही एक ऐसा छन्द है जो अनुष्टुप् की तरह व्यापक है। दोहे में हिन्दी की जितनी अधिक रचना हुई है उतनी और किसी छन्द में नहीं। कविवर बिहारीलाल के दोहों ने तो 'दोहे' की महिमा और भी बढ़ा दी है। हिन्दी-साहित्य की अधिकांश सूक्तियाँ दोहों में ही हैं, क्षेत्र संकुचित होने के कारण ४८ ही मात्राओं में कवि को अपने भाव भरने पड़ते हैं। अतएव कवि का कौशल भी इसी में झलकता है। दोहे की प्रशंसा में 'रहीम' कवि ने यथार्थ कहा है—

> दीरघ दोहा अर्थ के, आखर थोरे आहिं ॥
> ज्यों रहीम नट कुंडली, समिटि कूदि कढ़ि जाहिं ॥

वास्तव में दोहा है भी ऐसा ही छन्द। इसमें एक विशेषता और है। वह है इसकी श्रुति-सुखदता। इस कारण से, एवं रचना की सरलता से इस छन्द का उपयोग भी सर्वसाधारण में अधिक है, तुकबन्दी करनेवाले भी सर्वप्रथम दोहे को ही अपनाते हैं। यहाँ तक कि विज्ञापनबाज़ी और नोटिशबाज़ी में भी दोहे का प्रयोग प्रचुरता से होता है। अस्तु, दोहे में कविता करनेवालों में बिहारी का ही स्थान

सबसे ऊँचा है। दोहों में इनकी अन्योक्तियाँ कमाल की हैं। दोहे के पश्चात् कुंडलिया ही ऐसा छन्द है जिसमें अन्योक्तियाँ सुन्दर कही जा सकती हैं। अंतर केवल इतना ही है कि जहाँ दोहे में क्षेत्र संकीर्ण है वहाँ कुंडलिया में बहुत विस्तृत क्षेत्र है। जो बात दोहे में बहुत थोड़े शब्दों में कहनी होती है वही बात कुंडलिया में स्पष्ट की जा सकती है। कुंडलिया के आदि में 'दोहा' रहता है। नीचे का रोला छन्द ऊपर के दोहे की प्रायः टीका ही होती है। दोहे के प्रधान आचार्य बिहारी के दोहों पर विद्वानों ने कुंडलियाँ रचकर टीका भी की है। गिरिधरदास जी की कुंडलियाँ सबसे प्रसिद्ध हैं। इसका कारण है उनकी कविता का बोलचाल की भाषा में होना, तथा उनकी रचना का प्रसाद-गुण एवं व्यावहारिक विषय। दीनदयाल जी की सभी अन्योक्तियाँ—कुछ को छोड़-कर कुंडलियाँ में ही हैं। इनकी कुंडलियाँ भी बड़ी मधुर एवं प्रसाद-गुणपूर्ण हैं। दीनदयाल जी ने कुंडलिया के अतिरिक्त अन्योक्ति के लिये "मनहरण कवित्त" "दुर्मिल-सवैया" और "मालिनी-वृत्त" का भी प्रयोग किया है। पर उनमें अन्योक्ति फबी नहीं। यहाँ पर संक्षेप से इस ग्रन्थ में प्रयुक्त छन्दों के लक्षण और उदाहरण देना उपयुक्त होगा।

## १—कुंडलिया

कुंडलिया में २४—२४ मात्रा के छः पद होते हैं। इस प्रकार यह १४४ मात्राओं का "मात्रिक-विषम-छन्द" है। आदि में दो दलों का एक दोहा और उनके बाद चार पदों का एक रोला छन्द जोड़कर कुंडलिया छन्द बनता है। दोहे के प्रथम चरण के आदि के कुछ शब्दों का रोला के चतुर्थ चरण के अंतिम शब्दों के साथ और दोहे के चतुर्थ चरण का रोला के आदि से

सिंहावलोकन* होना आवश्यक है। कुंडलिया के पाँचवें चरण के पूर्वार्द्ध में प्रायः कवि का नाम रहता है। यही कुंडलिया का साधारण नियम है।

तोमैं बंस! न सार कछु बकिग्रोहू अभिमान।
तातें मलै न तोहि को बिरचै आप समान॥
बिरचै आप समान, न तो हिय सून निहारत।
तेरे पास हुतास तासु तें तिनहूँ जारत॥
बरनै दीनदयाल दोख तिनको न कहूँ मैं।
गंधसार का करै, सार है बंस न तोमैं॥

## २—दोहा

दोहा चार चरणों का "मात्रिक-अर्द्ध-सम-वृत्त" है। इसके पहले और तीसरे चरणों में १३, तथा दूसरे और चौथे चरणों में ११ मात्राएँ होती हैं। विषम चरणों के आदि में 'जगण (।ऽ।)' वर्जित है, अन्त में लघु (।) होता है। इस प्रकार दो दलों † का एक दोहा बनता है। दोहे की बनावट दो प्रकार की होती है—

(१) विषम-कलात्मक, और (२) सम-कलात्मक। (१) विषम-कला का (।ऽ) या (ऽ।) अथवा (।।।) यह रूप होता है। अतः एक दल

---

*'सिंहावलोकन' का अर्थ है, सिंह की तरह देखना। सिंह का स्वभाव होता है कि वह चलते चलते एक झलक पीछे की ओर देखता जाता है। जहाँ पहिले चरण के अन्त का शब्द दूसरे के आदि में, दूसरे के अन्त का तीसरे के आदि में, इस क्रम से आते जाते हैं उसे "सिंहावलोकन" या "मुक्त-पद-ग्राह्य-यमक" कहते हैं।

† दोहा, सोरठा, बरवै आदि छंद दो पंक्तियों में लिखे जाते हैं। प्रत्येक पंक्ति को "दल" कहते हैं।

का रूप होगा—३ + ३ + २ + ३ + २ + ३ + ३ + २ + ३ । अर्थात् विषम चरण में दो त्रिकल के पश्चात् एक द्विकल, फिर एक त्रिकल और एक द्विकल, तथा समचरण में दो त्रिकल के पश्चात् एक द्विकल पुनः एक त्रिकल। विषमचरण में द्विकल के पश्चात् जो त्रिकल होता है उसका रूप ( । S ) नहीं होना चाहिए। समचरण के अंतिम त्रिकल का रूप ( S । ) यही होना चाहिए, अर्थात् समचरण के अंत में एक गुरु लघु ( S । ) अवश्य होना चाहिए।

होत उजागर वन नगर, मधुप मलिन तब आस।
S । । S । । । । । । । । । । । । । । । S ।
३ + ३ + २ + २ + ३, ३ + ३ + २ + ३ ।

( २ ) सम-कल का ( । । S ) या ( SS ) अथवा ( । । । ) या ( S।। ) यह रूप होता है। समकलात्मक में एक दल का रूप होगा—

४ + ४ + ३ + २, ४ + ४ + ३ ।

अर्थात् विषम चरण में दो चौकल के बाद एक त्रिकल और द्विकल, तथा समचरण में दो चौकल के पश्चात् एक त्रिकल। विषम चरण के त्रिकल का रूप ( । S ) न पड़ना चाहिये, और समचरण के त्रिकल का रूप ( S । ) अवश्य हो, अर्थात् समचरण के अंत में गुरु लघु ( S । ) पड़ने चाहिए।

नाहीं मानस हंस यह, नहिं मुकुतन की रासि।
S S S । । S । । ।, । । । । । । S S ।
४ + ४ + ३ + २, ४ + ४ + ३ ॥

सारांश यह कि दोहे के आदि में सम के पीछे सम और विषम के पीछे विषम-कल का प्रयोग होता है। विषम-चरणों के अंत में सगण, रगण अथवा

नगण न पड़ें और सम के अंत में जगण अथवा सगण अर्थात् गुरु लघु (ऽ।) अवश्य हों। शब्द-योजना ठीक न होने के कारण नियमों का अपवाद भी हो सकता है। अतएव दोहे की लय या गति का ज्ञान होना परमापेक्ष्य है। वास्तव में 'लय' या 'गति' की पहिचान ही किसी छंद का सच्चा और व्यापक लक्षण है। उदाहरण—

बारि बिलोवै डारि दधि, अरी आँधरी ग्वारि।
ऽ। ।ऽऽ ऽ। ।।, ।ऽ ऽ।ऽऽ ऽ।
८ ५ ८ ३

ह्वै है श्रम तेरो वृथा, नहिं पैहै घृत हारि॥
ऽ ऽ ।। ऽ। ऽ, ।। ऽऽ ।। ऽ।
८ ५ ८ ३

दोहे के अनेक भेद होते हैं, विस्तारभय से उन सबके नाम और लक्षण न देकर केवल मुख्यों के ही नाम दिए जाते हैं—

(१) भ्रमर, (२) भ्रामर, (३) शरभ, (४) श्येन, (५) मंडूक, (६) मर्कट, (७) करभ, (८) नर, (९) हंस, (१०) गयंद, (११) पयोधर, (१२) बल या चल, (१३) बानर, (१४) त्रिकल, (१५) कच्छप, (१६) मच्छ, (१७) शार्दूल, (१८) अहिवर, (१९) व्याल, (२०) विडाल, (२१) श्वान, (२२) उदार और (२३) सर्प।

दोहे के विषम चरणों के आदि में ऐसा शब्द न आना चाहिए जिसमें जगण (।ऽ।) हो। जिनमें जगण का प्रयोग होता है उनका नाम "चाण्डा-लिनी" है। चांडालिनी की स्वाभाविक लय में न्यूनता आ जाती है। अतएव यह दूषित एवं त्याज्य है।

## ३—रोला

रोला 'मात्रिक सम-छन्द' है। इसके प्रत्येक चरण में ११ और १३ के विश्राम से २४ मात्राएँ होती हैं। इस प्रकार चारों चरणों में मिलाकर यह कुल ६६ मात्राओं का छन्द है। ( जिस रोला के चारों चरणों में ११वीं मात्रा लघु हो उसे "काव्य-छन्द" कहते हैं। ) इस लक्षण के अनुसार यह दोहे का उलटा अर्थात् सोरठे से मिलता जुलता जान पड़ता है। पर इसकी लय सोरठे से सर्वथा भिन्न है और इसके प्रत्येक चरण का पूर्वार्द्ध ( ११ मात्रा तक ) बहुधा सोरठा का विषम ( अथवा दोहे का समचरण ) है लय अथवा लक्षण किसी में भी भेद नहीं है, पर ऐसा होना अनिवार्य नहीं है। सोरठे से इसकी लय विभिन्नता का कारण रोला के चरण का उत्तरार्द्ध भाग है। सोरठे के समचरण का रूप ३+३+२+३+२ अथवा ४+४+३+२ होता है, अर्थात् दोहे की भाँति इसके आदि में विषम के पश्चात् विषम और सम के बाद सम-कल का प्रयोग होता है। रोला के चरण उत्तरार्द्ध का क्रम इससे भिन्न है। रोला के चरण के उत्तरार्द्ध में पहले विषम-कल फिर सम-कल और अंत में एक चौकल ( २+२ ) का होना आवश्यक है। बहुधा आदि का रूप ३+२ रहता है अन्त में दो गुरु ( SS ) या दो लघु एक गुरु ( ।। S ) या एक गुरु दो लघु ( S।। ) अवश्य होना चाहिए। बस, अब सोरठा और रोला की लय में अवश्य भेद पड़ जायगा। कुंडलिया और छप्पय के साथ तो इसका प्रयोग अनिवार्य है।

### उदाहरण

जहाँ कला सब लीन कला सफला है सोई।
और कला जग चला जथा चपला घन होई।।

बरनै दीनदयाल भागि जनि आगि निहारत।
अरे सती को स्वाँग कहा पग पीछे धारत॥

इस रोले में दूसरे चरण का पूर्वार्द्ध सोरठा के समचरण से नहीं मिलता। इसमें अन्त में लघु गुरु ( ।ऽ ) आ जाने से लय खटकती सी है।

## ४—कवित्त ( मनहरण ) या घनाक्षरी

यह "वर्णिक-सम दंडक" वृत्त है। इसके प्रत्येक चरण में ३१ वर्ण होते हैं, १६ और १५ पर विराम होता है, लघु गुरु का कोई विशेष नियम नहीं है। केवल अन्त में एक गुरु अवश्य होना चाहिए। यही इसका साधारण लक्षण है। इसमें 'लय' ही प्रधान है। कवित्तों में सम प्रयोग कर्ण-मधुर होते हैं। परन्तु दो विषम प्रयोगों को एक साथ रखने से उनमें भी समता आ जाती है और वे श्रुतिप्रिय हो जाते हैं। प्रायः वर्णों का क्रम ८+८, ८+७ यही रहता है। प्रत्येक अष्टकल का रूप "सम+सम+सम+सम" अथवा "विषम+विषम+सम" अथवा "सम+विषम+विषम" होना चाहिए। अन्यथा लय में बाधा होती है, यह छन्द भी बड़ा व्यापक है। रीति ग्रन्थों के उदाहरण बहुधा इसी छन्द में दिए गए हैं, लय का ठीक ठीक ज्ञान हो जाने पर इसमें रचना करना बहुत आसान होता है, दूसरे इनमें भावों को प्रकट करने के लिये क्षेत्र भी ख़ूब रहता है। अतः आरंभ में नौसिखुए कवि इसी छन्द को अपनाते हैं। कवित्त 'पद्माकर' के सबसे अधिक प्रसिद्ध हैं। 'पद्माकर' के कवित्तों की गति प्रावाहिक और कर्ण-मधुर है। दीनदयाल जी ने इस ग्रन्थ में दो ही कवित्त कहे हैं। इस ग्रन्थ में तो नहीं पर इनके अन्य ग्रन्थों में कितने ही कवित्त आए हैं उनमें प्रवाह बहुत ही सुन्दर है। वर्णों का संगठन भी बहुत ही मनोहर है।

## कवित्त का उदाहरण

सुनो अरविंद हे मलिंद बिन सजै नाहिं,
केलि मल कीटन की रावरे बितान मैं।
जानैं कहा मन्द ये सुगन्ध मकरन्द गुन,
गावैं दीनदयाल तव माधुरी जहान मैं॥
तेऊ यह कला लखि भलो नहिं कहैं अब,
मूँदि लेहु मुख गिने जाहुगे मलान मैं।
हेरि हंस ओर फेरि खोलिहो भए तें भोर,
कीजिए सुजान बात भली जो महान मैं॥

## ९—मालिनी

यह "वर्णिक-सम-वृत्त" है। इसके प्रत्येक चरण में १५ वर्ण होते हैं, ८ और ७ पर यति होती है। वर्ण-क्रम इस प्रकार होता है—

नगण + नगण + मगण + यगण + यगण
। । ।   । । ।   SS,S   । SS   । SS

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच मालिनी वृत्त आए हैं (देखिए चतुर्थ शाखा छन्द संख्या ११ से १५ तक)। पाँचों बड़े मधुर हैं, लय या पिंगल की दृष्टि से उनमें कोई दोष भी नहीं है। उदाहरण—

अभिनव घनस्यामैं, ध्याउ आभा सु जामैं।
बिसद बकुल माला, सोभती हैं बिसाला॥
द्विजगन हरखावैं, ध्यान कै मोद पावैं।
पथिक नयन दीजै, ताप को सांत कीजै॥

## ६—सवैया ( दुर्मिल )

प्रस्तुत ग्रन्थ में पाँच दुर्मिल-सवैयाओं का भी प्रयोग किया गया है। सवैया "वर्णिक-समवृत्त" है, २२ से लेकर २६ वर्ण तक के छन्द सवैया के नाम से प्रख्यात हैं। एक गुरु के बाद दो लघु ( ऽ।। ) या दो लघु के बाद एक गुरु ( ।।ऽ ) को कई बार रख देने से सवैया की लय बन जाती है। फिर चाहे जितनी बार उनको रखकर अन्त में आवश्यकतानुसार लघु गुरु बढ़ा कर अपनी संख्या पूरी कर लीजिए। छन्द तैयार हो जायगा। यह ( ऽ।। ) रूप "भगण" और यह ( ।।ऽ ) रूप "सगण" कहलाता है। अतः सवैया में प्रायः 'भगण' या 'सगण' का प्रयोग होता है। इसमें अपवाद भी हो सकता है। "दुर्मिल-सवैया" आठ सगण ( ।।ऽ ) का होता है। चार सगण का "त्रोटक" छन्द होता है। जैसे—

जय राम सदा सुख धाम हरे।
।। ऽ। ।ऽ ।। ऽ। ।ऽ

अतः 'त्रोटक' का ठीक दूना 'दुर्मिल-सवैया' होता है। प्रत्येक चरण में २४ वर्णों के हिसाब से कुल मिलाकर ९६ वर्ण होते हैं। सवैयाओं में बहुधा लघु गुरु का क्रम ठीक न होने से भ्रम हो जाता है कि यथार्थ में यह सवैया है या कोई विशेष मात्रिक छंद। ऐसी अवस्था में लय का और दो लघु के बाद एक गुरु का ध्यान रखने से स्पष्ट प्रतीत हो जाता है। देखिए—

विष नीर की पीर कौ धीर सहै चढ़ि चीर सरीरहि दाहिनो है।
।। ऽ। ऽ ऽ।ऽऽ। ।ऽ।। ऽ। ।ऽ।। ऽ।ऽ ऽ
१ २ ३ ४ ५ ६ ७ ८

इसमें दूसरे, तीसरे और आठवें गण का रूप सगण न होकर यगण है, पर है यह सवैया ही। पढ़ने में इसका रूप यों होगा—

विष नीर कि पीर क धीर स है चढ़ि चीर सरीर हि दाहिन है।
।। S। । S।। S।। S ।। S। । S।। S।। S

इसी प्रकार और भी समझना चाहिए।

सवैया छंदों के—जैसा किया कि हम ऊपर कह चुके हैं—अनेक भेद हैं। किंतु हिन्दी-साहित्य में दुर्मिल, मत्तगयंद, मदिरा, किरीट, अरसात और सुन्दरी बहुत प्रचलित हैं, इनके अतिरिक्त चकोर, सुमुखी, वाम, अरविन्द, लवंगलता सुख और मुक्तहरा नाम के सवैया-वृत्त भी होते हैं।

## ५—अंत

अब हम दीनदयाल जी की कविता की संक्षिप्त समालोचना करके इस विषय की समाप्ति करते हैं। दीनदयाल जी की भाषा "ब्रजभाषा" है। पर यह मँजी हुई नहीं है। स्थान स्थान पर व्याकरण संबंधी अनेक त्रुटियाँ हैं, पर इसमें दीनदयाल जी का दोष नहीं है। प्रायः संस्कृत के विद्वान् हिन्दी की उपेक्षा करते आये हैं, इसीसे वे हिन्दी की ओर से लापरवाह से रहते हैं। इससे उनकी भाषा अशुद्ध रहती ही है। संस्कृत के धुरंधर विद्वान् होने के कारण इनका यह दोष क्षम्य कहा जा सकता है। कुछ भी हो इनकी भाषा ललित एवं प्रसाद-गुण-पूर्ण है। कहीं कहीं शब्दों का संगठन क्लिष्ट है और अर्थ समझने में कठिनता भी अवश्य पड़ती है; पर भाव सरलता से समझ में आ जाता है। अब रहे भाव। दीनदयाल जी का अध्ययन और अनुभव खूब बढ़ा चढ़ा था। अतः इनके भाव इनके अंतस्तल की नैसर्गिक प्रसूति होने के कारण पूर्णतः हृदय-स्पर्शी हैं। उनकी कथनशैली ऐसी मनोमोहक और प्रभावोत्पादक है कि भाव पाठकों के हृदय में प्रविष्ट हो जाते हैं और असर किये बिना नहीं रहते। अध्यात्मवादियों में दीनदयाल जी का स्थान ऊँचा है।

आजकल के "छायावाद" नाम से कविता करनेवालों को विदेशी कवियों की जूठन न खाकर दीनदयाल और उनके समकक्ष अन्य अध्यात्मवादियों का अध्ययन एवं मनन कर उनका प्रसाद पाना चाहिए। "आध्यात्मिक" ज्ञान में भारतवर्ष की समता न तो कोई देश कर सका, न कर सकता है। पर भारत के होनहार नवयुवक "छायावादी" कवि अपने प्राचीन "अध्यात्म-साहित्य" को देखते तक नहीं। उस पर, अपने स्वत्त्व पर, अधिकार न कर विदेशी साहित्य से उधार ले रहे हैं। निस्संदेह उनका यह कार्य स्तुत्य नहीं कहा जा सकता। अस्तु, ऐसे लोगों से हमारा अनुरोध है कि पहले अपने ख़ज़ाने का उपयोग करें और तब बाहर से कर उगाह कर अपने ख़ज़ाने की वृद्धि करें। कविता आरम्भ करने के पूर्व अपने यहाँ के अध्यात्म साहित्य को पढ़ें और तब अन्य देशों के "Mysticism" (मिस्टिसिज़्म) का अध्ययन कर अपने ज्ञान की वृद्धि करें।

दीनदयाल जी की कविता में पिंगल-सम्बन्धी त्रुटियाँ नहीं के बराबर हैं। धारा-प्रवाहिकता और सरसता उनका सहज-गुण है। पढ़ते समय जिह्वा स्वत: फिसलती जाती है। काव्य-शास्त्र का ज्ञान दीनदयाल जी को कहाँ तक था उसका परिचय देने के लिये इतना ही कह देना पर्याप्त होगा कि ध्वनि-व्यंग्य आदि से इनका एक भी पद्य खाली नहीं है। फिर अलंकारों का तो पूछना ही क्या? यदि "ध्वनि काव्य" ही श्रेष्ठ काव्य कहा जाय तो यह कहने में कुछ भी अत्युक्ति न होगी कि—

"दीनदयाल जी का काव्य व्यंग्यमय है, अतएव उनकी कविता उच्चकोटि की कविता है और दीनदयाल जी अपने समय के एक उच्चकोटि के सुकवि हैं।"

"अन्योक्ति कल्पद्रुम" के इतने संस्करणों के होते हुए भी हमने यह ग्रंथ क्यों लिखा? इस प्रश्न का एक मात्र उत्तर है—हमारा व्यसन—प्रत्येक को

प्राय: किसी न किसी बात का चसका लग ही जाता है। हमें भी प्राचीन काव्यों की टीका-टिप्पणी करने की एक धुन सवार हो गई है। यह ऐसा भयंकर व्यसन हो गया है कि अपने कई हितैषी समालोचकों के बार-बार मना करने पर भी हम अपने इस कार्य से हाथ नहीं खींच सके। हमारे इस संस्करण में कौन सी विशेषता या नूतनता है, यह अच्छा हुआ या नहीं इत्यादि बातें कहने का हमें कोई अधिकार नहीं है। यह काम तो समालोचकों का है। हम उन सभी विद्वान् समालोचक महोदयों के कृतज्ञ हैं जिन्होंने समय समय पर परामर्श देने और गुण दोष सुझा देने का कष्ट किया है। भूल करना मानव-शरीर का धर्म है। समालोचकों का काम उन्हीं त्रुटियों को सुझा देना है। पर खेद के साथ कहना पड़ता है कि आजकल हिन्दी साहित्य में ऐसे निष्पक्ष समालोचकों का अभाव है। अस्तु, जहाँ तक हमारी बुद्धि पहुँच सकती थी हमने यथाशक्ति अत्यंत विवेचनापूर्ण दृष्टि से इस ग्रंथ का संपादन किया है। संसार में निर्दोष कोई भी नहीं है, अतएवं हम भी दोषों या भ्रमों से बच नहीं सकते। विद्वान् सत्समालोचकों से एक बार पुनः अनुरोध है कि इस ग्रंथ की निष्पक्ष आलोचना करके हमारे गुण-दोष सुझाने एवं समुचित परामर्श देने का कष्ट करें जिससे अगले संस्करण में उचित सुधार किया जा सके।

जिन ग्रंथों से हमने इस पुस्तक के लिखने में सहायता ली है उनके लेखकों को भी धन्यवाद देना हमारा परम कर्तव्य है। इस संस्करण के पाठ-संशोधन करने में हमें दीनदयाल जी की स्वहस्तलिखित प्रति से सहायता मिली जो हमें हिन्दू विश्व-विद्यालय के प्रोफेसर पंडित बटुकनाथ शर्मा उपाध्याय एम० ए० से प्राप्त हुई थी एतदर्थ हम उनके अत्ययंत कृतज्ञ हैं।

हमारे प्रिय पं० विश्वनाथप्रसाद मिश्र साहित्यशास्त्री, अथ से इति तक अपनी अमूल्य सम्मतियों और परामर्शों द्वारा सहायता न करते और इसकी लिखित प्रति के संशोधन का कष्ट न करते तो हम पुस्तक को प्रस्तुत रूप में ला सकते या नहीं इसमें संदेह है। अतएव उनको धन्यवाद देना कोरा शिष्टाचार मात्र है। हम उनकी सहायता के अत्यंत आभारी हैं। परमात्मा से प्रार्थना है कि उनकी चिर उन्नति हो और वे हिन्दी-संसार में अमर कीर्ति लाभ करें।

| | | |
|---|---|---|
| गंगा दशहरा<br>संवत् १९८५ विक्रमाब्द | } | भगवानदीन 'दीन'<br>मोहनवल्लभ पंत। |

---

# दूसरी आवृत्ति पर वक्तव्य

ईश्वर की कृपा दीनदयालगिरि जी के अनुग्रह तथा काव्य प्रेमियों की गुणग्राहकता से मुझे आज यह सुअवसर प्राप्त हुआ है कि इस अन्योक्ति-कल्पद्रुम सटीक की दूसरी आवृत्ति का वक्तव्य लिख रहा हूँ। इसके लिये मैं पाठकों को धन्यवाद देता हूँ।

इस पुस्तक की पहली आवृत्ति भी बाबू साहब के यहाँ से 'दीन जी' के जीवन-काल में निकली थी। अभी तक हमारे और बाबू साहब के किसी प्रकार का मनोमालिन्य नहीं हुआ है, इसलिए इसकी दूसरी आवृत्ति भी आप ही के यहाँ से प्रकाशित कराता हूँ। और आशा रखता हूँ कि मेरा और बाबू साहब का व्यवहार इसी प्रकार सदैव चलता रहेगा तो मुझे दूसरा दरवाज़ा खटखटाने की आवश्यकता न पड़ेगी।

इस टीका में मैंने कुछ हेर फेर नहीं किया है। ज्यों का त्यों छपा दिया है। केवल दीन जी की जीवनी और चित्र बढ़ाया है।

सादर निवेदन है कि प्रूफ संशोधन में भी कुछ अशुद्धियाँ रह जाती हैं। जहाँ कहीं पुस्तक में ऐसी अशुद्धियाँ हो गई हों उन्हें पाठकगण सुधार कर पढ़ लेवें, और उन अशुद्धियों पर ध्यान न देवें। अगले संस्करण में उन्हें ठीक करा दिया जावेगा।

काशी
विजय दशमी
सम्वत् १९८८ वि०

विनीत—
**चन्द्रिका प्रसाद, मैनेजर**
साहित्य-भूषण-कार्यालय,
बनारस सिटी

# कविवर लाला भगवानदीन
## का
# परिचय

कविवर 'दीन' का जन्म संवत् १६२३ में श्रावण सुदी छठ तदनुसार १७ अगस्त सन् १८६७ ई० को गुरुवार के दिन हुआ था। जाति के आप श्रीवास्तव दूसरे कायस्थ थे। आपके पिता का शुभनाम मुंशी कालिकाप्रसादजी तथा माता का श्रीमती सुरजनमती था। पितामह का नाम मुन्शी काशीप्रसादजी और प्रपितामह का नाम मुन्शी गणेशप्रसादजी था। मुन्शी गणेशप्रसादजी के पिता (चरित्रनायक के वृद्ध प्रपितामह) मुन्शी दौलतरायजी नवाब अवध की ओर से परगना देवरख जिला रायबरेली के कानूनगो थे और अपने वंश के अंतिम कानूनगो थे। इस प्रकार चरित्रनायक का खानदानी सिलासिला (अथवा परिवारिक सम्बन्ध) ज़िला रायबरेली से है यद्यपि आपके खानदान का वर्तमान निवास स्थान ज़िला फ़तेपुर में आपके प्रपितामह के समय से चला आ रहा है। इस समय भी आपके पूर्वजों के अधिकार में कुछ भूमि परगना देवरख ज़िला रायबरेली के ईसा गाँव तथा कंजास नामक ग्रामों में है।

लाला जी अपने माँ बाप की एकलौते संतान थे और बड़े लाड़-प्यार तथा नाज़ से पले थे। भाग्य पर किसका वश चलता है! अकस्मात् नौ वर्ष की अवस्था में ही उन्हें अपनी प्यारी माता के देहावसान से दुःखी होना पड़ा। माता के देहान्तोपरांत आपका लालन-पालन श्रीमती रुक्मिणीबाई जी द्वारा हुआ था जो कि उनके पिता की फूफी थीं और विधवा होने के कारण बरवट

ही में सबके साथ रहती थीं। 'दीन' जी का विद्यारंभ नव वर्ष की आयु में मूसा नामक मौलवी द्वारा हुआ था। प्रारंभ में तीन वर्ष तक उर्दू व फ़ारसी की शिक्षा पाने के उपरान्त इनके पिता ने इन्हें छावनी नौगाँव में इनके फूफा के पास छोड़ दिया, जहाँ उन्होंने फ़ारसी के सुप्रसिद्ध विद्वान् मुन्शी गंगाबख्शजी वकील रियासत पन्ना से फ़ारसी की तीन पुस्तकें गुलिस्ताँ, बोस्ताँ और यूसुफ़ ज़ुलेखाँ पढ़ीं। इस समय लाला जी की अवस्था १३ वर्ष की हो चुकी थी। इसके बाद घर लौटने पर आपने एक सरकारी स्कूल में मुंशी मातादीन जी मुदर्रिस से हिन्दी सीखी। यहाँ तीन वर्ष तक पढ़े। हिन्दी का अक्षर-ज्ञान स्वयं इनके पिताजी ने छावनी नौवगाँव में ही करा दिया था और सुन्दरकांड रामायण पढ़ाकर नित्य पाठ का उपदेश भी कर दिया था कि जिसके कारण अंत समय तक उन्हें सुन्दरकांड कंठस्थ था। १७ वर्ष की अवस्था में अर्थात् ३ दिसम्बर सन् १८८३ ई० में आपका प्रवेश अंगरेज़ी मिडिल स्कूल फ़तेहपुर में हुआ और पाँच वर्षोपरांत १८८८ ई० में आपने अंगरेज़ी मिडिल प्रांत भर में प्रथम ४० विद्यार्थियों में स्थान प्राप्त कर पास किया कि जिससे इन्हें दो वर्ष तक ५) पाँच रुपया सरकार से छात्रवृत्ति स्वरूप मिलती रही। दो वर्ष बाद ऐंट्रेंस पास किया। कायस्थ पाठशाला प्रयाग से छात्रवृत्ति पाकर म्योर सेन्ट्रल कालेज में भरती हुए, परन्तु धनाभाव तथा गृहस्थी व ट्यूशनों के झंझटों से यह कालेज की परीक्षा में उत्तीर्ण न हो सके। लाचार होकर पढ़ना छोड़ना पड़ा। छतरपुर में ही इन्होंने पंडित गंगाधर व्यास से काव्य के कुछ नियम सीखे थे और शृंगार-शतक, शृंगार-तिलक और रामायण के दोहों पर कुंडलियों की रचना की थी।

पढ़ना छोड़ते ही आप कायस्थ पाठशाला प्रयाग में शिक्षक नियत हो गये। उसके बाद ६ मास तक ज़नाना मिशन हाई स्कूल प्रयाग में फ़ारसी के शिक्षक

होकर काम करते रहे। फिर छतरपुर राज्य स्कूल के सेकेंड मास्टर होकर चले गये और वहाँ १८६४ ई० से १६०७ ई० तक रहे। यहाँ पर इन्होंने मालती सारदा सदन पुस्तकालय स्थापित किया था जो ईश्वर की दया से अब तक स्थायी रूप से चल रहा है। १६०७ में ये काशी के हिन्दू स्कूल में उर्दू-फ़ारसी के शिक्षक नियुक्त हुए। फिर काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित "हिन्दी शब्दसागर" के सहायक सम्पादक हो गए। और वहाँ का काम कई वर्ष तक करते रहे परन्तु जब कोष विभाग का काम उठ कर काशमीर चला गया था तब ये वहाँ न जाकर, गया में लक्ष्मी नामक पत्रिका का सम्पादन का काम स्थायी रूप से १॥ वर्ष तक करते रहे ( यद्यपि लक्ष्मी सम्पादन का काम २० वर्ष तक किया है )। प्रयाग में भी कुछ रोज तक कोई काम करते थे। पर जब कोष विभाग का काम फिर काशमीर से काशी चला आया तो आपको फिर प्रयाग का काम छोड़कर काशी आकर कोष विभाग का काम करना पड़ा। किन्तु सन् १६१७ ई० में जब हिं० वि० वि० काशी में एक सुयोग्य हिन्दी साहित्यज्ञ की आवश्यकता पड़ी तो ये हिन्दी के लेकचरर हो गये। और अपने जीवन के अंतिम काल तक वहाँ का काम करते रहे।

आचार्य 'दीन' के तीन विवाह हुए थे। प्रथम विवाह ग्राम केसवाही ज़िला हमीरपुर के लाला कालीचरण जी की सबसे ज्येष्ठ पुत्री श्रीमती पारवती देवी से हुआ था। इस विवाह से इनको दो पुत्री थीं। प्रथम पुत्री तो कुछ ही दिन बाद मर गई परन्तु दूसरी कन्या जो प्रयाग में हुई थी, जिस कन्या का नाम श्रीमती अन्नपूर्णा देवी था और उसका विवाह मुहल्ला पियरी शहर बनारस में मुन्शी विन्दाप्रसादजी ( पेनशनयाफ्ता मुन्सरिम ) के भतीजे बा० वीरप्रताप ( उर्फ़ छेदीलालजी ) से हुआ था जो आज-कल सबडिप्टी इन्सपेक्टर ज़ि० मिर्ज़ापुर हैं। इस समय अब अन्नपूर्णा देवी भी नहीं हैं। द्वितीय विवाह

क़सबा शादियाबाद ज़िला ग़ाज़ीपुर में मुन्शी परमेश्वरदयाल साहब की पुत्री श्रीमती गुजराती देवी ( उपनाम बुन्देलाबाला ) से हुआ था। इनसे केवल एक संतान पुत्र के रूप में हुई जो केवल सात मास जीवित रही। तृतीय विवाह गुजराती देवी की छोटी बहिन श्रीमती अशर्फ़ी देवी से हुआ है, इनसे कोई भी संतान नहीं हुई। आपकी द्वितीय धर्मपत्नी बड़ी सुयोग्य, सुशिक्षिता तथा विद्याव्यसनी थीं। आप कवि थीं और उत्तम कविता करती थीं, आपकी कविता उपदेशप्रद तथा देशोन्नति के भावों से भरी रहती थी। आपने कविता करना अपने पति कविवर 'दीन' से ही सीखा था। आपके सुयोग्य देहांत पर लालाजी को परम दुःख हुआ कि जिसका वर्णन उन्होंने "बाला बिलाप" नामक कविता में बड़े मार्मिक छन्दों में किया है।

कविवर 'दीन' का स्वभाव बड़ा ही सरल तथा आकर्षक था। वह जब अपने शिष्यों से वार्तालाप करते थे तो ऐसा जान पड़ता था कि मानो वह उनके मित्र तथा बराबरी के हों। सदैव हँसना हँसाना उनके स्वभाव का सब से बड़ा गुण था। उनके स्वभाव का तीसरा गुण स्पष्टवादिता थी। जो दिल में होता था उसे छिपाकर रखना मानों उन्हें भाता ही न था। स्वनामधन्य बाबू श्यामसुन्दरदास ने भी उनके इस गुण का उल्लेख उस सभा में किया था, जो काशी नगरी प्रचारिणी सभा ने लालाजी की मृत्यु पर शोक प्रकाशनार्थ की थी। आपके स्वभाव का चौथा गुण जो बालपन ही से उनमें था वह है उनकी निर्भीकता। संभवतः उनके वीररस-प्रेम तथा वीररस कथन का मुख्य कारण भी उनकी यही प्रकृति रही हो। कभी कभी वह अपने लेखों में अरसिकों तथा शृंगार-रस से नाक भौं सिकोड़ने वालों को कड़ी फटकार भी सुना दिया करते थे। इनके अतिरिक्त कविवर 'दीन' के स्वभाव में भक्ति-भाव का प्रचुर मिश्रण यथेष्ट मात्रा में विद्यमान था। गृहस्थ होते हुए भी वह भगवान्

रामचन्द्र, योगेश्वर कृष्ण, शिव और महासती पारवतीजी के परम भक्त और उपासक थे। गृहस्थ रहते हुए भी उन्हें परमार्थ का इतना अधिक ध्यान रहता था कि जितना बहुत कम लोगों में देखा जाता है। उनके भक्तिमय जीवन की मार्मिक झलक उनकी बहुत सी चमत्कारपूर्ण कविताओं से साफ़ साफ़ लक्षित होती है।

लालाजी की रहन-सहन तथा वेष-भूषा बड़ी ही सादे ढंग की थी। उन्हें अपनी पोशाक की सुन्दरता तथा तड़क भड़क के कुछ भी परवाह नहीं रहती थी। सदैव सादी काट-छाँट के कपड़े पहना करते थे। जिस पोशाक में कालेज में पढ़ाने जाते थे। उसी पोशाक में बड़ी बड़ी सभा-समाजों में जाया करते थे। इस पोशाक में पारसी कोट छोटी मोढ़ी का पाजामा, शू (अर्थात् अँगरेज़ी ढङ्ग का जूता), कमीज या कुरता और मध्यम काट की टोपी शामिल थी। कभी कभी एक डुपट्टा भी गले पर डाल लेते थे।

'दीन' जी ने नियमित रूप से कविता करना उस समय से प्रारंभ किया था कि जब वे लगभग १६ वर्ष के थे और अपने अंत समय तक करते रहे। इस प्रकार उनका कविता काल सन् १८८६ ई० से प्रारंभ होकर जून सन् १९३० ई० तक लगभग ४४ वर्ष था, जिस काल में उन्होंने अनेक प्रकार के छन्दों, अनेक प्रकार के रसों, तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं और विचारों के सम्बन्ध में अनेक ओजपूर्ण कवितायें लिखी हैं।

आचार्य 'दीन' गद्य और पद्य दोनों ही के एक परम कुशल लेखक थे। जैसी ओजपूर्ण उनकी कवितायें होती थीं वैसा ही फड़कता हुआ वह गद्य भी लिखते थे। अरबी व फ़ारसी के चलते हुए शब्द उनके गद्य और पद्य दोनों ही में समान रूप से विद्यमान हैं। गद्य की भाषा मुहावरेदार है। लालाजी का

हिन्दी पद्य, खड़ी बोली और ब्रजभाषा दोनों ही में है। समय समय पर मुशायरों के लिये लिखी हुई उनकी उर्दू कवितायें भी बहुत सी हैं जो आपकी अनेक हिन्दी कविताओं के समान अब तक अप्रकाशित पड़ी हैं। हिन्दी कविता में वह अपना उपनाम 'दीन' रखते थे परन्तु उर्दू कविताओं में वह अपना उपनाम 'रौशन' रखते थे। खड़ी बोली की कविता भी मुहावरेदार होती थीं। खड़ी बोली की कविताओं के लिये आपने उर्दू बहार ही का विशेष प्रयोग किया है और इसमें उन्हें पूर्ण सफलता भी हुई है। हिन्दी साहित्य में सर्वप्रथम इस मार्ग के प्रवर्तक होने का सेहरा आप ही के सर है। खड़ी बोली की अधिकांश कवितायें वीररस सम्बन्धी हैं। मध्य प्रांत में तो आपकी अनेक वीररस सम्बन्धी कवितायें कहावतों तथा जनश्रुतियों की तरह लोगों को कंठस्थ हैं। इतने बृहत् और बहुमूल्य वीररसात्मक ग्रन्थ 'वीरपंचरत्न' के थोड़े से समय में चार संस्करणों का हाथों हाथ बिक जाना ही उनकी वीररसात्मक कविता के अधिक प्रचार तथा लोकप्रियता का एक उत्तम उदाहरण है। आपकी ब्रजभाषा की कवितायें भी इतनी मधुर, सरस, और भावमय हैं कि हृदय पर तुरन्त अपना गहरा प्रभाव डालती हैं। वीररस के अतिरिक्त उन्हें "भक्ति", "श्रृंगार" तथा "हास्य" रसों के लिखने में भी समान रूप से सफलता प्राप्त हुई है। यद्यपि "करुण" और "रौद्ररस" पर आपकी रचना बहुत ही कम है परन्तु जो है वह इतनी सुन्दर हुई है कि उसमें भी कुशल शब्द-शिल्पी की पूर्ण सफलता लक्षित होती है।

आचार्य पं० रामचन्द्रजी शुक्ल ने लालाजी की कविता के सम्बन्ध में अपने 'हिन्दी साहित्य का इतिहास' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि "लाला भगवानदीन 'दीन' ने अपनी जवानी के आलम में पुराने ढंग की कविता का अच्छा जौहर दिखाया था। फिर लक्ष्मी के मुस्तक़िल सम्पादक हो जाने पर आपने खड़ी

बोली की ओर रुख किया और बड़ी फड़कती हुई कवितायें लिखने लगे......
......भक्ति और शृंगार की इनकी पुराने ढंग की कविताओं में उक्ति-चमत्कार की बहुत अच्छी विशेषता रहती है।"

यह बात किसी से भी छिपी नहीं है कि कविवर 'दीन' केवल एक सिद्ध-हस्त तथा प्रतिभा-सम्पन्न कवि ही नहीं थे वरन् वे एक प्रसिद्ध साहित्यमर्मज्ञ, टीकाकार तथा उद्भट समालोचक भी थे। शिक्षक भी इतने उत्तम थे कि जो बात एक बार समझा देते थे उसका भूलना भी कठिन था। पढ़ाते समय वह विद्यार्थियों के चित्त को अपनी ओर आकर्षित कर लेते थे। उनकी विद्वता के यदि दर्शन करने हों तो चाहिये यह कि दीन कृत "अलंकार-मंजूषा" "व्यंगार्थ मंजूषा" "विहारी और देव" तुलनात्मक समालोचना देखने का कष्ट उठावें। इनके अतिरिक्त केशव कृत रामचन्द्रिका तथा कविप्रिया, बिहारी कृत बिहारी सतसई तथा गो० तुलसीदास कृत कवितावली, दोहावली तथा विनयपत्रिका और दीनदयालगिरि कृत अन्योक्ति-कल्पद्रुम की कविवर दीन कृत टीका व उनमें दी हुई भूमिकाएं तथा अन्य सम्पादित ग्रन्थों की भूमिकायें, अन्तर्दर्शन और टिप्पणियाँ पढ़ें। प्राचीन काव्य के समझने और समझाने में आपकी बराबरी का शायद ही कोई विद्वान हिन्दी-जगत में मिले। बुन्देलखंडी भाषा-तत्वविज्ञों में आप अपना सानी ही नहीं रखते थे।

आपने विद्यादान यहाँ तक किया है कि छुट्टी के दिन भी आपको लोगों को पढ़ाने लिखाने के और कोई काम ही न रहता था। मेरे समझ में पन्द्रह सोलह वर्ष हुआ होगा कि आपने यहाँ पर एक हिन्दी साहित्य विद्यालय स्थापित किया था जिसमें कि ऊंचे दर्जे की पढ़ाई का काम सायंकाल दो घंटे तक करते कराते थे। इस तरह पर आपने अपने कई एक शिष्यों को विद्वान बना दिय

है। यह विद्यालय अभी तक चल रहा है। अब इस विद्यालय का नाम लोगों ने दीनजी के नाम पर 'भगवानदीन साहित्य विद्यालय' रख दिया है।

इस नश्वर संसार में मृत्यु भी एक अटल नियम है। इस नियम में जगत के सभी प्राणी बँधे हुए हैं। हमारे चरित्रनायक कविवर लाला भगवानदीन जी भी इस नियम को उल्लंघन नहीं कर सके। २८ जुलाई सन् १९३१ ई० का दिन और सायंकाल का समय वह समय था कि जिसे हिन्दी जगत बहुत दिनों तक नहीं भूलेगा। यह समय वह था कि जब हिन्दी जगत के प्रसिद्ध आचार्य कविवर लाला भगवानदीन 'दीन' हमारे बीच से सदैव के लिये हटा लिए गए। आपको ज़हरबाद ( Frysipelas ) हो गया था। बाइस दिनों की विकट वेदना के बाद सावन शुक्ला तृतीया सम्वत् १९८७ को आपने अपने हिन्दी-साहित्य विद्यालय में शरीर छोड़ा।

———

# अन्योक्ति-कल्पद्रुम

## प्रथम शाखा

### दोहा

मूल—यह कल्पद्रुम* बुध सुखद, अरथ अनूप उदार।

बिरच्यो दीनदयाल गिरि, अभिमत-फल-दातार ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कल्पद्रुम=( सं० कल्पना+द्रुमं ) वह वृक्ष जो कल्पना किए हुए पदार्थ दे। स्वर्ग में पाँच वृक्ष ऐसे हैं जिनके नीचे जाने से सभी कामनाओं की पूर्ति हो जाती है। वे पाँच वृक्ष ये हैं :—

( १ ) मन्दार, ( २ ) पारिजात, ( ३ ) संतान, ( ४ ) कल्पवृक्ष और ( ५ ) हरिचंदन†। देवताओं और दैत्यों ने समुद्र मथकर

*कल्पस्य वृक्षः कल्प-वृक्षः जन्य-जनक भावे षष्ठी। कल्पः संकल्पितोऽर्थः तस्य वृक्षः। कल्प विकल्पे कल्पद्रौ संवर्त्ते ब्रह्मवासरे। शास्त्रे न्याये विधौ...... इति हेमचन्द्रः।

† पञ्चैते देवतरवो मन्दारः पारिजातकः।
सन्तानः "कल्पवृक्षश्च" पुंसि वा हरिचन्दनम् ॥

—अमरकोश।

चौदह रत्न निकाले थे। उन्हीं १४ रत्नों में एक कल्पवृक्ष भी है।*

अनूप=( सं० ) अनुपमा उदार=(सं०) विस्तृत, व्यापक। अभिमत= अभीष्ट, मन-इच्छित। दातार=( सं० दातृ ) देने वाला।

भावार्थ—सरल ही है।

## मंगलाचरण

( कुंडलिया )

मूल—बंदौं मंगलमय बिमल, ब्रज-सेवक सुख-दैन।
जो करि-वर-मुख मूक ही, गिरा नचाव सुखैन॥
गिरा नचाव सुखैन, सिद्धिदायक सब लायक।
पसुपति-प्रिय हिय-बोधकरन निरजर-गन-नायक॥
बरनै दीनदयाल दरसि पदद्वंद अनंदौं।
लंबोदर मुदकंद देव दामोदर बंदौं॥ २॥

प्रकरण—इस छंद में श्लेष से लंबोदर और दामोदर दोनों की स्तुति की गई है।

शब्दार्थ—( गणेश-पक्ष )—विमल=मल रहित, विकारहीन। ब्रज ( सं० 'व्रज्' गमने धातु से )=मार्ग। ब्रजसेवक=पथिक, यात्री। करिवर-मुख=श्रेष्ठ हाथी के समान मुखवाले ( गणेश )। मूक=( सं० ) गूंगा, जो

---

*उन १४ रत्नों के नाम ये हैं—

श्री, मणि, रंभा, वारुणी, अमिय, शंख, गजराज।
'कल्पद्रुम', शशि, धेनु, धनु, धन्वंतरि, विष, बाज॥

बोल नहीं सकता। सुखैन=(सं० सुखेन) सुखपूर्वक, सहज ही। सिद्धि=आठ सिद्धियाँ।*

अथवा कार्यों की सफलता। लायक=(अरबी) योग्य। पसुपति-प्रिय= पशुपति (महादेवजी) के प्यारे (षष्ठीतत्पुरुषसमास)। हिय= (सं० हृदय)। बोध=ज्ञान। निरजर=(सं० निर्जर) (निर्) नहीं है जरा (वृद्धावस्था) जिसको अर्थात् देवता बहुब्रीहि)। गन=(गण) महादेव जी के सेवक—भूत-प्रेतादि। गननायक=श्रीगणेशजी महादेवजी के गणों के अधिपति हैं, इसीसे उनका नाम 'गणेश' है। दरसि=देखकर। पदद्वंद= पदों का द्वंद्व (जोड़ा) दोनों चरण। अनंदौं=('आनंद, भाववाचक संज्ञा से 'आनंदना' क्रिया बना ली है) प्रसन्न होता हूँ। लंबोदर=लंबा है उदर जिसका अर्थात् श्रीगणेश जी (बहुब्रीहि)। मुद=(सं०) आनन्द। कंद=(सं० कं०=जल +द=देनेवाला) बादल।

(श्रीकृष्ण पक्ष)—व्रज=देश विशेष, जहाँ वृंदावन, गोकुल, बरसाना आदि नगर बसते हैं। व्रजसेवक=ग्वाले, व्रजवासी। जो करिवर-मुख मूक ही गिरा नचाव सुखैन=जो हाथी के मुखवाले अतएव गूंगे श्रीगणेशजी के मुख में भी सहज ही वाणी का संचार करते हैं (अन्यथा हाथी का मुख नर-वाणी बोले यह असम्भव है)। इसका अर्थ यों भी समीचीन है, "जो मूक ही वर-मुख करि......।" अर्थात् गूंगे को भी श्रेष्ठ मुखवाला बना कर...। पशुपतिप्रिय=(तत्पुरुष द्वारा) शिव के प्यारे; (बहुब्रीहि द्वारा) शिव जिनको प्यारे हैं अर्थात् श्रीकृष्ण। निरजरगन-नायक= सब देवताओं में श्रेष्ठ। दामोदर=दाम (रस्सी) है उदर में

*अणिमा, महिमा, चैव, गरिमा लघिमा, तथा।
प्राप्ति, प्राकाम्य-मीशित्वं वशित्वं चाष्टसिद्धयः॥—(अमरकोशः)

जिसके अर्थात् श्रीकृष्ण ( बहुव्रीहि ); ( यशोदा ने श्रीकृष्ण जी को रस्सी द्वारा ऊखल में बाँधा था )। 'दाम' का अर्थ 'इंद्रिय-निग्रह' भी होता है। अत: 'दामोदर' का अर्थ वही हो सकता है जो 'हृषीकेश' का अर्थात् 'इंद्रियों का दमन करनेवाले'। यहाँ 'उदर' का अर्थ 'पेट' न लेकर लक्षणा से 'चित्त' लेना होगा।

विशेष—ग्रंथ की निर्विघ्न समाप्ति के लिये ग्रंथकार दीनदयाल गिरि जी सर्वसिद्धिदायक विघ्नविनाशक श्रीगणेशजी की बंदना करते हैं। पर एक छंद में श्रीगणेशजी के साथ श्रीकृष्णजी की भी बंदना करने में कवि ने 'श्लेष' से जो काम लिया है वह वास्तव में सराहनीय है। श्लिष्ट शब्दों के दो दो अर्थ करने में तोड़ मरोड़ या खींचातानी करने की भी जरूरत नहीं पड़ती।

भावार्थ—( श्रीगणेशजी)—कवि दीनदयाल गिरि कहते हैं—मंगलकारी, निर्मल ( निर्विकार ), यात्रियों को सुख देनेवाले ( यात्रा के आरंभ में गणेशजी का स्मरण करने से यात्री के मार्ग में कोई विघ्न नहीं पड़ता और वह सुख-पूर्वक अपनी यात्रा समाप्त करता है ), स्वयं गजानन होते हुए भी गूँगे में सहज ही वाणी का संचार करनेवाले ( अर्थात् जिनके प्रसाद से गूँगा भी बोलने लगता है ), प्रत्येक कार्य में सफलता देनेवाले, सर्व सद्गुण संपन्न, महादेवजी के प्यारे ( पुत्र ), हृदय में ज्ञान पैदा करनेवाले, निर्जर ( सदा बाल-स्वरूप ), शिवजी के गणों ( भूत-प्रेतादिकों ) के अधिपति, ऐसे आनंद को बरसाने वाले देवता श्रीलंबोदर ( गणेश ) जी की बंदना करता हूँ और उनके चरण युगल को देख कर आनंदित होता हूँ।

( श्रीकृष्णजी )—दीनदयाल कवि कहते हैं—मंगलमय, निर्विकार, ब्रजवासी गोपगणों को सुख देनेवाले, हाथी के मुख वाले अतएव गूंगे श्रीगणेशजी में भी सहज ही वाणी का संचार करनेवाले, अष्टसिद्धि के दाता,

सब प्रकार से योग्य, महादेवजी को प्यार करनेवाले (अथवा महादेवजी के प्यारे), सब देवगणों के स्वामी, ऐसे आनंद के देनेवाले भगवान श्रीकृष्णजी की बंदना करता हूँ और दोनों चरणों को देख कर प्रसन्न होता हूँ।

अलंकार—अर्थश्लेष।

## कल्पद्रुम

मूल—दानी हौ सब जगत में एकै तुम मंदार।
दारन दुख दुखिया के अभिमत-फल-दातार॥
अभिमत-फल-दातार देवगन सेवैं हित सों।
सकल संपदा सोह छोह किन राखत चित सों॥
बरनै दीनदयाल छाँह तव सुखद बखानी।
ताहि सेइ जो दीन रहै दुख तौ कस दानी॥ ३॥

शब्दार्थ—एकै=(सं० एकैव) एक ही, एक मात्र। मंदार पाँच देववृक्षों में से एक वृक्ष; इन पाँचों वृक्षों को 'कल्पवृक्ष' कहते हैं। दारन दुख=(दुःख-दारण) दुःखों का नाश करनेवाले। छोह=दया। संपदा=ऐश्वर्य। बखानी=कही गई है।

भावार्थ—हे कल्पवृक्ष, संसार में दानी केवल तुम्हीं हो, क्योंकि तुम दुखियों के दुःख दूर करते हो और मन इच्छित पदार्थ देते हो। इसी से देवता बड़े प्रेम से तुम्हारी सेवा करते हैं। तुममें सभी संपत्ति शोभती है, अतएव लोग जी-जान से क्यों न तुमको प्यार करें? तुम्हारी छाया तक सुख देनेवाली कही जाती है। किन्तु तुम्हारी उस छाया की सेवा करने पर भी कोई दीन मनुष्य यदि दुःखी ही रहे (उसका दुःख दूर न हो) तो तुम दानी कैसे?

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी उदारचेता धनी पुरुष की ओर लक्ष्य करके कही गई है। उदार मनुष्य का काम ही दीन दुखियों की सहायता करना और

यथासाध्य उनकी आवश्यकताएँ पूरी करना है। ऐसे मनुष्यों का सम्मान करने को बड़े-बड़े लोग उत्सुक रहते हैं। संसार की यह रीति ही है कि जिसके पास धन संपत्ति होती है उसे सभी मानते हैं। फिर अगर वह उदार ( दानी ) भी हो तो कहना ही क्या ? उसकी छाया के निकट रहना तक—उसके पड़ोस पास में रहना तक—सुखद माना जाता है। ऐसे दानी के निकट रहने पर भी अगर कोई दीन-दुखी रह जावे तो उसकी उदारता में बट्टा लगता है। कारण कि उदारचेता धनी मनुष्य की सेवा निष्फल हो नहीं सकती।

## षट्ऋतु—वर्णन

### वसंत

मूल—हितकारी ऋतुराज तुम साजत जग आराम।
सुमन सहित आसा भरो दलहिँ करौ अभिराम॥
दलहिँ करौ अभिराम कामप्रद द्विज गुन गावैं।
लहि सुबास सुखधाम बात त्रर ताप नसावैं॥
बरनै दीनदयाल हिये माधव धुनि प्यारी।
श्रवन सुखद सुकबैन विमल बिलसै हितकारी॥ ४॥

प्रकरण—यह अन्योक्ति बसंत और किसी हितकारी पुरुष को लक्ष्य करके कही गई है।

शब्दार्थ—( वसंत-पक्ष )—हितकारी=( सं० ) दूसरे की भलाई करने वाला, ऋतुराज=ऋतुओं में श्रेष्ठ ( वसंत ऋतु )। साजत=सजाये हो। आराम=( सं० ) बाग, उपवन। सुमन=( सं० ) फूल। आसा=( सं० आशा ) दिशा। दलहिं=पत्तों को, पल्लवों को। अभिराम=सुन्दर। ( वसंत में नवीन किसलय बड़े ही सुन्दर दिखलाई देते हैं। ) कामप्रद=काम को उत्तेजित करने वाला।

( वसंत कामदेव का सखा और सहायक माना जाता है, क्योंकि इस ऋतु में कामोद्दीपन होना बहुत स्वाभाविक है । ) द्विज=( सं० ) दो बार जिसका जन्म हो अर्थात् पक्षी ( एक बार गर्भ से दूसरी बार अंडे से ) । लहि=( सं० लभ् ) पाकर । सुवास=सुगंध । सुखधाम=सुखद । (सुवास का विशेषण है ) बातबर=सुन्दर (मंद, सुगंध, शीतल ) मलयाचल की वायु । ताप गर्मी । हिये=हृदय में । माधव=वैशाख के महीने का नाम 'माधव' है; यहाँ पर लक्षणा से इसका अर्थ 'वसंत' लिया जायगा । सुक=( सं० शुक ) सुग्गा, तोता । ( शुक का अर्थ भी लक्षणा से वसंत में होनेवाले पक्षी लिया जायगा ) । बैन=(सं० वचन, प्रा० वअन ), बोला ।

( परोपकारी पक्ष )—आराम=( सं० ) सुख-चैन । सुमन=अच्छे मन अर्थात् अच्छे अच्छे विचार । सहित=हित के सहित । दल=परिवार । अभिराम=आनंदित । कामप्रद=सबकी कामनाओं को पूरा करनेवाला । द्विज= ब्राह्मण ( जन्म से और संस्कार से ) । सुबास=सुन्दर वस्त्र । धाम=घर । बातबर=मीठी मीठी (सहानुभूतिपूर्ण) बातें । ताप=दुःख । माधव=(मा= लक्ष्मी + धव=पति) लक्ष्मी के पति भगवान् श्रीकृष्णजी । सुक=शुकदेव ।

भावार्थ—( वसंत पक्ष )—हे वसंत, तुम बड़े उपकारी हो क्योंकि तुम सारे संसार रूपी उपवन को सुसज्जित कर देते हो, रंग विरंगे फूलों से दिशाओं को भर देते हो, पत्तों ( किसलयों ) को नूतन एवं हरा भरा कर देते हो और कामोद्दीपक ( काम के सखा ) हो इसी से तुम्हारा गुणगान करते हैं । ( वसंत में असंख्य प्रकार की चिड़ियाँ गाती हैं ) । मलयाचल की सुन्दर वायु तुमसे ( वसंत ऋतु के सुगंधित पुष्पादि से ) अत्यन्त सुखद सुगंध पाकर गरमी का नाश करती है । दीनदयाल कवि कहते हैं कि—हे माधव ( वसंत ) तुम्हारे हृदय में कानों को प्रिय लगनेवाले सुग्गा, कोकिल आदि

वासंती पक्षियों के मधुर कूजन की प्यारी ध्वनि ( कलरव ) विराजमान है। ( वसंत में पक्षियों का कलरव बड़ा ही मधुर जान पड़ता है ) इसलिये तुम हितकारी की भाँति निष्कपट रूप से विलास करते हो। ( वसंत की वायु बड़ी शुद्ध—निर्मिल—होती है )।

(परोपकारी पक्ष )—हे परोपकारी, तुम वसंत ऋतु के समान सब लोगों को सुखी करते हो। तुम मनस्वी हो, क्योंकि दूसरे का हित-चिंतन ही तुम्हारे मन का काम है। तुम और लोगों की आशा ( कामना ) तो पूरी करते ही हो, साथ ही अपने परिवार वालों को भी संतुष्ट एवं सुखी रखते हो, इसी से ब्राह्मण तुम्हारा गुणगान करते हैं। दीन दुःखी भी तुमसे सुन्दर कपड़े और सुख देनेवाले निवास स्थान पाकर, तुम्हारे सहानुभूतिपूर्ण मधुर वचनों से अपने दुखों को भूल जाते हैं। तुम्हारे हृदय में श्रीकृष्ण का मधुर उपदेश ( दरिद्रान् भर कौन्तेय, मा प्रयच्छेश्वरे धनम्—गीता ) गूंज रहा है और कानों से शुकदेव जी के सुख देने वाले वचन सुनते हो अर्थात् नित्य श्रीमद्भागवत श्रवण करते हो, इसलिये हे हितकारी तुम निष्कपट रूप से आनन्द करते हो।"

अलंकार—श्लेष।

मूल—लूटे साखिन अपत करि, सिसिर सुसजे बसंत ॥
दै दल सुमन सुफल किए, सो भल सुजस लसंत ॥
सो भल सुजस लसंत सकल द्विजगन गुन गावैं ॥
अमल कमल जल जीव हंस हरि बर सुख पावैं ॥
बरनै दीनदयाल दुसह दुख तें द्रुम छूटे ॥
भे तुरंत विकसंत अंत अतिसै जे लूटे ॥ ५ ॥

शब्दार्थ—साखिन=( सं० शाखिन् ) वृक्षों को। अपत=( १ ) पत्र-हीन पत्तों से रहित ( २ ) पति ( प्रतिष्ठा ) हीन। सिसिर=( सं० शिशिर )

माघ फाल्गुन का जाड़े का मौसम। दल=पत्ता। लसंत=शोभता है। द्विजगन=( १ ) पक्षी; ( २ ) ब्राह्मण। हरि=शुक। अतिसै=( सं० अतिशय ) अत्यंत।

भावार्थ—शिशिर ऋतु ने जिन पेड़ों को लूट लिया था और पत्ते झाड़ दिये थे, उन्हीं वृक्षों को वसंत ने फिर से सुसज्जित कर दिया, नवीन पल्लव और पुष्प देकर उन्हें फलने वाला बना दिया। वसंत का यह सुयश भली भाँति शोभायमान है। सभी पक्षी उसका गुणगान कर रहे हैं। स्वच्छ कमल, जलजंतु, हंस, सुग्गे आदि ( सुन्दर सुन्दर पक्षी ) सुख पाते हैं। पेड़ तो मानो बड़े असह्य दुःख से छुटकारा पा गए हैं। जो पेड़ पहले शिशिर में ( अपनी फूल पत्ती आदि संपत्ति से ) बिलकुल लूटे गये थे, अन्त में वे ( वसंत के आते ही ) शीघ्र ही पल्लवित एवं फल फूल संयुक्त हो गए।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति से कवि का अभिप्राय दुर्जन की निंदा एवं सज्जन की प्रशंसा करने से है। दुर्जन के अधीन या उसके पड़ोस में रहने वाले को बड़ा भारी कष्ट होता है। बेचारे को धनसंपत्ति से तो हाथ धोना ही पड़ता है, साथ ही उसकी इज्जत भी उतारी जाती है। परन्तु सज्जन की संगति या अधीनता में आते ही उसके दिन पलट जाते हैं। सज्जन स्वामी अथवा मित्र वही काम करता है जिससे उसके द्वारा पास पड़ोस के लोगों को सुख पहुँचे, किसी प्रकार का कष्ट न मालूम हो और सबकी कामनाएँ पूरी हों यदि दुर्जन के समय सर्वत्र हाहाकार ही मचा रहता था तो सज्जन के आते ही सभी सुखी और संपत्तिशाली हो जाते हैं, यहाँ तक कि प्रकृति ( पशुपक्षी, लतापुष्प इत्यादि ) भी प्रसन्न मालूम पड़ते हैं। यही सज्जन की महिमा है। अतः यदि लोग सज्जन के गुण गावें अथवा यदि सज्जन का यश ही फैले तो इसमें आश्चर्य ही क्या ?

अलंकार—श्लेष ( अपत, सुमन, सुफल, द्विजगन शब्दों में )।

८

मूल—तौ लों हे ऋतुराज नहिं कोकिल काग विचार।
स्याम स्याम रँग एक से सोहत एकै डार॥
सोहत एकै डार काक कछु वाक न बोलै।
ऐंड़ो रहै निसंक तासु हाँसी करि डोलै॥
बरनै दीनदयाल नहीं गुन आवत जौ लौं।
काक कोकिला ज्ञान जात नहिं जानो तौ लों॥ ६॥

शब्दार्थ—तौ लों=तब तक। स्याम=(श्याम) काले। वाक=(सं० वाक्) वाणी। ऐंड़ो=अभिमान से अकड़ा हुआ। निसंक=(सं० निश्शंक) निडर, वेफिक्र। तासु=कोकिल की। डोलै=फिरता है। जौ लौं=जब तक। काक कोकिल=निर्गुण और गुणी।

भावार्थ—(दीनदयाल गिरि वसंत को संबोधन करते हुए कहते हैं) हे वसंत, (जब तक तुम्हारा आगमन नहीं होता) तब तक कोकिल और कौवे की पहिचान नहीं हो सकती, रंग में दोनों एक से काले होते हैं और एक ही शाखा पर बैठे शोभते हैं। (कोकिल वसंत के सिवा और किसी ऋतु में कूकती नहीं, इस अनुभव से लाभ उठाकर लोगों के निकट अपने को कोकिल सिद्ध करने के लिये) कौवा (भी) कुछ नहीं बोलता (क्योंकि बोलते ही उसका भेद खुल जायगा) और अपने गुण के अभिमान में ऐंठा रहता है, तथा निर्भय होकर कोकिल की हँसी करता फिरता है, पर यह बात बहुत दिनों तक रहने नहीं पाती। जब तक वसंत (गुणग्राही) के अभाव में कोकिल की कल-काकली (गुण) प्रकट नहीं होती तभी तक 'कोकिल कौन है' और 'कौवा कौन है' इस बात की पहिचान करना कठिन है। (क्योंकि ज्योंही कोकिल कूकती है त्योंही वह साफ पहिचानी जाती है)।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति का अभिप्राय यह है कि गुणग्राही के अभाव में जब तक किसी के गुण जनता के सामने प्रत्यक्ष नहीं होते तब तक भले बुरे सभी एक से होते हैं, सबका रूप रंग समान होता है। दुर्जन भी सज्जन का वेष धारण कर लोगों में अभिमानपूर्वक विचरण करते हैं और सज्जनों की हँसी करते फिरते हैं। पर ज्योंही किसी गुणग्राही का आगमन होता है त्योंही सज्जन के छिपे हुए गुण प्रकट होने लगते हैं, साथ ही दुर्जन का भी भंडाफोड़ हो जाता है और लोगों को भी अच्छी तरह ज्ञात हो जाता है कि कौन सज्जन है और कौन दुर्जन है।

## ग्रीष्म

मूल—ग्रीषम तुम ऋतुराज के पाले दीन सुसाखि।
तिनको दाहत हौ कहा दावानल में माखि॥
दावानल में माखि जारि फिरि राख उड़ाई।
उन दीनन की दसा देखि नहिं दाया आई॥
बरनै दीनदयाल द्विजन तापत क्यों भीखम।
मित्रहु तुमरे संग चढ़ै बृष दारुन ग्रीष्म॥ ७॥

शब्दार्थ—पाले=पाले हुए। सुसाखि=सुंदर हरी भरी शखाओं वाले वृक्ष। दाहत हौ=जलाते हो। दावानल=वन की आग (दँवारि)। माखि=(सं० अमर्ष) क्रोध करके। राख उड़ाना=(मुहावरा) दुर्दशा करना। तापत=गर्मी पहुँचाते हो, झुलसाते हो या कष्ट देते हो। भीखम=(सं० भीष्म) भयंकर। मित्रहु=(१) सूर्य भी (२) सुहृद् भी। वृष=(१) वृषराशि (२) बैल। दारुन=कठिन, कठोर। मित्रहु......ग्रीषम=(१) भयंकर ग्रीष्म ऋतु में सूर्य वृषराशि पर संक्रमण करते हैं, (२) अन्यायी राजा के राज्य में मित्र भी बैल पर चढ़ जाते हैं, अर्थात् मूर्ख हो जाते हैं।

भावार्थ—हे ग्रीष्म, तुम वसंत के पाले हुए दीन वृक्षों को क्रुद्ध होकर दावानल में क्यों जलाते हो? जलाकर छोड़ दो इतना ही नहीं, वरन् तुम उनकी राख तक को उड़ाकर उनका अस्तित्व ही मिटा देते हो, उन बेचारों की दशा देखकर तुमको ज़रा भी दया नहीं आती। हे भयंकर ग्रीष्म, तुम (निर्बल और असहाय) पक्षियों को क्यों अपनी गर्मी में झुलसाते हो। हे ग्रीष्म, वास्त्व में तुम इतने कठोर हो कि तुम्हारी संगति से सूर्य भी वृषराशि पर संक्रमण करके ख़ूब तपने लगते हैं।

तात्पर्य—यह अनोक्ति किसी अन्यायी और ईर्ष्यालु राजा के प्रति है। ऐसा राजा अपने पूर्व राजा के कृपापात्र दीन लोगों पर बहुत अत्याचार करता है। उसको बेचारे दीन दुखियों की विपत्ति देखकर कुछ भी दया नहीं आती। निष्ठुर बनकर, उनकी धन-संपत्ति लूटकर, घर-बार जलाकर, उनका सर्वनाश कर देता है। ब्राह्मणों (पंडितों) पर तो और भी जलभुन कर खाक हो जाता है और उनको बहुत सताता है। ऐसे कठोर अन्यायी के राज्य में मित्र भी बैल पर सवार हो जाते हैं (किंकर्तव्यविमूढ़ बन जाते हैं)। दुःख छुड़ाने में, राजा के कोप से बचाने में, मित्र सहायता करें तो उन्हें भी राजाके कोप का भाजन बनना पड़ता है, न करें तो 'मित्रधर्म' से च्युत होते हैं। बेचारे इसी संशय में पड़कर "न ययौ न तस्थौ" हो जाते हैं।

अलंकार— श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति

मूल—सुखिया जे जे तब रहे लहि ऋतुराज उमंग।
ते सब अब दुखिया भए हे ग्रीषम तुव संग॥
हे ग्रीषम तुव संग साखि सर सूखि गए हैं।
बिकल कमल द्विजराज सकल छविहीन भए हैं॥
बरनै दीनदयाल रह्यो जगप्रान जु मुखिया।
सोऊ तपि दुखदानि भयो जो हो अति सुखिया॥ ८॥

शब्दार्थ—उमंग=उत्साह, आनंद। द्विजराज=श्रेष्ठ पक्षी (कोकिल, हंस, शुक आदि)। छीन=(सं० क्षीण) रहित। जगप्रान=वायु, जो जीवमात्र का प्राण है। (वायु में ही लोग श्वास प्रश्वास लेते हैं, इसके बिना कोई जी नहीं सकता)। मुखिया=मुख्य। तपि=सूर्य की किरणों से गर्म होकर। हो=था। सुखिया=सुखद।

भावार्थ—हे ग्रीष्म, वसंत में सुन्दर आनन्द पाकर जो जो सुखी थे वे सब तुम्हारी संगति पाकर अब दुःखी हो गए हैं। जो (वृक्ष लताएँ हरी भरी थीं, जो तालाब भरे पुरे थे वे) वृक्ष और तालाब सूख गए हैं। कमल (जो वसंत में प्रफुल्लित थे) छविहीन हो गए हैं और पक्षी (हंस, शुक, कोकिल आदि जो वसंत में आनन्द से चहचहाते थे) गर्मी के मारे व्याकुल हो गए हैं। यहाँ तक कि जो वायु जगप्राण कहलाती थी, जो लोगों का मुख्य आश्रय थी, और जो तब (वसंत में) अति सुखद थी, वह भी अब (ग्रीष्म ऋतु में सूर्य-किरणों से तपकर दुःखदायी हो गई है। (गर्मी में 'लू' बहुत ही कष्ट प्रद होती है)।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी अन्यायी और कठोर शासक को लक्ष्य करके कही गई है। न्यायी और उदार शासक के समय में जो प्रजा सुखी रहती है, जिन विद्वानों और गुणवानों का आदर होता है अन्यायी और कठोर शासक के आते ही उसी प्रजा को अनेक कष्ट और अत्याचार सहने पड़ते हैं, उन्हीं विद्वानों और गुणवानों की अप्रतिष्ठा होने लगती है। औरों की तो बात ही जाने दीजिए अपने मुख्य मित्र कहिए अथवा सगे भाई-बंधु भी कुछ तो अधिकारी के दबाव में पड़कर अथवा, 'यथा राजा तथा प्रजा' के सिद्धांत के अनुसार दुःखदायी हो जाते हैं।

## पावस

मूल—पावस ऋतु सुखदानि जग तुम सम कोऊ नाहिं ।
चपलाजुत घनस्याम नित बिहरत हैं तव माहिं ॥
बिहरत हैं तव माहिं नीलकंठहु सुखदाई ।
अंबर देत सुहाय द्विजन की करत सहाई ॥
बरनै दीनदयाल सकल सुख तो सुखमा-बस ।
एकै हंस उदास रहै काहे हे पावस ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—पावस=( सं० प्रावृट् ) वर्षा ऋतु । चपला=( १ ) बिजली ( २ ) राधा । घन-स्याम=( १ ) काले बादल, ( २ ) श्रीकृष्ण । नीलकंठ=( १ ) मयूर, ( २ ) शिव । अंबर=( सं० ) ( १ ) आकाश, ( २ ) वस्त्र । द्विजन=( १ ) पक्षीगण, ( २ ) ब्राह्मण । सुखमा=(सं० सुषमा) अति सुन्दर शोभा । हंस=( १ ) मराल पक्षी, ( २ ) विवेकी पुरुष ।

भावार्थ—हे वर्षा ऋतु, संसार में तुम्हारे समान सुख देनेवाली और कोई ऋतु नहीं है, क्योंकि चंचल बिजली से युक्त बादल तुममें (वर्षा काल में) नित्य विहार करते हैं ( घिरे रहते हैं ) जिससे आकाश बड़ा सुहावना मालूम पड़ता है; और जो मोर को बड़ा ही आनन्द देते हैं, ( वर्षाकाल में आकाश में बादलों को देखकर मोर हर्षातिरेक से पंख फुला कर नाच उठते हैं )। तुम पक्षियों को भी बड़ी सहायता देते हो, ( क्योंकि वर्षा काल में उनके लिये चारे की कमी नहीं रहती । ) हे पावस, तुम्हारी सुन्दरता का लाभ उठाकर सभी सुखी हैं, पर एक हंस ही उदास रहते हैं ( पानी मैला हो जाने के कारण वर्षा काल में हंस मानसरोवर में चले जाते हैं ) इसका कारण क्या है ?

विशेष—श्लेष से दूसरे, तीसरे और चौथे पद का अर्थ निम्नलिखित होता है—

"वर्षाकाल में श्रावण के महीने भर झूलनोत्सव में राधिका के सहित श्रीकृष्ण और हरतालिका तीज के दिन महादेव जी विहार करते हैं। (प्रायः इस ऋतु में सभी प्रकार के व्रत, उत्सव, यज्ञ, दानादि हुआ करते हैं, अतः लोग ब्राह्मणों को सुन्दर वस्त्र आदि दान देकर उनकी सहायता करते हैं।)"

तात्पर्य—किसी परोपकारी और दानी के प्रति किसी निराश विवेकी पुरुष की उक्ति है।

अलंकार—समासोक्ति।

## शरद

मूल—पाई छवि द्विजराज कवि गुरुवर अंबर सोह।
दरे दरद हे सरद हिय करे मोद संदोह॥
करे मोद संदोह धरे गुन सज्जन केरे।
कुवलय खरे विकास भरे भासैं चहुँ फेरे॥
बरनै दीनदयाल जगत के तुम सुखदाई।
करिए कहा प्रशंस हंस विलसैं छवि पाई॥ १०॥

शब्दार्थ—द्विजराज=चन्द्रमा। कवि=शुक्र। गुरुवर=बृहस्पति। अंबर=आकाश। सोह=शोभते हैं। दरे=दले, नष्ट कर दिया। दरद=(फारसी) पीड़ा। मोद=आनन्द। सन्दोह=समूह। केरे=के। कुवलय-(१) कमल (शरद ऋतु में कुमुदिनी और कमल दोनों खिलते हैं), (२) भूमंडल। खरे=खासे, अच्छी तरह। खरे विकास=पूर्ण रूप से खिले हुए। भासैं=शोभायमान हैं। चहुँ फेरे=चारों ओर। विलसैं=विलास करते हैं; आनन्द करते हैं।

भावार्थ—शरद ऋतु में चन्द्रमा की शोभा बढ़ जाती है और शुक्र एवं बृहस्पति भी उदय होकर आकाश में शोभा पाते हैं। इस ऋतु में वर्षाकाल-

जनित नाना प्रकार की रोग व्याधियाँ दूर हो जाती हैं ( शरद ऋतु में वात-प्रकोप शान्त हो जाता है और खूब भूख लगती है )। सब लोगों के मन में अति आनन्द और उत्साह भर जाता है। सर्वत्र पूर्ण रूप से खिले हुए कमल शोभा दे रहे हैं। कहाँ तक प्रशंसा की जाय, शरद ऋतु संसार को सुखदायी है, ( जो निर्मल जल के अभाव में वर्षा-काल में दुखित रहते थे वे ) हंस भी इस ऋतु की सुन्दर शोभा पाकर आनन्द करते हैं। शरद ऋतु ने ये उपर्युक्त गुण सज्जनों के योग्य ही धारण किये हैं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी परोपकारी और दानी सज्जन को लक्ष्य करके कही गई है। ऐसे ही सज्जनों के कारण ब्राह्मणों और कवियों की प्रतिष्ठा होती है, जिससे वे प्रसन्न रहते हैं। पूज्य विद्वज्जन उससे वस्त्रादि पाकर शोभा पाते हैं। ऐसे व्यक्ति के साथ रहने से सब दुःख छूट जाते हैं और वास्तविक आनन्द मिलता है। उसके पास-पड़ोस में सभी व्यक्ति प्रसन्न दिखलाई देते हैं। गुणीजन उससे आदर पाकर प्रफुल्लित रहते हैं। वास्तव में ऐसे लोगों की प्रशंसा करना कोई हँसी खेल नहीं है। सारा संसार उनके कारण सुखमय हो जाता है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

## हेमंत

मूल—आवत ही हेमंत तो कंपन लगो जहान।  
कोक कोकनद मे दुखी अहित भए जगप्रान ॥  
अहित भए जगप्रान संग जबहीं तुव पाये।  
दुखद भए द्विजराज मित्र निज तेज घटाए ॥  
बरनै दीनदयाल दीन द्विज-पाँति कँपावत।  
कामिन को भो मोद एक ही तो जग आवत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—तो=( सं० तव ) तेरे। जहान=( फा० ) संसार। कोक=चकवा। कोकनद=कमल। अहित=अप्रिय। जगप्रान=वायु। द्विजराज=( १ ) चंद्रमा ( २ ) ब्राह्मण। मित्र=( १ ) सूर्य, ( २ ) सखा। द्विजपाँति=( १ ) दाँतों की पंक्ति, ( २ ) ब्राह्मणों का समूह। कामिन=कामुक, विषय। भो=हुआ। तो जग आवत=संसार में तेरे प्रकट होने से।

भावार्थ—हे हेमंत, तुम्हारे आते ही संसार ( शीताधिक्य से ) काँपने लगा है। चक्रवाक पक्षी और कमल दुःखी हो गए हैं। ( छोटा दिन और बड़ी रात के कारण लंबे वियोग से चक्रवाक व्याकुल रहते तथा पाले के कारण कमल मुरझा जाते हैं। ) यहाँ तक कि तुम्हारे संसर्ग से अत्यन्त शीतल हो जाने के कारण वायु भी (जो लोगों को प्राण के समान अति प्रिय होती है) अप्रिय जान पड़ती है। चन्द्रमा भी दुखदायी हो गया है ( जाड़ों में चन्द्रमा की किरणें और भी शीतल जान पड़ती हैं ) और सूर्य ने भी अपना ताप घटा दिया है। जाड़े के मारे बेचारे दाँत भी कटकटाने लगते हैं। संसार में तुम्हारे आने से ( तुम्हारा आविर्भाव होने से ) आनंद केवल कामुक लोगों को होता है ( और किसी को नहीं )।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी अन्यायी राजा पर कही गई है। अन्यायी और अत्याचारी राजा के आते ही प्रजा में एक प्रकार का आतंक छा जाता है। उसके अत्याचार से सारी प्रजा घबड़ा उठती है। सज्जन लोग दुःखी हो जाते हैं, यहाँ तक कि जो अपने हितकर थे वे भी उसके संसर्ग से बुराई पर कमर कसने लगते हैं। ब्राह्मण लोग भी दुखदायी हो जाते हैं, और जो मित्र कुछ सहायता करना भी चाहते हैं उनका तेज ही घट जाता है, और भलाई करने की सामर्थ्य ही नहीं रह जाती; बेचारे दीन ब्राह्मण भी उसके डर के मारे थरथर काँपने लगते हैं। कहाँ तक कहा जाय उसके कारण कोई भी सज्जन

सुखपूर्वक निश्चिन्त नहीं रह सकता। हाँ अलबत्ता विषयी जनों को ज़रूर प्रसन्नता होती है, क्योंकि अपने अनुकूल राजा के पाने से उनके स्वार्थ-साधन में और भी सहायता मिलती है।

## शिशिर

मूल—गाये सुजस समूह तो कविराजन अवदात।
फैली महिमा रावरी महिमंडल में ख्यात॥
महिमंडल में ख्यात फाग रागन कौं गावैं।
शिशिर सु आप प्रसाद जगत सबही सुख पावैं॥
बरनै दीनदयाल कुन्द मिस तो जस छाये।
एक बिचारे पात तिने उतपात लगाये॥ १२॥

शब्दार्थ—सुजस=( सं० सुयश ) कीर्ति। अवदात=( सं० ) उज्ज्वल, स्वच्छ। रावरी=आपकी, तुम्हारी। ख्यात=( सं० ) प्रसिद्ध। फाग=राग का एक भेद जो होली के दिनों ( फागुन, चैत्र ) में गाया जाता है। आप=आपके। प्रसाद=प्रसन्नता, अनुकूलता। उतपात=( सं० उत्पात ) उपद्रव। उत्पात लगाना ( मुहावरा )= कष्ट देना।

भावार्थ—हे शिशिर, कविवरों ने आपकी उज्ज्वल कीर्तियों को गाया है, आप सारी पृथ्वी में प्रसिद्ध हैं और आपकी महिमा भी सर्वत्र व्याप रही है। आपकी अनुकूलता के कारण संसार के सभी लोग सुख पाते हैं और ( आनन्दवश ) फाग रागों को गाते हैं। कुंद के फूलों के व्याज ( बहाने ) से तुम्हारा यश फैला हुआ है। एक बिचारे पत्ते ही ऐसे हैं जिनको तुम कष्ट देते हो।

विशेष—( १ ) कुंद एक प्रकार का सफेद रंग का फूल है जो माघ, फाल्गुन में बहुतायत से होता है। ( २ ) शिशिर ऋतु में पेड़ों की पत्तियाँ झड़ जाती हैं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे यशस्वी पुरुष की ओर लक्ष्य करके कही गई है जिसने अपने भले कामों से सभी ( अधिकांश जनता को ) प्रसन्न कर लिया हो और जिसकी प्रसन्नता से सभी सुख पाकर उसके गुण गावें; किन्तु जो अपने ही आश्रित दीन जनों के कष्ट का कारण हो। कवि के कथन का उद्देश्य यह है कि किसी न्यायी पुरुष को अपने आश्रित निर्बल, असहाय, दीन-हीन जनों के साथ निष्ठुरता का व्यवहार करके अपने निर्मल यश को कलंकित न करना चाहिए।

## पंचतत्वविषये अन्योक्तिः

( आकाश )

मूल—आपै व्यापक जगत के आप सरिस कोउ नाहिं।
सकल लोक रचना सजै हे अकाश तुव माहिं॥
हे अकाश तुव माहिं मित्र द्विजराज विराजैं।
तुमैं बीच सुचि जानि आनि घनस्यामहु छाजैं॥
बरनै दीनदयाल जाय जस बरनो का पै।
गहो न संग उपाधि रहो अति निरमल आपै॥ १३॥

शब्दार्थ—पंचतत्व ( १ ) पृथ्वी ( २ ) जल ( ३ ) तेज ( ४ ) वायु ( ५ ) आकाश। यह समग्र सृष्टि इन्हीं पंचतत्वों के मेल से बनी हुई है। आपै = आपही। सरिस = ( सं० सदृश, प्रा० सरिस ) समान। सजै = शोभित हैं। मित्र = सूर्य। द्विजराज = चन्द्रमा। विराजै = शोभायमान हैं। तुमैं बीच = तुम में, तुम्हारे बीच में। सुचि = ( सं० शुचि ) पवित्र। आनि छाजैं = आकर शोभा देते हैं। घनस्याम = काले बादल। का पै = किससे। उपाधि = विकार।

भावार्थ - हे आकाश, आप सारे संसार में व्याप्त हैं ( फैले हुए हैं ) आपकी समानता किसीसे नहीं की जा सकती। आपमें ही चौदहों भुवन रच

कर सजाये गये हैं ( समस्त ब्रह्मांड आकाश में ही हैं ), सूर्य और चन्द्रमा भी आप में ही शोभायमान हैं। आपको पवित्र जानकर काले बादल भी आपमें विराजे हैं। इतना सब होते हुए भी आपमें किसी प्रकार का विकार नहीं आने पाता, प्रत्युत आप अत्यन्त निर्मल ( निर्विकार ) रहते हैं, अत: आपका यश कौन वर्णन कर सकता है ?

तात्पर्य— यह अन्योक्ति ऐसे पुरुष पर घटित होती है जो संसार में रहते हुए भी सांसारिक झंझटों ( माया मोह, दुःख, सुख आदि ) से निर्लिप्त रहता है। ऐसा विवेकी पुरुष न किसी को अपने कार्य से दुखित ही करता है, न उसपर किसी प्रकार के दबाव ( रिशवत आदि का प्रभाव पड़ता है ) इसलिये उसके मित्रों की संख्या बढ़ जाती है। ऐसे ही पवित्रात्मा के अन्तःकरण में परमात्मा का निवास रहता है। न तो उसे सांसारिक दुःखों से ही कोई कष्ट मिलता है न वह ऐहिक सुखों पर ही आसक्त होता है। सारांश यह कि ऐसे निर्विकार पुरुष की यशोगाथा अनिर्वचनीय है।

( पवन )

मूल—जहँ धरि पीत पराग पट वर सम कियो बिहार।
तिहि बन पवन जती भयो रमत रमाये छार ॥
रमत रमाये छार घोर ग्रीषम दव लागे।
दुख में मधुकर सखा संग सबही तजि भागे ॥
बरनै दीनदयाल रही छवि कुसुमाकर भरि।
दूलह बन्यो समीर रम्यो पट पीरो जहँ धरि ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—पराग = पुष्परज, फूलों का पीले रंग का सुगंधित केसर। पट = वस्त्र। वर = दुलहा। जती = (यती) संन्यासी। रमत = रमण करता है, घूमता फिरता है। छार रमाना या विभूति रमाना ( मुहावरा ) = शरीर में राख

मलना। दव=दावाग्नि, वन की अग्नि। छवि=शोभा। कुसुमाकर=वसंत ऋतु (इस ऋतु में अनेक प्रकार के फूल बहुतायत से होते हैं)। समीर=वायु।

भावार्थ—जिस वन में पीली केसर रूपी पीत वस्त्र धारण कर पवन ने दुलहे की तरह आनन्द किया था, उसी वन में आज वह ग्रीष्म ऋतु की भयंकर दावाग्नि से जले हुए वृक्षों की भस्म अपने शरीर में लगाए हुए संन्यासी बना इधर उधर भटक रहा है। ऐसे दुःख के समय भ्रमर आदि सभी मित्रवर्ग भी उसको छोड़ कर भाग गए हैं। उसकी छवि पुष्पमय वसंत ऋतु पर्यंत ही रही, जिस (ऋतु) में (पुष्परज की प्रचुरता के कारण) पीला वस्त्र धारण किए हुए पवन दुलहा बना हुआ रमण करता था।

तात्पर्य—दिन सदा सबके एक से नहीं रहते। धन संपत्ति-संपन्न होने की दशा में लोग आनन्द में इतने डूब जाते हैं कि भविष्य की उन्हें सुध ही नहीं रहती। ऐसे समय उनके बहुत से मित्र भी बन जाते हैं जिन पर उनको बहुत भरोसा रहता है। पर ज्योंही समय के फेर से बुरे दिन आते हैं त्योंही बेचारे धन दौलत से हाथ धोकर दाने दाने को तरसते हैं, और उनके सुख के समय के वे मित्र भी जो उन्हीं की संपत्ति की बदौलत मालामाल बन जाते हैं, उनकी सहायता करना तो दूर रहा, उनको छोड़ कर भाग जाते हैं। सारांश यह कि काल का प्रभाव बड़ा प्रबल है, सुख-दुःख सदा किसी को नहीं रहता, इसलिए न तो सुख के समय में अपने को भूल ही जाना चाहिए, न दुःख में ही धैर्य को छोड़ कर घबड़ाना चाहिए।

मूल—जिन तरु को परिमल परसि लियो सुजस सब ठाम।
तिन भंजन करि आपनो कियो प्रभंजन नाम॥
कियो प्रभंजन नाम बड़ो कृतघन बरजोरी।
जब जब लगी दवागि दियो तब झोंकि झकारी॥

बरनै दीनदयाल सेउ अब खल ! थल मरु को।
लै सुख सीतल छाँह तासु तोरयो जिन तरु को ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—परिमल=( सं० ) सुगंध । परसि=( सं० स्पर्श ) छूकर। ठाम=(सं० स्थान) जगह। भंजन करना=तोड़ना, नाश करना। प्रभंजन=( सं० प्र उपसर्ग पूर्वक 'भज्' धातु से ) महावात, आँधी ( जिससे बड़े बड़े पेड़ जड़ सहित उखड़ जाते हैं। ) नाम करना ( मुहावरा )=नामकरण का कारण होना। कृतघन=(सं० कृतघ्न ) किये हुए उपकार को न मानने वाला, नमकहराम। बरजोरी=ज़बर्दस्ती। सेउ=( सेव ) सेवा कर ( रह )। खल=दुष्ट। मरुथल=( मरुस्थल ) रेगिस्तान। (अन्वय—जिन तरु को तोरयो तासु सीतल छाँह सुख लै... ।)

भावार्थ—हे पवन, जिन पेड़ों की सुगंध को स्पर्श कर ( वसन्त ऋतु में ) तुमने सर्वत्र यश पाया था आज ( ग्रीष्म में ) तुमने उन्हीं वृक्षों को भंजन कर अपना नाम ज़बर्दस्ती 'प्रभंजन' रखाया। इतना ही नहीं, तुम बड़े कृतघ्न हो, जब जब वन में दावाग्नि लगी तब तब तुमने ( अपने उपकारी पेड़ों की रक्षा करने के बदले ) उनको झकोर झकोर कर और भी आग में झोंक दिया। जिन वृक्षों की शीतल छाया में तुमने सुख उठाया था उन्हीं को तोड़ डाला। अरे दुष्ट, अब अपने किये का फल पा और वृक्षहीन इस मरुस्थल में रह। ( यही तुम्हारे लिये उपयुक्त दंड है )।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी कृतघ्न के प्रति कही गई है। कृतघ्न मनुष्य अपने उपकारी का भी अपकार करने से नहीं चूकता—चाहे उसको कितना ही अपयश क्यों न उठाना पड़े। समय पड़ने पर अपने उपकारी की सहायता करना तो दूर रहा उलटे उसको और भी विपत्ति में डाल देता है, और उसका

नाश ही करके छोड़ता है। पर ऐसे लोगों को अपने किये का फल हाथों हाथ मिल जाता है, उन्हें विपत्ति उठानी पड़ती है। फिर ऐसे कृतघ्नों को कोई ऐसा व्यक्ति नहीं मिलता जो उनको आई हुई विपत्ति से उबार सके। जो व्यक्ति जिस पत्तल में खाता है उसी में छेद कर देता है, उसको दूसरी बार बर्तन के अभाव में भूखा ही रहना पड़ेगा।

अलंकार—विधि अलंकार ( दूसरे पद में )।

मूल—लागी भूति अगेह नित अलिगन सिख्य विसेख।
सरल साल भंजत मरुत करनी खल मुनि-वेख ॥
करनी खल मुनि-वेख फिरै भरमत सब जग को।
नहीं छमा में रहै अधर पथ गहै कुमग को ॥
बरनै दीनदयाल बनो जगप्रान बिरागी।
जम आसा तें रमै अहो बिरही दुख लागी ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—भूति=भस्म। अगेह=गृहहीन या गृहत्यागी। अलिगन= भौंरों का समूह। सरल=(सं०) ( १ ) देवदारु का वृक्ष ( २ ) सीधे सादे मनुष्य। साल=( १ ) शाल या साखू के वृक्ष ( २ ) शाला या घर। मरुत= वायु। भरमत=( भ्रमत ) ( १ ) भटकता हुआ, ( २ ) भ्रम में डालता हुआ। छमा=( क्षमा ) ( १ ) पृथ्वी ( २ ) सहनशक्ति, सहिष्णुता। अधर= ( १ ) जो धरा ( पृथ्वी ) में न हो, अर्थात् आकाश में, ( २ ) न धारण करने योग्य, अर्थात् नीच। पथ=मार्ग। कुमग=( सं० कुमार्ग ) ( १ ) (कु=पृथ्वी ) संसारी मार्ग ( २ ) असन्मार्ग। विरागी=विरक्त, सांसारिक विषय वासनाओं से रहित। जम आसा=( सं० यम+आशा ) ( १ ) दक्षिण दिशा ( यमराज दक्षिण दिशा के अधिपति हैं ), ( २ ) मौत की आशा। रमै=भटकता है। दुख लागी=दुःख के लिये, दुःख देने को।

भावार्थ—हे पवन ! तुम्हारा भेष तो मुनि का सा है, पर तुम्हारा काम खल का सा है। तुम राख लगाए हो, गृहहीन हो (रहने का कोई निश्चित स्थान नहीं है) और नित्य ही भौंरों के गणों को विशेष शिष्यों की भाँति साथ रखते हो (यह मुनिवेष हुआ), परंतु सीधे शाल वृक्षों को तोड़ते हो (यह खलकरणी हुई)। मुनिवेष किये, पर खल-करणी करते हुए समस्त जग में भ्रमण करते फिरते हो। तुम पृथ्वी पर नहीं रहते, (वरन्) आकाश में कुमार्ग (सीधे तिरछे) चलते हो। दीनदयाल कहते हैं कि हे पवन ! तुम बैरागी बने (मुनिवेष धारण किये) विरही लोगों को दुःख देने के लिये दक्षिण दिशा से चलते हो।

तात्पर्य—पवन पर घटित करके बनावटी बैरागियों पर सुन्दर कटाक्ष है।

(अनल)

मूल—भीखन दुसह सुभाव तुव सुनो अनल जग माहिं।
करत कोटि अपराध हौ तऊ तजत कोउ नाहिं॥
तऊ तजत कोउ नाहिं बगर पुर नगर जरावत।
हित सों बल्लभ मानि तुमैं ढूँढ़न को जावत॥
बरनै दीनदयाल तेज सब करैं निरीखन।
तुम बिन सरै न काज जदपि जग हौ अति भीखन॥ १७ ।

शब्दार्थ—भीखन = (सं० भीषण) भयंकर। तुव = (तव) तुम्हारा। अनल = (सं० भीषण) अग्नि। (विद्यार्थियों को 'अनल' और 'अनिल' का भेद ध्यान में रखना चाहिए। 'अनिल' भी संस्कृत शब्द है, जिसका अर्थ 'पवन' है।) तऊ = (सं० तथापि) तब भी, तिस पर भी। बगर = (सं० प्रघण) बड़ा लंबा चौड़ा घर। बल्लभ = (सं०) प्रिय। निरीखन = (सं०

निरीक्षण ) प्रत्यक्ष देखना। काज सरना ( मुहावरा ) = काम पूरा होना। जदपि = ( यद्यपि ) जो भी, अगरचे।

भावार्थ—हे अनल, सुनो। तुम्हारी प्रकृति बड़ी भयंकर और असह्य है यद्यपि तुम इस संसार में लोगों का करोड़ों अपराध करते हो, उनके घरों और नगरों को जला देते हो, तब भी तुम को कोई नहीं छोड़ता। ( छोड़ना तो अलग रहा, जब अपने घर में आग नहीं रहती तो ) लोग तुम्हें अपना प्रिय मानकर बड़े प्रेम से तुम्हारी खोज करने के लिए ( आग लाने के लिए दूसरे के घर में ) जाते हैं। तुम्हारा तेज सब लोग प्रत्यक्ष देखते हैं। यद्यपि तुम बड़े भयंकर हो, किन्तु संसार में तुम्हारे बिना कुछ भी काम नहीं चल सकता।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे प्रतापी किन्तु कठोर स्वभाववाले व्यक्ति के लिये कही गई है जिसके बिना किसी का काम ही नहीं चल सकता। ऐसा उग्र स्वभाववाला व्यक्ति चाहे लोगों को कितना ही कष्ट क्यों न पहुँचावै पर वे उसको छोड़ नहीं सकते। छोड़ें भी तो कैसे उसके बिना तो उनके सारे काम रुक जाते हैं। उसके तेज के सामने लोगों को आँखें नीची करनी ही पड़ती हैं। यदि वह स्वयं भी उनकी आँखों से ओट होता है तो वे उसके द्वारा पाये हुए कष्टों को विस्मृत कर उसको खोज करके ही छोड़ते हैं। सारांश यह कि अपने स्वार्थसाधन के लिये दूसरे की खुशामद भी करनी ही पड़ती है, उसकी डाट फटकार भी सहनी ही पड़ती है।

## ( जल )

मूल—हे जल वेग तरंग तें करै विलग मति मीन।
ये तो तेरे बिरह तें ह्वैहैं प्रान विहीन॥
ह्वैहैं प्रान विहीन देखि दसरथ को बानो।
प्रिय को देख्यो नाहिं प्रान को कियो पयानो।

बरनै दीनदयाल नहीं जिन प्रेम किये पल।
ते किमि जानैं पीर वियोगीजन की हे जल ॥ १८ ॥

शब्दार्थ—विलग=( सं० विलग्न ) अलग, दूर। मति=( मत ) नहीं ( प्राय: शब्दों में माधुर्य लाने के लिये पुरानी भाषा में इकार और उकार लगा दिये जाते हैं, जैसे—'तव' का 'तुव', 'मत' का 'मति' इत्यादि। ) बाना=( सं० वर्ण ) ढंग, रीति। पयान=( सं० प्रयाण ) प्रस्थान। पल= क्षण भर भी। किमि=कैसे। पीर=( सं० पीड़ा ) दुःख।

भावार्थ—हे जल अपनी तरंगों के वेग से मछलियों को दूर मत करो। ये तुम्हारे वियोग में ( तुमसे अलग होते ) ही प्राणहीन हो जायेंगी ( मर जायेंगी ) जरा दशरथ की रीति को तो देखो ( विचारो ) उन्होंने अपने प्रिय ( पुत्र श्रीराम ) को न देखा तो ( श्रीराम से बिछुड़ते ही ) अपने प्राणों को भी छोड़ दिया ( अर्थात् मर गये ) हे जल, जिसने एक क्षण भी किसी से प्रेम नहीं किया वह भला वियोगी की पीड़ा का अनुभव कैसे कर सकता है ?

तात्पर्य—प्रेमी या आश्रित जनों का त्याग करना क्या है मानों उनकी हत्या करना है। राजा दशरथ के समान धीर पुरुष भी अपने प्रियपुत्र का वियोग क्षण भर भी न सह सके। अपने प्रिय के वियोग में या तो प्रेमीजन उस वेदना को न सह सकने के कारण तत्काल मर जाते हैं, अन्यथा अपने शरीर को सुखा सुखा कर नष्ट कर देते हैं। यही वियोगी जनों की रीति है—रीति नहीं, प्रकृति ही है। ऐसा क्यों होता है ? इसका उत्तर न तो कोई दे सकता है न कोई समझ ही सकता है। जिसने कभी प्रेम नहीं किया, प्रेम का तत्व न जाना, प्रेमी की वियोगावस्था का अनुभव न किया, वह न तो स्वयं समझ सकता है न दूसरे को समझ सकता है।

## ( भूतल )

मूल—भूतल तो महिमा बड़ी फैल रही संसार।
छमासील को कहि सकै सहत सकल के भार ॥
सहत सकल के भार धराधर धीर धरे हो।
पारावार-अपार-धार सिर क्रीट करे हो ॥
बरनै दीनदयाल जगो जग है जस ऊजल।
सब की छमत गुनाह नाह तुम सब के भूतल ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—भूतल = पृथ्वी। छमासील = (क्षमाशील) सहनशील। धराधर = ( सं० धरा = पृथ्वी + धर ) पहाड़। पारावार = ( सं० ) समुद्र। अपार = जो पार नहीं किया जा सकता। धार = लहर। क्रीट = किरीट, मुकुट। जागो है = ( सं० जाग्रत ) प्रकाशमान है। ऊजल = ( सं० उज्ज्वल ) स्वच्छ। गुनाह = ( फ़ा० ) अपराध। नाह = ( प्रा०; सं० नाथ ) स्वामी।

भावार्थ—हे भूतल, तुम्हारी महिमा बहुत बड़ी है और सारे संसार में फैली हुई है ( पृथ्वी बहुत विस्तृत एवं संसार-व्याप्य है ही )। तुम्हारी क्षमा-शीलता ( सहिष्णुता ) को कौन कह सकता है। तुम संसार के समस्त पदार्थों का बोझ सहते हो, बड़े बड़े पहाड़ों को भी अत्यन्त धैर्य से संभाले हो, और अपार समुद्रों की तरंगों को अपने सिर में मुकुट की तरह ( बहुत हलका समझ कर ) धारण किये हो। हे भूतल, तुम सबके दोषों को क्षमा करते हो और सबके स्वामी हो, इसीसे तुम्हारा निर्मल यश संसार में प्रकाशित है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी क्षमाशील और धैर्यवान् व्यक्ति पर है। सहनशील व्यक्ति सबके अपराधों को क्षमा कर देता है, और अपने ऊपर किये

गये अत्याचारों को धैर्यपूर्वक सहन कर लेता है। यही उसकी महत्ता है जिसके कारण सारे संसार में उसका यश फैल जाता है।

## ( दिवाकर )

मूल—लीने आभा आपनी हे अंबक-आधार।
दीजै दरसन प्रकटि कै तम दुख दलो अपार॥
तम दुख दलो अपार निसाचर गाजि रहे हैं।
भूत-दीप खद्योत उलूक विराजि रहे हैं॥
बरनै दीनदयाल कोकनद कोकहु दीने।
कब ह्वै हो हरि उदय तुमै बिन लोक मलीने॥ २० ॥

**शब्दार्थ**—आभा=( सं० ) प्रकाश, कान्ति, प्रभा। अंबक=नेत्र। अंबक-आधार=सूर्य; सारे संसार को प्रकाशित करने का एकमात्र कारण सूर्य ही है, अतएव आँखों में ज्योति देनेवाला भी सूर्य है, इसीलिये सूर्य को नेत्रों का आधार कहा है। तम=अंधकार। दलो=नाश करो। निसाचर=रात को घूमने वाले ( योगरूढ़ शब्द ) राक्षस। गाजि रहे हैं=गरज रहे हैं ( रात को राक्षस, उल्लू आदि आनन्द के मारे गरजते हैं। ) भूतदीप=वनों में दिखलाई पड़ने वाली अग्नि। यह वास्तव में फास्फ़रस की चमक मात्र है। खद्योत=जुगनूँ। दीने=दीन हो रहे हैं, दुखी हैं। हरि=सूर्य, 'हरि' शब्द अनेकार्थक है।*

---

* इन्द्र, चन्द्र, अरविंद, अलि, कपि, केहरि, आनन्द।
कंचन, काम, कुरंग त्रस, धनुष, दंड, नभ, चंद॥ १ ॥

भावार्थ—हे नेत्रों के आधारभूत सूर्य, अपनी ज्योति को लिए प्रकट होकर हमें दर्शन दीजिये, और हमारे अपार अन्धकार-जनित दुःखों को दूर कीजिये। अंधकार के कारण राक्षसादि आनंदित होकर गरज रहे हैं; भूतदीपक, जुगुनू, और उल्लुओं की ही इस समय बन पड़ी है, ( प्रकाश के अभाव में ) कमल, चक्रवाक आदि दुःखी हैं। हे सूर्य ( हरि ), तुम्हारे बिना सब लोक मलीन है, तुम कब उदय होओगे ( कब उदित होकर लोगों के दुःख को हरोगे )।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी उपकारी तेजस्वी शासक के प्रति कही गई है। प्रतापी शासक के अभाव में दुर्जन लोगों की बन पड़ती है और उनके अत्याचारों से सज्जन लोग तंग आ जाते हैं।

## ( निशाकर )

मूल—मैलो मृग धारे जगत नाम कलंकी जाग।
तऊ कियो न मयंक तुम सरनागत को त्याग॥
सरनागत को त्याग कियो नहिं ग्रसे राहु के।
लिये हिये मैं रहो तजो नहिं कहे काहु के॥
बरनैं दीनदयाल जोति मिस सो जस फैलो।
हौ हरि को मन सही कहैं नर पामर मैलो॥ २१॥

---

पानी, पावक, पवन, पथ, गिरि, गज, नाग, नरिंद।
ये हरि इनके मुकुट मनि, हरि ईश्वर गोविंद॥ २॥

—नंददास।

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांसुवाजिषु।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु॥

—अमरकोश।

**शब्दार्थः**—मृग धारे=मृग को धारण करने से। जाग=प्रख्यात है। मयंक (प्र०—सं० मृगांक=मृग है अंक में जिसके)=चंद्रमा। हरि=परमेश्वर। पामर=नीच। मैलो=कलंकी। सही=सचमुच, वास्तव में।

**भावार्थः**—हे चंद्र, यद्यपि मलिन मृग को धारण करने के कारण संसार में तुम्हारा नाम कलंकी प्रसिद्ध हो गया तब भी तुमने अपनी शरण में आए हुए (मृग) का त्याग नहीं किया। (खैर कलंक की बात तो जाने दो) राहु के ग्रसने पर भी (अपने ऊपर आपत्ति पड़ने पर भी) तुमने उस शरणागत को नहीं छोड़ा। उसको तुम (बड़े प्रेम से) हृदय में लगाए रहते हो, और किसीके कहने पर भी नहीं छोड़ते। नीच लोग तुम्हें कलंकी भले ही कहें, पर तुम तो सचमुच परमेश्वर के मन हो* (परमेश्वर का मन मैला हो नहीं सकता)। ज्योति (चाँदनी) के बहाने तुम्हारा वह यश (शरणागत प्रति-पालकत्व) संसार में फैला हुआ है।

तात्पर्य—सज्जन लोग शरणागत की रक्षा के लिये अपने स्वार्थ की आहुति कर देते हैं। अपने को कलंकी कहलाना तो कोई भी स्वीकार नहीं कर सकता, पर शरणागत-प्रतिपालक सज्जन को अपने आश्रित के कारण कलंक उठाना भी मंजूर है। और तो और अपने ऊपर भयंकर से भयंकर आपत्तिभी क्यों न आ जाय, वे शरणागत को नहीं छोड़ेंगे। वास्तव में सज्जन लोग ईश्वर के ही मन

---

*चन्द्रा परमपुरुष के मन से तथा सूर्य आँखों से उत्पन्न हुए हैं, यथा—

"चन्द्रमा मनसो जातश्चक्षोः सूर्य्यो बिजायत।
श्रोत्राद्वायुश्चप्राणश्चमुखादग्निरजायत॥ १२॥

माध्यंदिनशाखीय पुरुषसूक्त

हैं, क्योंकि ईश्वर भी तो 'भक्तजन-प्रतिपालक' कहलाता है। यदि ऐसे सज्जन का यश संसारव्यापी हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या !

मूल—दानी अमृत के सदा देव करैं गुनगान।
सुनो चंद बंदैं तुमैं मोद-निधान जहान ॥
मोद-निधान जहान संभु सिर ऊपर धारैं।
देखि सिन्धु हरखाय निकाय चकोर निहारैं ॥
बरनै दीनदयाल सबै को तुम सुखखानी।
एक चोर बरजोर घोर निंदैं दुखदानी ॥ २२ ॥

शब्दार्थ—मोदनिधान=आनंद के घर, आनंदप्रद। निकाय=समूह। निहारैं=देखते हैं। बरज़ोर=ज़बर्दस्त। निंदैं=निंदा करते हैं ('निंदा-भाववाचक से 'निंदना' क्रिया बना ली गई है)। दुखदानी=दुःख देने वाला।

भावार्थ—हे चंद्र, सुनो, तुम अमृत बरसाते हो, देवता लोग सदा तुम्हारा गुणगान किया करते हैं। संसार (मनुष्य) भी आनंददायक कह कर तुम्हारी वंदना करता है। महादेवजी भी तुमको अपने सिर में धारण करते हैं, तुम्हें देखकर समुद्र भी हर्षित होता है (चंद्रमा के आकर्षण के कारण समुद्र में बड़ी बड़ी तरंगें उठती हैं), और चकोरों के समूह तुम्हारी ओर एकटक देखा करते हैं। तुम ऐसे सुख की खानि (सब को सुख देने वाले) हो। एकमात्र बड़े ज़बरदस्त चोर ही तुमको दुःखदानी कह कह कर तुम्हारी निंदा करते हैं (क्योंकि चाँदनी रात में उनको चोरी करने में बड़ी असुविधा होती है)!

तात्पर्य—गुणवान् सज्जन का आदर छोटे बड़े सभी करते हैं, और उनकी उन्नति को देखकर सभी को हार्दिक प्रसन्नता भी होती है, क्योंकि उनके अभ्युदय से सबको सुख मिलता है। पर अधम प्रकृति के लोग उनका उत्कर्ष

न सहकर निंदा ही किया करते हैं, क्योंकि उनके कारण नीच लोगों के कार्यों में बाधा पहुँचती है। सारांश यह कि सज्जन और समदर्शी लोगों की भी निंदा करने वाले लोग होते ही हैं।

मूल—केतौ सोम कला करौ करौ सुधा को दान।
नहीं चंद्रमनि जो द्रवै यह तेलिया पखान॥
यह तेलिया पखान बड़ी कठिनाई जाकी।
टूटीं याके सीस बीस बहु बाँकी टाँकी॥
क्रूर न कोमल होहिं कला जो कीजे केतौ॥ २३॥

शब्दार्थ—केतौ = कितनी ही। सोम = चन्द्रमा। कला = उपाय। सुधा = अमृत, जल। चन्द्रमनि = चन्द्रकान्तमणि, चन्द्रमा की किरणों के संसर्ग से द्रवने (पिघलने) वाला पत्थर विशेष। द्रवै = पिघलेगा। तेलिया पखान = एक प्रकार का कड़ा पत्थर। बहु बाँकी = बड़ी कड़ी। टाँकी = छैनी। चेतौ = सावधान हो जाओ। क्रूर = (क्रूर) कठोर।

भावार्थ—हे चंद्र, तुम कितनी ही कला क्यों न करो (कितने ही उपाय क्यों न करो), कितना ही अमृत पिलाओ, यह चंद्रकांतमणि नहीं है, यह तो तेलिया-पखान है, पिघलेगा नहीं। (चाहे अपनी सोलहों कलाओं सहित क्यों न उदय होओ इस तेलिया-पखान से अपनी किरणों द्वारा जल नहीं निकाल सकते) इस तेलिया-पखान के ऊपर (इसको फोड़ने में) न जाने कितनी ही बहुत बढ़िया टाँकियाँ टूट चुकी हैं (पर इस पर कुछ भी असर नहीं होता)। इसलिए, हे चंद्र, तुम ही क्यों नहीं अपने मनमें विचार कर सँभल जाते। चाहे कितने ही उपाय क्यों न करो कठोर वस्तु कोमल हो नहीं सकती।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी महा अरसिक अथवा कंजूस व्यक्ति के प्रति है। लोग उपाय करते करते थक जावेंगे, पर न अरसिक व्यक्ति ही रसिक हो सकता है, न किसी कंजूस व्यक्ति की गाँठ से एक कौड़ी ही निकल सकती है।

मूल—पूरे जदपि पियूख तें हरसेखर आसीन।
तदपि पराये बस परे रहो सुधाकर छीन ॥
रहो सुधाकर छीन कहा है जो जग बंदत।
केवल जगत बखान पाय न सुजान अनंदत ॥
बरनै दीनदयाल चंद हौ हीन अधूरे।
जौ लगि नहिं स्वाधीन कहा अमृत तें पूरे ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—पियूख=( पीयूष ) अमृत। हरसेखर=महादेवजी के सिर में। आसीन=( सं० ) बैठा हुआ। पराये=दूसरे के। छीन=( क्षीण )। बखान=वर्णन, यश। अधूरे=अपूर्ण।

भावार्थ—हे सुधाकर ( चंद्र ), यद्यपि तुम अमृत से परिपूर्ण हो, और महादेवजी के ललाट पर बैठे हुए हो, किन्तु पराधीन होने के कारण तुम क्षीण हो ( शिवजी के मस्तक पर क्षीणकला द्वितीया का चंद्रमा सुशोभित रहता है )। हे चंद्र, अगर सारा संसार तुम्हारी वंदना करता है तो क्या हुआ ? चतुर लोग केवल लोक में कीर्त्ति पाकर ही आनन्द से फूल नहीं जाते। हे चंद्र, तुम अभी पराधीन ( सूर्य के अधीन ) रहने के कारण हीन एवं अपूर्ण ही हो। जबतक स्वाधीन नहीं होते तबतक अमृत से परिपूर्ण होने से क्या लाभ ?

तात्पर्य—पराधीन मनुष्य की धन-सम्पत्ति, सुख-कीर्त्ति, इत्यादि स्वाधीन मनुष्य के सन्तोष-सुख के सामने नगण्य हैं। कोई व्यक्ति चाहें कितना ही धनी क्यों न हो, कितने ही बड़े प्रतिष्ठित पद पर क्यों न पहुँच गया हो, संसार

में उसका नाम कितना ही क्यों न फैल गया हो, वह सुखी हो नहीं सकता। इतना सब होते हुए भी केवल स्वाधीनता के अभाव में उसका सारा जीवन अपूर्ण है। वास्तव में जिन पदार्थों को वह अपना समझता है वह उसके नहीं वरन् वह जिसके अधीन है उस व्यक्ति के हैं। मनुष्य-जीवन का एकमात्र लक्ष्य स्वाधीनता प्राप्त करना है। पराधीनता में रह कर भी जो मनुष्य धन-सम्पत्ति के बल से ऐशो-इशरत करता है वह मनुष्य नहीं, पशु है।

## ( दीपक )

मूल—मित्र-नाम को दीप लघु करै कहा रे नास।
वे वरु तो अभिधान को अधिकौ करत प्रकास॥
अधिकौ करत प्रकास भलाई उनकी छाई।
त्रिभुवन भवन मँझार पूजि सब करैं बड़ाई॥
बरनै दीनदयाल करै तू कौन काम को।
रही कारिखी छाय जराय न मित्र नाम को॥ २५॥

शब्दार्थ—मित्र=सूर्य। मित्र-नाम=मित्र अर्थात् सूर्य के नाम वाला, सूर्य का एक नाम 'पतंग' है, और 'पतंग' 'फतंगे' को भी कहते हैं, अतः 'मित्र-नाम' का अर्थ हुआ "फतिंगा" या 'पतंग'; ( पतंग दीये की रोशनी पर मुग्ध होकर अपने को उसकी लौ ( जोत ) में भस्म कर देता है )। वे=सूर्य। वरु=वल्कि। अभिधान=नाम। तो अभिधान=तुम्हारा ( दीपक का ) ही नामधारी अर्थात् 'द्वीप।' 'दीप' और 'द्वीप' दोनों का अर्थ 'टापू' होता है। 'दीप' 'द्वीप' का ही अपभ्रंश ( भाषा-विज्ञान के अनुसार विकसित ) रूप है।

भावार्थ—हे छोटे दीये ( दीपक ), तू मित्र ( सूर्य ) के नामराशि 'पतंग' को जलाकर उसका सर्वनाश क्यों करता है ? ( सूर्य भगवान यदि चाहें तो

इसका बदला तुझसे कौड़ी कौड़ी चुका सकते हैं ) किंतु वे ( ऐसा न करके ) तुम्हारे नामराशी द्वीपों और महाद्वीपों को अत्यंत प्रकाशित करते हैं ( उनमें ऐसी सामर्थ्य थी कि वे सब द्वीपों को जला सकते थे पर उन्होंने ऐसा करना उचित न समझा । ) इससे संसार में उनके उपकार की चर्चा फैली हुई है, तीनों लोकों में घर घर उनकी पूजा होती है और सब उनकी बड़ाई करते हैं, पर तू कैसा नीच काम करता है जिसके कारण तुझ पर कालिख छाई हुई है ( दीपक की लौ में 'काजल' होता ही है )। अब भी सावधान हो जा, मित्र ( सूर्य ) के नामराशि को जलाया मत कर ।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे अल्प सामर्थ्यवान् कृतघ्न व्यक्ति पर कही गई है जो अपनी शक्ति के घमंड में किसी शक्तिशाली अपने उपकारी पुरुष के आश्रित दीन जनों पर अत्याचार करता है। ऐसे लोग दर्प के कारण अथवा नासमझी से अपने उपकारी का विरोध करने पर उतारू तो हो जाते हैं पर इस बात का विचार नहीं करते कि वे कहाँ तक उचित काम कर रहे हैं और इसका परिणाम अंत में क्या होगा ? इसके विपरीत शक्तिशाली पुरुष अपने अपकारी और उसके आश्रितों पर उपकार ही करते हैं। यदि वे चाहें तो इसका प्रतीकार कर सकते हैं, उनमें इतनी सामर्थ्य रहती है। पर वे अपनी सामर्थ्य का दुरुपयोग नहीं करते अपकार का बदला अपकार से ही न देकर उपकार से देते हैं। इसीलिए ऐसे सज्जनों की प्रशसा और बड़ाई होती है और सभी उनका सम्मान करते हैं। इसके विरुद्ध कृतघ्न मनुष्यों को अपने उपकारी का अपकार करने के कारण निंदित होना पड़ता है। सारांश यह कि अपने उपकारी का अपकार करना भारी कृतघ्नता है।

( रत्नदीपक )

मूल—भाजन सहित सनेह की करत चाह तुम नाहिं ।
परहित देत प्रकाश बर रतनदीप जग माहिं ॥

रतनदीप जग माहिँ तुमै चल-बात न परसै।
अविचल विमल सुभाव भाल कालिमा न दरसै॥
बरनै दीनदयाल लसै तातें सिर राजन।
तूल कुबतियाँ त्यागि भए सत-सोभा-भाजन॥ २६॥

शब्दार्थ—भाजन = बर्तन, पात्र। सनेह सहित भाजन की = (१) तेल युक्त दीये की, (२) प्रेमपात्र व्यक्ति की। सनेह = (सं० स्नेह) (१) घी, तेल आदि, (२) प्रेम। चाह = इच्छा। परहित = (१) दूसरे के लिये, (२) परोपकार के लिये। प्रकाश वर = (१) निर्मल ज्योति, (२) सद्ज्ञान। रतनदीप = (१) मणिदीपक, (१) ज्ञानी नररत्न। तुमै = तुमको। चल बात न परसै = (१) हवा का चंचल झोंका स्पर्श नहीं करता, (२) चुगलों की बातें (चवाव) तुमपर कुछ असर नहीं करतीं। अविचल = निश्चल, स्थिर (जो विचलित न हो)। विमल = पवित्र, निष्कपट। कालिमा = (१) कालिख, काजल, (२) कलंक। तूल = (१) रुई (२) लंबी चौड़ी। कुबतियाँ = (१) बुरी बत्तियाँ, (२) कटुवचन या अपशब्द। सतसोभा भाजन = अच्छी शोभा के पात्र।

प्रकरण—श्लेष अलंकार द्वारा यह अन्योक्ति मणिदीपक और ज्ञानी नररत्न दोनों पर घटती है।

भावार्थ—(मणिदीपक पक्ष) हे मणिदीपक, तुमको (साधारण दीये की भाँति) तेल भरे हुए पात्र की आवश्यकता नहीं है, तुम संसार में दूसरों के लिए (अपने लिये नहीं) अपनी निमल ज्योति फैलाते हो, और चंचल वायु का झोंका तुम्हें स्पर्श नहीं कर सकता (मामूली दीये की तरह बुझा नहीं देता)।

तुम निश्चल हो ( साधारण दीपक की भाँति चंचल नहीं )। स्वभावतः पवित्र हो ( तेल का दीपक अपवित्र माना जाता है ), तुम्हारे प्रकाश में ( दीये की लौ की तरह ) कालिख भी नहीं दिखलाई देती। तुम रुई की बुरी बत्तियों ( जो तेल के दीये में जलाई जाती हैं ) को छोड़ कर सुन्दर शोभा के पात्र हुए हो, इसीसे ( मुकुट में रहने से ) राजाओं के शिरों में सुशोभित होते हो।

तात्पर्य—( ज्ञानीपक्ष ) ज्ञानी मनुष्य परोपकार के लिये अपने सदुपदेशों द्वारा लोगों में ज्ञान का प्रचार करते हैं। ज्ञान देते समय वे पात्रापात्र का विचार नहीं करते। वे यह बात आवश्यक नहीं समझते कि जिसको ज्ञान दिया जा रहा है वह उनका स्नेहपात्र अथवा भक्त है या नहीं। साधारण लोगों की भाँति चवाव का उन पर कुछ असर नहीं पड़ता। लोगों की कही सुनी बातों को सुनी अनसुनी करके वे लोग अपना काम करते जाते हैं। वे दृढ़ निश्चय एवं पवित्र हृदय होते हैं, और उनके माथे पर ( चरित्र में ) कलंक का नाम नहीं होता, अर्थात् उनका चरित्र निष्कलंक होता है। वे लोग लम्बी चौड़ी गप मारने में तथा दूसरों के साथ गाली गलौज करने में अपना समय नष्ट नहीं करते। इन सब गुणों के कारण ऐसे लोग सज्जनों के समाज की शोभा बढ़ाते हैं, और राजाओं द्वारा सम्मान पाते हैं।

अलंकार—श्लेष।

### ( नीरद )

मूल—दीजै जीवन जलद जू दीन द्विजन को देखि।
इनको आसा रावरी लागी अहै बिसेखि॥
लागी अहै बिसेखि देहु कुल कीरति छैहै।
या चपला है चला लला धौं कित को जैहै॥

बरनै दीनदयाल आप जग में जस लीजै ।
परम धरम उपकार द्विजन को जीवन दीजै ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—जीवन=(१) पानी, (२) जीविका । जलद=बादल । द्विजन=( १ ) चातकादि पक्षियों को, ( २ ) ब्राह्मणों को । अहै=( सं० अस्ति ) है । विसेखि=विशेष । छैहै=छा जायगी । चपला= ( १ ) बिजली, ( २ ) लक्ष्मी, धन दौलत (जो क्षणभंगुर होती है) । चला=( १ ) चंचल, (२) नाशमान् । लला=प्यार का संबोधन, हे प्यारे । धौं=न जाने । कित=(कुत्र ) किधर । जैहै – जायगी ।

भावार्थ—हे बादल, इन दीन चातकादि पक्षियों को देखो, इनको खास तौर पर तुम्हारी ही आशा लगी है, इसलिये इनको पानी दो । ( इस उपकार के कारण ) तुम्हारे ( बादल ) कुल की कीर्ति फैल जायगी । हे प्यारे, ( जिस के कारण तुम अपने आश्रितों को भूले हुए हो वह बिजली चंचल है, न जाने ( तुम को छोड़ कर ) कब कहाँ चली जाय । दूसरे की भलाई करना ही तो संसार का मुख्य धर्म है, इसलिये इन दीन पक्षियों को पानी दो और संसार में यश प्राप्त करो ।

तात्पर्य—यह किसी धनवान् व्यक्ति के प्रति गरीब ब्राह्मणों की उक्ति है । दीन ब्राह्मणों को धनी लोगों से ही विशेष प्राप्ति की आशा रहती है । दूसरे लक्ष्मी चंचल है धन-दौलत सदा एक के पास नहीं रहती, न जाने कब नष्ट हो जाय । इसलिये जबतक पास में धन-दौलत है तबतक उसका सदुपयोग क्यों न कर लिया जाय । परोपकार ही सबसे श्रेष्ठ धर्म है इसलिये दीन ब्राह्मणों की जीविका का उपाय कर संसार में यश क्यों न प्राप्त किया जाय । इससे केवल दाता को ही यश हो सो बात नहीं उसके सारे कुल की कीर्ति फैल जाती है ।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति ।

मूल—करिये सीतल हृदय बन सुमन गयो मुरझाय ।
सुनो बिनय घनस्याम हे सोभा सघन सुहाय ॥
सोभा सघन सुहाय कृपा की धारा दीजै ।
नीलकंठ प्रिय पाल सरस जग में जस लीजै ॥
बरनै दीनदयाल तृषा द्विजगन की हरिये ।
चपला सहित लखाय मधुर सुर कानन करिये ॥२८॥

शब्दार्थ—सुमन=(१) फूल, (२) अच्छा मन । घनश्याम=(१) काले बादल, (२) श्रीकृष्ण । नीलकंठ=(१) मयूर, (२) शिव । सरस= अधिक । द्विजगन=(१) पक्षी (चातक आदि), (२) ब्राह्मण लोग । चपला=(१) बिजली, (२) राधिका । सुर=(सं० स्वर) (१) गर्जन, (२) वंशी की तान । कान करना=सुनना ।

प्रकरण—श्लेष द्वारा यह छंद, 'बादल' और 'श्रीकृष्ण' दोनों पर घटता है ।

भावार्थ—(बादलपक्ष) हे अत्यंत शोभा से सुशोभित काले (जलपूर्ण) बादल आप हमारी विनती सुनिये । इस बन के सब फूल मुरझा गये हैं, अतएव कृपा करके जल बरसा कर इनके हृदय को शीतल कीजिए, और अपने प्यारे मयूरों का पालन कर संसार में अत्यंत यश प्राप्त कीजिए, तथा (स्वाती नक्षत्र का जल बरसा कर) चातकादि पक्षियों की प्यास बुझाइये । हे घनश्याम, दमकती हुई बिजली के सहित दर्शन दीजिए और अपना मधुर गर्जन सुनाइए ।

(श्रीकृष्ण-पक्ष) हे अत्यंत शोभा-संपन्न घनश्याम श्रीकृष्ण, हमारी प्रार्थना सुनिये । हमारा सुन्दर मन संकुचित हो गया है अतएव कृपारूपी जलधारा से

सींच कर हमारे हृदय रूपी वन को शीतल कीजिए। हे शिवजी के प्यारे श्रीकृष्ण, राधिका जी के सहित दर्शन देकर, तथा मुरली की मधुर तान सुना कर अपने भक्तों ( ब्राह्मणों ) की प्रेम-पिपासा शांत कीजिए और इनकी रक्षा कर संसार में अत्यंत यश प्राप्त कीजिए।

मूल—भीषन ग्रीषम ताप तें भयो झाँवरो छीन।
है यह चातक-डावरो अनुग रावरो दीन॥
अनुग रावरो दीन लीन आधीन तिहारे।
कहै नाम बसु जाम रहै घनस्याम निहारे॥
बरनै दीनदयाल पालिये लखि तप तीखन।
सरी सरोवर सिंधु काहु इन माँगी भीख न॥ २६॥

शब्दार्थ—झाँवरो ( सं० श्यामल ) = काला ( अत्यंत धूप के कारण चेहरा काला पड़ जाता है )। छीन = ( सं० क्षीण ) दुर्बल। डावरो = ( फा० तबार ) बच्चा। अनुग = ( अनु = पीछे + ग = गमन करने वाला ) अनुचर, सेवक, भक्त। लीन = तल्लीन, लवलीन, प्रेम में निमग्न। आधीन = ( अधीन ) मातहत निर्भर। बसु = आठ, ( देवताओं की एक योनि विशेष का नाम 'बसु' है, जो संख्या में आठ होते हैं )। जाम = ( याम ) प्रहर ( ३ घंटे या ७॥ घड़ी का एक प्रहर होता है )। बसुजाम = आठों पहर, रातदिन। तप तीखन = ( १ ) कठोर तप, ( २ ) तीक्ष्ण ताप, भयंकर गर्मी। सरी = ( सं० सरित् ) नदी। सिंधु = समुद्र। काहु = किसी से। भीख = ( सं० भिक्षा )।

भावार्थ—यह चातक का बच्चा ग्रीष्म ऋतु की भयंकर गर्मी से झुलस कर काला पड़ गया है, और अत्यन्त दुबला हो गया है। हे बादल, यह बेचारा

आपका भक्त है, आपके ही प्रेम में मग्न रहता है, आप पर ही इसका जीवन निर्भर है, और रातदिन आपकी (काले बादलों की) ओर एकटक देकर आपका नाम रटता रहता है। (आपके अतिरिक्त) इसने नदी, तालाब या समुद्र किसी से भी भीख नहीं माँगी (चातक कितना ही प्यासा क्यों न हो वह स्वाति के जल के सिवाय और कोई जल पीता ही नहीं, ऐसी कवि-प्रौढ़ोक्ति है)। अतः इसकी कठिन तपस्या को देख कर (अथवा, इस भयंकर गर्मी का विचार कर), इसका पालन कीजिए।

तात्पर्य—किसी धनी व्यक्ति के प्रति कोई आश्रित व्यक्ति कहता है कि मैं आपका अनन्य भक्त हूँ मुझे सब प्रकार से आप ही का भरोसा है, आपके सिवाय मैंने आज तक किसी दूसरे के सामने हाथ नहीं फैलाया, मैं इस समय बड़ी विपत्ति में हूँ, मेरे इस कष्ट को देखकर मेरी रक्षा कीजिए।

मूल—जग को घन तुम देत हौ गँजिकै जीवन दान।
चातक प्यासे रटि मरे तापर परे पखान॥
तापर परे पखान बानि यह कौन तिहारी।
सरित सरोवर सिंधु तजे इन तुमें निहारी॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिए यहि खग को।
रह्यो रावरी आस जन्मभरि तजि सब जग को॥ ३०॥

शब्दार्थ—गँजिकै (मुहावरा)=ढेर का ढेर, गंज का गंज। जीवन=जल। पखान=(पाषाण) पत्थर, हिमोपल, ओले। बानि=आदत स्वभाव। सरित=नदी। निहारी=देखकर। खग (ख=आकाश, शून्यस्थल+ग=गमन करने वाला) पक्षी (योगरूढ़)।

भावार्थ—हे बादल, सारे संसार को तो तुम बहुत सा (गंज का गंज) पानी दे देते हो पर बेचारा प्यासा पपीहा (जिसको अधिक नहीं, प्यास बुझाने

मात्र को एक दो बूँदों की आवश्यकता है ) "पानी, पानी" रटते रटते मर जाता है, ( उसको जल से तृप्त करना तो दूर रहा ) उलटे उसके ऊपर ओले बरसाते हो । यह तुम्हारी कैसी आदत है ! इस बेचारे ने तुम्हें देख कर ( तुम्हारा भरोसा करके ) नदी, तालाब और समुद्र तक को छोड़ दिया । तुम्हारे अनन्य-भक्त इस पक्षी को धन्य है जो ( तुम्हारे विमुख होने पर भी तुम से प्रीति करना नहीं छोड़ता और ) सारे संसार से नाता तोड़ कर जन्म भर तुम्हारे अनुग्रह की आशा में रहता है ।

तात्पर्य—( किसी धनी के प्रति कवि की उक्ति है । ) हे धनिक, तुम्हारी उदारता से सारा संसार लाभ उठाता है; पर जो तुम्हारे सेवक हैं, तुम्हारे अनन्य भक्त हैं, जिनको तुम्हारे अतिरिक्त और कोई आश्रय ही नहीं, और जिन्होंने तुम्हारे सिवाय किसी दूसरे के सामने कभी हाथ नहीं पसारा, ऐसे अपने आश्रित लोगों को पीड़ित क्यों करते हो ? उनकी सहायता करना तो दूर रहा उलटे उनको और भी कष्ट देते हो । यह तुम्हारा कैसा स्वभाव है ?

मूल—आयो चातक बूँद लगि सब सर सरित बिसारि ।
चहियत जीवनदानि ! तेहि निरदै पाहन मारि ?
निरदै पाहन मारि पंख बिन ताहि न कीजै ।
याहि रावरी आस, प्यास हरि जग जस लीजै ॥
बरनै दीनदयाल दुसह दुख आतप तायो ।
तृषावन्त हित-पूर दूर तें चातक आयो ॥ ३१ ॥

शब्दार्थ—लगि=लिये । बूँद=स्वाति नक्षत्र के जल की केवल एक बूँद । बिसारि=भुलाकर, छोड़कर । जीवनदानि=जलद, बादल । पाहन=( पाषाण ) पत्थर, ओले । मारि=चोट । दुसह=( दुःसह ) जिसे सहने में

कष्ट हो। अत्यन्त आतप=धूप, गर्मी । तायो=तपाया हुआ, झुलसा हुआ। हितपूर=प्रेम से भरा हुआ, प्रेमयुक्त ।

भावार्थ—यह चातक बेचारा सब तालाब और नदियों को छोड़ कर केवल एक ( स्वाति नक्षत्र के जल की ) बूँद की आशा से तुम्हारे पास आया है। हे निर्दय बादल, तुम जीवन देनेवाले ( जल बरसानेवाले ) कहे जाते हो, क्या तुम्हें उसको ओले बरसा कर मारना उचित है? हे निष्ठुर, ओलों की मार से उसे पंखहीन मत करो। यह तुम्हारा प्रेमी प्यासा चातक अत्यन्त दुःख और गर्मी से व्यथित होकर केवल तुम्हारी ही आशा के भरोसे बड़ी दूर से आया है; अतएव ( इसे निराश मत करो ), इसकी प्यास बुझाकर संसार में यश प्राप्त करो।

तात्पर्य—किसी आर्त्त भक्त का अपने इष्टदेव के प्रति उपालंभ है। हे भगवन्! मैं अन्य सब देवी देवताओं को छोड़कर आपका अनन्य उपासक हूँ। आपके अनुग्रह की अभिलाषा से आपकी शरण आया हूँ। आप दीनबंधु कहलाते हैं। क्या मुझ दीन की सुध न लेना आपको उचित है? मुझे केवल आपका ही भरोसा है, अतएव आपके प्रेम में निमग्न हो आपकी भक्ति का अभिलाषी बन अनेक कष्ट सह कर आपका चरणाश्रित हुआ हूँ। मुझे इस प्रकार सांसारिक कष्टों से छुड़ाकर संसार में दीनबंधुत्व का यश लीजिए।

मूल—जिन संसिन को सींचि तुम करी सु-हरी बहार।
तिनको दई न चाहिये हे घन! पाहन मार॥
हे घन पाहन मार भली यह कहीं न वेदन।
गरलहु को तरु लाय न चहिये निज कर छेदन॥

बरनै दीनदयाल जगत बसिबो द्वै दिन को।
लेहु कलंक न कंद पालि दलि जिन संसिन को ॥३२॥

शब्दार्थ—संसिन=[ सं० शस्य+न ( बहुवचन सूचक चिह्न )] अनाजों के पौधों को। पाहन= ( पाषाण ) ओले। गरलहु=विष का भी। लाय= लगाकर। कर=हाथ। छेदन=काटना। जगत=संसार। बसिबो=रहना। कंद=( कं=जल+द=देनेवाला ) बादल। दलि=दल कर, नाश करके।

भावार्थ—हे बादल, जिन अन्न के पौधों को तुमने जल से सींच कर हरा भरा कर दिया था, उन्हीं को ओलों की मार देना उचित नहीं है। वेदों ने ऐसे कामों की सरासर निंदा की है। ( और उनका विधान तो यह है कि ) अपने लगाये हुए वृक्ष को—चाहे विष का ही क्यों न हो—अपने ही हाथों से काटना नितांत अनुचित है। हे बादल, इस संसार में दो चार दिन तो रहना है ( सदा तो रह नहीं सकते ); अतएव जिन धान्यों को तुमने पाला है उन्हीं को नष्ट कर व्यर्थ ही इस थोड़े समय के जीवन में अपने सिर कलंक क्यों लेते हो?

तात्पर्य—( अपने आश्रितों को अथवा अपने पाले-पोषे हुओं को कष्ट देनेवाले के प्रति यह उक्ति है )। जिनको पाल-पोष कर बड़ा किया, जिनकी उन्नति के लिए नाना प्रकार के उपाय किये, उनका ( चाहें वे कितना ही अपकार क्यों न करें ) सर्वनाश करना किसी प्रकार भी उचित नहीं है। वेदों का तो यह नियम है कि स्वयं रोपे हुए विषवृक्ष को भी अपने हाथों न काटना चाहिये। संसार में रहना ही कितना दिन है। अतएव अपने पाले-पोषे लोगों का—चाहे वे कृतघ्न ही क्यों न हों—नाश कर कलंक क्यों कमाया जाय?

मूल—भूले अब घन ! तुम किते प्रथमै याको पालि ।
लखत रावरी राह को सूखि गयो यह सालि ॥
सूखि गयो यह सालि अहो अजहूँ नहिं आए ।
दै दै नाहक नीर सिंधु में सुदिन गंवाए ॥
बरनै दीनदयाल कहा गरजत हौ फूले ।
समै न आये काम, काम कौने, भ्रमि भूले ॥३३॥

शब्दार्थ—कितै=किधर । राह ( फा० )=मार्ग । राह लखना ( मुहावरा )=बाट जोहना, अपेक्षा करना । सालि=( सं० शालि ) धान । अजहूँ=( अद्यापि ) अब तक भी । नाहक ( अ० )=व्यर्थ ही । नीर=जल । गवाँना=बिताना । फूले=घमंड में भरे हुए । भ्रम में भटकते फिरते आ जाने से । कौन काम=क्या लाभ ।

भावार्थ—हे बादल, यह धान की खेती आपकी बाट जोहते जोहते सूख गई है । पहिले आपने ही इसको पाला था अब क्यों भूल गए हो । अहा धान की सारी खेती सूख गई है, पर आप अभी तक ( इसकी सुधि लेने ) नहीं आये ( जिसको आपके जल की आवश्यकता थी उसको न देकर ) अपना जल समुद्र में—जिसको जल की कोई कमी नहीं थी—बरसा बरसा कर आपने अपना अमूल्य समय निष्प्रयोजन ही बिताया । अपनी सामर्थ्य के अभिमान में फूल कर गरजते क्या हो ! यदि समय पर काम नहीं आए तो कभी भूले भटके आ जाने से क्या लाभ है ?

तात्पर्य—जिनको ज़रूरत है, उन आश्रितों को समय पर सहारा देना चाहिए । जो स्वयं धनी है उसे और देना व्यर्थ है ।

मूल—चपला संगति तें भयो घन ! तव चपल सुभाव ।
ता छिन तें बरखन लगे अमृत को तजि ग्राव ॥

अमृत को तजि ग्राव हनत को तुमैं निवारै।
अहो कुसंग प्रचंड काहि जगमें न बिगारै॥
बरनै दीनदयाल रहैगि न, है यह सचला।
ता बस अजस न लेहु, देहु चित, है चल चपला॥३४॥

शब्दार्थ—चपला=(१) बिजली (२) लक्ष्मी, धन। चपल=चंचल। छिन=(क्षण) समय। अमृत=जल (*)। ग्राव (सं०) पत्थर, ओले। निवारैं=रोक सकता है। प्रचंड=प्रबल। सचला—चंचला, अस्थिर, क्षणभंगुर।

भावार्थ—हे बादल, बिजली की संगति से तुम्हारा स्वभाव भी चंचल हो गया है। (जिस समय से तुम बिजली के कुसंग में फँस गये) उसी समय से तुमने जल बरसाना छोड़ कर ओले बरसाना आरंभ कर दिया। पर तुम्हें ओलों की मार मारने से रोक भी कौन सकता है? कुसंग बड़ा ज़बर्दस्त होता है, संसार में ऐसा कौन है जिसे यह न बिगाड़ देता हो? हे बादल, यह बिजली चंचल है, क्षणभंगुर है। तुम्हारे पास बहुत दिनों तक टिक नहीं सकेगी। इससे अब भी सावधान हो जाओ, उसके वश में पड़ कर अपयश मत कमाओ।

तात्पर्य—धन पाकर अथवा कुसंग पाकर सज्जन का भी स्वभाव बिगड़ जाता है। इसी प्रकार के किसी सज्जन के प्रति यह उपदेश है। हे सज्जन, पहले तो तुम बड़े मिलनसार थे, पर जब से तुम को धन मिला तुम परोपकार करने के बदले लोगों को और भी पीड़ित करने लगे। किन्तु तुम धनी हो, तुम्हें ऐसा करते हुए रोक भी कौन सकता है? इसी से तो कहते हैं कि कुसंग बड़ा प्रबल

(*) "पयः कीलालममृतम्"—इत्यमरः।

होता है। ऐसा कौन है जो कुसंग पाकर भी न बिगड़ा। हे सज्जन, यह लक्ष्मी चंचल है, तुम्हारे पास सदैव रह नहीं सकती, एक न एक दिन तुम्हें धोखा दे कर चली जायगी। इसलिये अभी सावधान हो जाओ, धन दौलत के वश में होकर संसार में अपयश मत कमाओ।

मूल—बरखै कहा पयोद इत मानि मोद मन माहि।
यह तो ऊसर भूमि है अंकुर जमिहै नाहिं॥
अंकुर जमिहै नहिं बरख सत जो जल दैहै।
गरजै तरजै कहा वृथा तेरो श्रम जैहै॥
बरनै दीनदयाल न ठौर कुठौरहिँ परखै।
नाहक गाहक बिना बलाहक ह्याँ तू बरखै॥ ३५॥

शब्दार्थ—पयोद=(सं० पयस=जल+द=देने वाला) बादल। इत=यहाँ (ऊसर भूमि में)। मोद=आनंद। सत=(शत) सौ। तरजै=डराता है। ठौर कुठौर=स्थान कुस्थान, योग्य या अयोग्य स्थल। परखै=(सं० परीक्षण) देखता है, जाँच करता है। गाहक=(सं० ग्राहक) ग्रहण करने वाला। बलाहक=(सं०) बादल।

भावार्थ—हे बादल, तुम यहाँ (इस मरुभूमि में) अपने मन में आनंदित होकर जल क्या बरसाते हो? यह तो उजाड़ भूमि है, यहाँ यदि तुम सौ वर्ष तक भी लगातार जल से सींचो तो भी अंकुर नहीं जम सकेगा। इस समय तुम गरज गरज कर डांटते क्या हो, तुम्हारा यह परिश्रम नितान्त निष्फल होगा। हे बादल तुम, भली बुरी जगह का विचार नहीं करते (कहाँ जल की आवश्यकता है कहाँ नहीं इस बात को नहीं देखते), इस मरुस्थल में तो बिना ग्राहक (आवश्यकता) के व्यर्थ ही बरसते हो।

तात्पर्य—जड़ पुरुष का उपदेश देने वाले किसी व्यक्ति के प्रति यह अन्योक्ति है। हे उपदेशक, तू बड़े आनन्द से इस मूर्ख को उपदेश देने आया है। पर इसका हृदय अत्यन्त जड़ है। तू कितना ही क्यों न इसे समझावे, इस पर तेरे उपदेश का तनिक भी प्रभाव नहीं पड़ने का। तू पात्रापात्र का विचार नहीं कर रहा है। यहाँ तेरी बकबक व्यर्थ जायगी, तेरा सारा परिश्रम निष्फल होगा। सारांश यह कि उपदेश और दान देने के लिये पात्रापात्र का विचार कर लेना उचित है।

( समुद्र )

मूल—रतनाकर ! महि माहँ तुम अति अथाह गंभीर।
हैं प्रवाह दुस्तर भरे ग्राह प्रबल तो नीर॥
ग्राह प्रबल तो नीर तीर पैठत बुध हारे।
धीर न रहै सरीर तरंग निहारि तिहारे॥
बरनै दीनदयाल जौन मरजीवा जाकर।
लै मुकुतन को कढ़ै सोइ धनि है रतनाकर॥ ३६॥

शब्दार्थ—रतनाकर = ( सं० रत्न + आकर = खान ) समुद्र। महि = पृथ्वी। अथाह = जिसकी थाह न लगती हो, अत्यन्त गहरा। गंभीर = गहरा। प्रवाह = धारायें, लहरें। दुस्तर—( दुः + तर ) जिनको पार करना कठिन हो। ग्राह = मगर। तो = तेरे। तीर = तट। पैठना = ( प्रविष्ट ) घुसना। बुध = पंडित ( तैरने में कुशल, दक्ष तैराक )।

( अन्वय—हे रतनाकर, जौन मरजीवा जाकर मुकुतन को लै कढ़ै सोई धनि। )

मरजीवा = ( मर कर जिया हुआ ) गोताखोर। ( जब कोई गोताखोर रत्न निकालने के लिये समुद्र में डुबकी लगाता है उसकी जान का बड़ा खटका लगा

रहता है। वह मरेगा या सफलता प्राप्त कर जीता जागता लौट आयेगा ऐसा कोई नहीं कह सकता, इसीलिए किसी भी काम पर अपने जीवन पर खेलने वाले साहसी व्यक्ति को 'मरजीवा' कहते हैं; क्योंकि वह एक प्रकार से मरने के अनन्तर पुनः जन्म लिया हुआ समझा जाता है )। कढ़ैं = निकले।

भावार्थ—हे समुद्र, तुम पृथ्वी में अत्यन्त गहरे और गंभीर हो, तुममें बड़ी बड़ी लहरें हैं। और तुम्हारे जल में बड़े बड़े बलवान् मगर भरे पड़े हैं। तुम्हारे तट पर जाते हुए तो बड़े बड़े निपुण तैराक भी हार मान जाते हैं। तुम्हारी तरंगों को देखकर शरीर में धैर्य नहीं रहता। हे रत्नों की खानि समुद्र! जो गोताखोर ( अपनी जान पर खेलनेवाले साहसी ) तुम्हारे तल में प्रविष्ट होकर मोतियों को लेकर ही वहाँ से लौटता है वही धन्य है।

तात्पर्य—यह संसार रूपी समुद्र अपार है, इसकी थाह लगाना बड़ा कठिन काम है। इसमें विषय वासनाएँ ही बड़ी बड़ी लहरें हैं, काम क्रोध लोभ मोह आदि बड़े भयंकर जल-जन्तु हैं। बड़े बड़े ज्ञानी ऋषि महर्षि भी इसकी थाह नहीं लगा सके; क्योंकि मायाजाल में फँसने पर अपने को सँभालना कठिन हो जाता है। परन्तु वे जीवन्मुक्त धन्य हैं जो इस संसार में रहते हुए भी माया से बिलकुल निर्मिल रहते हैं, और जो परमात्मा के सामीप्य के ब्रह्मानंद का अनुभव करते हैं। सारांश यह कि इस संसार में आकर जो सत्कर्मों का संचय करते हैं वे ही धन्य हैं।

मूल—गरजे बातन तें कहा धिक नीरधि! गंभीर।
बिकल बिलोकैं कूप पथ तृषावन्त तो तीर॥
तृषावंत तो तीर फिरैं तुहि लाज न आवै।
भँवर लोल कल्लोल कोटि निज बिभौ दिखावै॥

बरनै दीनदयाल सिन्धु तोकों को बरजै।
तरल तरंगी ख्यात वृथा बातन तें गरजै ॥ ३७ ॥

शब्दार्थ—बातन=(१) हवा के झोंके, (२) बकवाद। नीरधि (नीर+धि)=समुद्र, जल का आधार। विकल=व्याकुल, घबड़ा कर। बिलोकैं=देखते हैं, खोजते हैं। पथ=मार्ग। तुहि=तुम को। भँवर (सं० भ्रमर)=आवर्त जल का भँवर। लोल=चंचल। कल्लोल=ऊँची ऊँची तरंगें। विभौ (विभव)=ऐश्वर्य, सम्पत्ति। बरजै=मना कर सकता है। तरल=चंचल। तरंगी=(१) लहरोंवाला, (२) मौजी। ख्यात=प्रसिद्ध।

भावार्थ—हे समुद्र, तुम हवा के झोंकों से गरजते क्या हो? तुम्हारे जल की गहराई को धिक्कार है। तुम्हारे निकट (तट पर) रहते हुए भी प्यासे पथिक व्याकुल होकर कुएँ का मार्ग खोजते हैं। प्यासे मनुष्य तुम्हारे तट से (जल-प्राप्ति से निराश होकर) लौट जाते हैं। तुम्हें तनिक भी लज्जा नहीं आती; प्रत्युत और भी ढीठ होकर अपने भँवर और बड़ी बड़ी चंचल तरंगों के बहाने लोगों को अपना अमित ऐश्वर्य दिखाते हो। हे समुद्र, तुमको इन बातों से कौन रोक सकता है? तुम तो चंचल तरंगोंवाले प्रसिद्ध ही हो और हवा के झोंकों से व्यर्थ ही गरजते हो।

तात्पर्य—अपने धन पर इतरानेवाले किसी कृपण के प्रति यह अन्योक्ति है। हे कृपण, तू अपने धन के अभिमान में क्या बकबक करता है। तेरा धन किस काम का जब किसी को उसमें कुछ भी लाभ नहीं होता। याचक लोग तेरे दरवाजे से विमुख होकर साधारण वित्तवाले लोगों का मुँह ताकते हैं। तुझे इस बात से तनिक भी लज्जा नहीं आती, निर्लज्ज की तरह लोगों को और भी अपना ऐश्वर्य दिखाता है। हे कृपण, तुझे रोक कौन सकता है? तू तो चंचल

और मौजी प्रसिद्ध ही है, केवल व्यर्थ बकवाद ही करता है, तुझसे फायदा किसी को रत्ती भर भी नहीं।

( नद )

मूल—सिन्धुं बड़ाई भूलि जनि, नद ! नमि कै चलि चाल।
सहिबो परिहै खार ह्वै बड़वानल की ज्वाल॥
बड़वानल की ज्वाल नाम रूपहु मिटि जैहै।
ह्वै है अधिक अपीव जीव कोउ नीर न छ्वैहै॥
बरनै दीनदयाल ब्याज की कहा चलाई।
जैहै मूल नसाय पाय नद सिन्धु बड़ाई॥ ३८॥

शब्दार्थ—जनि=मत, नहीं। नमि कै=झुक कर, नम्र होकर। चलि = चलो। खार=( सं० क्षार ) नमकीन, खारा। बड़वानल=समुद्र की अग्नि। ज्वाला=लपट। अपीव ( अपेय )=पीने के अयोग्य। ब्याज=सूद, बढ़ती, लाभ। मूल=मूलधन।

भावार्थ—हे नद, समुद्र की बड़ाई पर भूलो मत। ( इतने वेग से न चलकर ) नम्र होकर चलो। समुद्र में मिलने का परिणाम यही होगा कि तुम्हारा मीठा जल भी खारा हो जायगा, और समुद्र के साथ ही बड़वाग्नि की लपटें सहनी पड़ेंगी। समुद्र में मिल जाने से तुम्हारा नाम और रूप तक मिट जायगा, तुम इतने अधिक अपेय ( खारेपन के कारण ) हो जाओगे कि कोई जीव तुम्हारा जल छुएगा भी नहीं ( पीने की तो बात ही कौन कहे ) हे नद, समुद्र की बड़ाई पाकर ( समुद्र कहला कर ) अपने मूलधन से भी हाथ धो बैठैगा, ब्याज की तो पूछे कौन ? ( अर्थात् समुद्र के संसर्ग से तुम्हारा नाम फैलना तो दूर रहा उलटे अपना नाम और रूप भी गँवाना पड़ेगा )।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति है जो बड़ों के केवल संसर्ग-मात्र से उन्मत्त हो जाता है।

मूल—हे नद ढाहै तरुन जनि पावस प्रभुता पाय।
ये तो तेरे तीर पै शोभा रहे बनाय॥
सोभा रहे बनाय छाय फल फूलन तें अति।
सीत सुगंध समीर धीर गति हरैं पथिक मति॥
बरनै दीनदयाल बिबिध खग रटैं भरे मद।
ये सुख रहिहैं नाहिं गये इन तरु के हे नद॥ ३६॥

शब्दार्थ—ढाहना=जड़ से गिरा देना। प्रभुता=अधिकार। समीर=वायु, हवा। गति=चाल। मति हरैं=बुद्धि को हर लेते हैं, मोह लेते हैं। विविध=अनेक प्रकार के। मद भरे=आनन्द से उन्मत्त होकर। (मन्द, सुगन्ध और शीतल ये वायु के तीन सुन्दर गुण माने जाते हैं)। सीत=शीतल। धीर=मन्द।

भावार्थ—हे नद, वर्षा काल में अधिकार पाकर (घमंड के मारे) इन वृक्षों को उखाड़ो मत; ये तो फल फूलों से युक्त होकर तुम्हारे (नद के) तट को सुशोभित कर रहे हैं. और (इन्हीं वृक्षों के संयोग के कारण) मन्द सुगंध और शीतल वायु पथिकों के मन को मुग्ध कर देती है। इन्हीं वृक्षों के ऊपर आनन्द से उन्मत्त नाना भाँति के पक्षी कूज कूज कर तुम्हारे तट को विशेष रमणीय बना रहे हैं। (इसलिए इन पेड़ों को उखाड़ो मत) हे नद, इन पेड़ों के उखड़ जाने पर फिर ऐसे सुख कहाँ मिलेंगे।

तात्पर्य—बड़े आदमी का सहारा पाकर अपने आश्रितों और सहायकों का नाश करने में उद्यत किसी व्यक्ति के प्रति यह उक्ति है। हे मनुष्य, दूसरे का

अधिकार पाकर अपने को इतना मत भूल जाओ, अपने आश्रितों और सहायकों का सर्वनाश मत करो। इन्हीं की सहायता से तुम इस उच्च पदवी को प्राप्त हुए हो, और इन्हीं से तुम्हारी शोभा है। इनका सर्वनाश करने पर फिर तुम्हें ये सुख, ये आनन्द, नहीं मिलेंगे।

( नदी )

मूल—बहु गुन तोमें हैं धुनी ! अति पुनीत तो नीर।
राखति यह ऐगुन बड़ो बक मराल इक तीर॥
बक मराल इक तीर नीच ऊँचो न पिछानति।
सेत सेत सब एक, नहीं ऐगुन गुन जानति॥
बरनै दीनदयाल चाल यह भली न है सुन।
जग मैं प्रगट, नसाहिं एक ऐगुन तें बहुगुन॥ ४०॥

शब्दार्थ—धुनी=नदी। पुनीत=पवित्र। तो (तव)=तेरा ऐगुन (अवगुण)=दुर्गुण। सेत (श्वेत)=सफेद।

भावार्थ—हे नदी, तुम में बहुत से गुण हैं, तुम्हारा जल भी अत्यन्त पवित्र (स्वच्छ) है। किन्तु (जहाँ तुम में कई गुण हैं वहाँ) एक अवगुण भी बड़ा भारी यह है कि तुम ऊँच नीच, सज्जन दुर्जन को न पहिचान कर बगुले और हंस को एक ही तट पर स्थान देती हो (गुणी और निर्गुण का समान सम्मान करती हो)। गुण अवगुण का तो तुझमें बिलकुल विवेक नहीं है, सफेद रंग के सभी पक्षियों को एक सा समझे बैठी हो, यह कोई अच्छी बात नहीं है। सुनो, संसार में यह प्रकट है कि एक अवगुण से भी बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं।

तात्पर्य—विद्वानों और मूर्खों का समान सत्कार करनेवाले किसी सज्जन के प्रति यह उपदेश है। हे सज्जन, तुम सर्वसद्गुण संपन्न हो, तुम्हारा हृदय

अत्यन्त पवित्र है। पर तुम में एक बड़ा भारी अवगुण यह है कि तुम विद्वानों और मूर्खों का एक सा आदर करते हो, यह उचित नहीं। सभी मनुष्य एक से नहीं होते। तुममें ऊँच-नीच और गुण-अवगुण का विचार नहीं है। तुम्हारी यह चाल अच्छी नहीं है। सुनो, एक अवगुण से बहुत से गुण नष्ट हो जाते हैं। तुम्हारे इस एक अवगुण के कारण—सदसद् का विवेक न होने के कारण—लोग तुम्हारे गुणों का आदर नहीं करते।

( सर )

मूल—कोलाहल सुनि खगन के सरवर ! जनि अनुरागि।
ये सब स्वारथ के सखा दुरदिन दैहैं त्यागि ॥
दुरदिन दैहैं त्यागि तोय तेरो जब जैहै !
दूरहि तें तजि आस पास कोऊ नहिं ऐहै ॥
बरनै दीनदयाल तोहिं मथि करिहैं काहल।
ये चल छल के मूल भूल मति सुनि कोलाहल ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—कोलाहल=कलरव, हल्लागुल्ला। सरवर। ( सरोवर )= तालाब। दुरदिन=( दुर्दिन ) बुरे दिन आने पर, विपत्ति पड़ने पर। तोय= जल। जैहै=चला जायगा, सूख जायगा। ऐहै=आयेगा। काहल ( कँदैल ) =( सं० कर्दमल )=गँदला।

भावार्थ—हे तालाब, इन पक्षियों का कोलाहल सुनकर मुग्ध मत हो। ये सब मतलबी यार हैं ( जब तक तुम जलपूर्ण रहोगे तभी तक तुम्हारा साथ देंगे )। जब तुम्हारे ऊपर कोई विपत्ति आ पड़ेगी, सारा जल सूख जायगा तब सब तुम्हारा साथ छोड़ देंगे, तुम्हारे पास तक कोई नहीं फटकेगा, और तुम्हारे द्वारा स्वार्थ साधन की आशा छोड़ कर तुम्हें दूर से ही प्रणाम करेंगे। ये चंचल पक्षी बड़े कपटी हैं, तुम्हें मथ कर और भी गदला कर देंगे। अतः इनके कोलाहल को सुन कर अपने को भूल मत जाओ।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति में किसी धनवान् को खुशामदियों और चापलूसों से बचने का उपदेश है। हे धनिक, इन चापलूसों की चाटूक्तियों को सुन फूल कर कुप्पा मत बन जाओ, ये सब मित्र अपने मतलब के यार हैं। जब तुम्हारी दौलत नष्ट हो जायगी, तुम्हारे ऊपर विपत्तियों के पहाड़ टूट पड़ेंगे, और जब इन स्वार्थियों को तुमसे कुछ ऐंठन की आशा न रह जायगी, तब कोई तुम्हारे पास तक नहीं फटकेगा। ये सब महाकपटी हैं, इनकी चिकनी चुपड़ी बातों में मत आओ। ये अपने साथ तुमको भी अपयश का पात्र बनाकर छोड़ेंगे।

मूल—आए ग्रीषम देखि हौं लघु सर! तेरी सान।
कहा करै एतो बड़ो पावस पाय गुमान॥
पावस पाय गुमान भरो अति भूलि रह्यो है।
भेक बकन के संग उमंगन फूलि रह्यो है॥
बरनै दीनदयाल दिना दस के चलि जाए।
तब देखिहौं तरंग तोय वह ग्रीषम आए॥ ४२॥

शब्दार्थ—लघु = छोटा। लघुसर = तलैया। सान (फा० शान) = दिखाव, दिखाऊ गौरव। एतो = इतना। गुमान (गुरु + मान) = अभिमान, घमंड। भेक = मेंढक। बक = बगुला। उमंगन = आनन्द के मारे। दिना दस के चलिजाए = थोड़े दिनों के बाद। तोय तरंग = जल की लहरें।

भावार्थ—हे लघुसर, वर्षा ऋतु का जल पाकर इतना बड़ा घमंड क्या करता है, तेरी शान ग्रीष्म ऋतु के आने पर (जब सारा जल सूख जायगा तब) देखूँगा। इस समय वर्षा ऋतु का बल पाकर घमंड में भरा हुआ तू अपने को भूल गया है, और मेंढक तथा बगुलों की संगति में आनन्द के मारे फूला नहीं समाता। थोड़े समय बाद जब गर्मी का मौसम आएगा (और तुम्हारा सारा जल सूख जायगा) तब तुम्हारी वे लहरें देखेंगे (जो बरसात में देखते हैं)।

तात्पर्य—थोड़े समय के लिए धन सम्पत्ति पाकर इतरानेवाले क्षुद्र व्यक्ति पर यह अन्योक्ति है। ऐसे लोग थोड़ा-सा धन पाकर घमंड में भर जाते हैं, और कुसंगति में पड़कर ऐश-आराम में अपनी सारी दौलत गँवा बैठते हैं। जब तक दौलत पास में रहती है तब तक मौज करते हैं, पर उसके नष्ट होते ही उनकी सारी शानशौकत मिट्टी में मिल जाती है, और वे कौड़ी के मोल के भी नहीं रह जाते।

मूल—सर तो में सरसे बसे भेकन हित बक बंस।
सारस हैं सारस न हैं तातें रसैं न हंस॥
तातें रसैं न हंस तोहि तजि दूरि गए हैं।
तोको मानि मलीन नहीं मनलीन भए हैं॥
बरनैं दीनदयाल बकन हटि तू बरजो मैं।
सरसैं समुझि न हंस कुसंगति को सर तो मैं॥४३॥

शब्दार्थ—सरसे=प्रेम-पूर्वक। बसे=रहते हैं। भेकन हित=मेंढकों के लिए, मेंढकों को खाने के लिए। सारस=पक्षी विशेष। सारस=(सरसि भवा: सारसाः)=सर (तालाब) में होने वाली वस्तु, कमल। रसैं=रमते हैं; प्रेम करते हैं। मनलीन=अनुरक्त। बकन हटि=बगुलों को मना करो। तू बरजों मैं=मैं तुझ को मना करता हूँ, रोकता हूँ। न सरसैं=पास नहीं आते।

अन्वय—हे सर, तो मैं कुसंगति को समुझि हंस न सरसैं।

भावार्थ—हे तालाब, मेंढकों को खाने के लिए ये बगुले तुझसे प्रेम करते हैं। सारस पक्षी भी तुझमें बहुत रहते हैं। किन्तु कमलों का तुझमें अभाव है, इसलिए हंस तुझको छोड़कर दूर (मानसरोवर) चले गये हैं और तुझसे प्रेम नहीं करते। (बगुलों और सारसों के संसर्ग से) तुझको गन्दा समझ कर वे तुझे

नहीं चाहते। अतएव तू बगुलों को अपने से दूर कर, मैं तुझे (बगुलों को स्थान देने से) रोकता हूँ। क्योंकि तुझमें कुसंगति का विचार करके हंस तेरे पास नहीं आते।

तात्पर्य—व्यसनों में फँसे हुए किसी धनवान के प्रति यह उक्ति है। हे धनिक, तुमको व्यसनी जान कर अपनी भी लिप्सा पूरी करने के लिये स्वार्थी और खुशामदियों ने तुमको अपनी मुट्ठी में कर लिया है। तुम में गुणग्राहकता एवं विवेकशीलता का अभाव देख कर, और सबसे बढ़ कर तुमको कुसंग में फँसा हुआ देख कर, ज्ञानी और विद्वान् लोग तुमसे दूर ही रहना पसन्द करते हैं, तुम्हारे पास तक नहीं फटकते। यदि तुम अपना भला चाहो और गुणवानों का सत्संग चाहो तो अपने दुर्व्यसनी तथा चापलूस मित्रों का साथ छोड़ दो।

(कवित्त)

मूल—अमल अनूप जल, मनिमै निसेनी जासु,
थल को बखान सु तो हुतो नर वर में।
मीन के विलास लहरीन के प्रकास जामें
लसी 'दीनद्याल' ऐसी प्रभा ना अपर मैं।
चितै रह्यो चंचरीक चारु कंज कलिका को
हंस सरदागम रमन गो अधर मैं।
सरमैं लगे हैं अवसर मैं समुझि यह
सूकर विहार करैं अहो तिहि सर मैं॥ ४४॥

शब्दार्थ—अमल=निर्मल, स्वच्छ। अनूप=जिस की उपमा न मिल सके, निरुपमेय। मनिमै=मणिमय। निसेनी (सं० निःश्रेणि) सीढ़ी। बखान =(व्याख्यान) बड़ाई, प्रशंसा। हुतो=था। नरवर में=बड़े बड़े आदमियों

में। लसी=शोभा देती थी। प्रभा=कान्ति, शोभा। अपर में=दूसरे में। चितै रह्यो=देख रहा है, अपेक्षा करता है, आसरा देखता है। चंचरीक=भौंरा। चारु=सुन्दर। कंज ( कं=जल+ज=पैदा होने वाला )=कमल( योग रूढ़ ) सरदागम ( शरद्+आगम )=शरद् ऋतु का आविर्भाव रमन। गो=रमण करने के लिए गया। अधर में=आकाश में। सरमैं लगे हैं=शर्माने लगे हैं, लज्जित होते हैं। अवसर में=इस मौके में। सूकर=( शूकर ) सूअर।

भावार्थ—( कोई ऐसा समय था कि ) जिस सरोवर में अतिनिर्मल स्वच्छ जल था, सीढ़ियाँ रत्नजटित थीं, श्रेष्ठजन जिनकी प्रशंसा करते थे, मछलियाँ विहार करती थीं, सुन्दर लहरें चलती थीं, और वैसी सुन्दर छटा दूसरे सरोवर में न थी, अफ़सोस की बात है कि आज ( समय बदल जाने से ) उसी की यह दशा हो गई है कि सुन्दर कमल-कलियों के लिये भौंरे प्रतीक्षा कर रहे हैं, हंस आकाश में उड़ गए हैं कि शरदागम ( समय ) पर पुनः आवेंगे, और उसी सरोवर में सुअर लोटते हैं, यह देख कर उससे परिचित जनों को लज्जा आ रही है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे उपकारी पुरुष के लिये है जो अब बिगड़ गया है। पहले उसके विचार, भाव और कृत्य अच्छे थे, पर अब कुसंग पाकर या धन की अधिकता में बुरे भावों और कृत्यों का शिकार हो चुका है।

( कमल )

मूल—सुनो अरविंद हे मलिंद बिन सजै नाहिं,
केलि मल-कीटन की रावरे बितान मैं।
जानैं कहा मन्द ये सुगंध मकरंद गुन,
गानैं 'दीनद्याल' तव माधुरी जहान मैं।

तेऊ यह कला लखि भला नहिं कहैंअब,
मूँदि लेहु मुख गिने जाहुगे मलान में।
हेरि हंस ओर फेरि खोलियो भए तें भोर,
कीजिए सुजान बात भली जो महान में ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—अरविन्द=कमल। मलिन्द=भौंरा। सजै नाहिं=शोभा नहीं देती। मलकीट=मैले में पैदा होने वाले कीड़े। वितान=चंदोवा, (यहाँ पर 'कमल की पंखुड़ियों फैलाव' से प्रयोजन है)। मन्द=नीच। मकरंद=पुष्परस। गुन गानै=गुणों का बखान। माधुरी=माधुर्य, सौंदर्य। जहान (फा०)=संसार। कला=कृत्य। मलान (म्लान)=मैले। गिने जाहुगे मलान में=नीचों में तुम्हारी गिनती होगी। हेरि=देखकर। हंस ओर=सूर्य की ओर। फेरि=फिर। खोलियो=खोलना (विधि क्रिया)। भोर=प्रातःकाल। सुजान=चतुर। महान में=बड़े लोगों में (अच्छे लोगों में)।

भावार्थ—हे कमल! हमारा कहना सुनो आपके फैले हुए पत्रों पर भौंरों के सिवाय अन्य मलीन कीड़ों का खेल कूद अच्छा नहीं लगता। ये बुरे कीड़े तुम्हारे सुगंध और मकरंद के गुणों को क्या जानें। दीनदयाल कहते हैं, जो लोग तुम्हारी माधुरी का बखान संसार भर में करते फिरते हैं, वे भी तुम्हारे इस काम को देख कर भला न कहेंगे। अतः अब तुम अपना मुख बन्द करलो, नहीं तो तुम भी मलीन जनों में गिने जाओगे। सबेरा होने पर सूर्य को देख कर पुनः अपना मुख खोलना। हे सुजान! तुम्हें वही बात करनी चाहिए जो बड़े लोगों में अच्छी समझी जाती है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होता है जो पहले अच्छा था पर अब अज्ञानवश कुसंग में पड़ गया है।

## कुंडलिया

मूल—हारो है हे कंज ! फँसि चंचरीक तुव माहिं ।
याको नीके राखिये दुखित कीजिये नाहिं ॥
दुखित कीजिये नाहिं दीजिये रस धरि आगे।
एक रावरे हेत सबै इन सौरभ त्यागे ॥
बरनै दीनदयाल प्रेम को पैंड़ो न्यारो ।
बारिज बँध्यो मलिंद दारु को बेधनि हारो ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—हारो है = खिन्न हो गया है । फँसि = फँसकर । नीके = अच्छे प्रकार । रस = मकरंद, फूल का रस । एक रावरे हेत = केवल आपके लिये । सौरभ = सुगंध । पैंड़ों ( ब्रज ) = मार्ग, पंथ । न्यारो = निराला, अनोखा । बारिज ( वारि = जल + ज = पैदा होने वाला ) = कमल । दरु = काष्ठ, लकड़ी । दारु को बेधनिहारो = लकड़ी तक को छेदने में समर्थ, ( भौंरा लकड़ी को छेद देता है ) ।

भावार्थ—हे कमल, यह भौंरा तुममें फँस कर हैरान हो गया है, अतः इस को दुःखित मत करो, अच्छे प्रकार इसकी खातिर करो, और अपना रस इसके आगे रख दो ( अर्थात् इस को अपना रस लेने दो ), क्योंकि इसने केवल तुम्हारे प्रेम के कारण अन्य सभी सुगंधित पदार्थों को छोड़ दिया है । वास्तव में प्रेम का पंथ निराला है। जिस भ्रमर में लकड़ी छेदने तक का सामर्थ्य है वह कमल में बंध जाता है, ( कहीं उसके प्रेमपात्र कमल को कष्ट न हो इस आशंका से वह कमल को छेद कर निकलता नहीं ।

तात्पर्य—किसी प्रेमपात्र के प्रति कवि का कथन है कि इस प्रेमी ने तुम्हारे प्रेम के कारण अपना सर्वस्व त्याग दिया है। यह तुम्हारा अनन्य प्रेमी है, तुम्हारे ही लिये इसने सब कुछ भुला कर अपने को कष्ट में डाला है। इसलिये

तुम्हारे लिये भी यही उचित है कि इसका चित्त मत दुखाओ, इसकी खातिर करो। इसके प्रति स्वयं भी प्रेम प्रदर्शित करो। देखो, प्रेम की रीति बड़ी विचित्र है। यदि यह चाहता तो स्वयं कष्ट से छुटकारा पा जाता, वह ऐसा कर सकता था। किन्तु अपने लिए स्वतंत्रता प्राप्त करने में कहीं मेरे प्रेमपात्र को कष्ट न हो इस विचार के कारण स्वयं विपत्ति झेलना इसको मंजूर है, पर तुम्हें दुःख देना स्वीकार नहीं।

मूल—दीने ही चोरत अहो! इन सम चोर न और।
इन समीर तें कंज! तुम सजग रहो या ठौर॥
सजग रहो या ठौर भौंर रखिये रखवारे।
नातो परिमल लूटि लेहिंगे सबै तिहारे॥
बरनै दीनदयाल रहो हो मित्र अधीने।
भलो करत हो रैन कपाट रहत हो दीने॥ ४७॥

शब्दार्थ—दीने ही=दिन में ही। समीर=वायु, (यहाँ वायु के झोंके)। सजग=सावधान, होशियार। ना तो=नहीं तो। परिमल=सुगंध। मित्र=सूर्य। रैन=(सं० रजनि) रात को। कपाट=(सं०) द्वार, किवाड़। कपाट देना (मुहावरा)=किवाड़ बंद करना।

भावार्थ—हे कमल, ये वायु के झोंके दिनदहाड़े (सब के देखते देखते) चोरी करते हैं, इनके समान (चालाक) चोर और कोई नहीं है, अतः इनसे सावधान रहो, और भौंरों को इस जगह के रक्षक बना दो, नहीं तो ये तुम्हारी सब सुगंध लूट लेंगे। हे कमल, तुम रात को किवाड़ बंद किये रहते हो, और मित्र (सूर्य) के अधीन रहते हो, यह बहुत अच्छा करते हो।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो कभी-कभी असावधानी कर जाता है।

## ( मधुकर )

मूल—सेवन करि अतिमुक्त को अलि ! पलास मति सेव ।
भ्रमत सदा तम रूप ह्वै गहन विकल या भेव ॥
गहन विकल या भेव देख बेला वर जाती ।
गए न मिलिहैं फेरि रहैगो पीटत छाती ॥
बरनै दीनदयाल सेइ कै सोभित देवन ।
कोऊ बहुरि मलीन भूत को करै न सेवन ॥ ४८ ॥

शब्दार्थ—अतिमुक्त = ( १ ) मुक्तालता, मोतिया ( पुष्प विशेष ), ( २ ) जीवन्मुक्त, सांसारिक वासनाओं से विरक्त । अलि = ( १ ) भौंरा, ( २ ) सखी । पलास = ( १ ) ढाक का फूल, ( २ ) ( पल = मांस + अश = खाने वाले ) मांसभक्षी । भ्रमत = घूमते हो, भटकते हो । तम रूप = ( १ ) काले रूप वाला, श्याम रंग का, ( २ ) तमोगुणमय, अज्ञान में लिप्त । गहन = ( १ ) वन, ( २ ) अत्यन्त । या भेव = इस कारण से, इस प्रकार से । वर बेला = ( १ ) सुन्दर बेला का फूल, ( २ ) श्रेष्ठ समय, अनुकूल समय । जाती = ( १ ) जाई का फूल, ( २ ) जा रही है, बीत रही है । छाती पीटना, ( मुहावरा ) = पछताना । देवन = ( सं० ) ( १ ) बगीचा, उपवन ( २ ) देवतों को । भूत = ( १ ) पदार्थ, ( २ ) भूत प्रेतादि ।

प्रकरण—इसका अर्थ श्लेष से भौंरे और भगवद्भक्त की बुद्धि दोनों पक्षों में घटता है ।

भावार्थ—( भ्रमरपक्ष ) हे भौंरे, मोतिया के फूल का रस लेकर अब निर्गंध ढाक के फूल का सेवन मत करो । तुम काला रूप धारण कर इस प्रकार विकलता से सदा वन में घूमते रहते हो । देखो, कैसे सुन्दर बेला और जाई के फूल खिले हुए हैं ! इन का रस ले लो, फिर समय बीत जाने पर ये फूल नहीं

मिलेंगे और तुम पछताते रह जाओगे। सुन्दर पुष्पों से सुशोभित उपवनों में विहार करके तुच्छ पदार्थों का ( निर्गंध फूलों का ) सेवन कोई नहीं करता।

तात्पर्य—( बुद्धिपक्ष में ) हे सखी, पहिले तुम योगी महात्माओं की संगति कर चुकी हो, अतः अब इन मांसभक्षियों ( दुर्जनों ) की संगति करना अनुचित है। तुम सदा अज्ञान में लिप्त होकर इस प्रकार व्याकुलता से इधर उधर ( सांसारिक विषयवासनाओं में ) भटकती फिरती हो। देखो, यह सत्कर्म करने का समय बीता जा रहा है, अभी जो कुछ करना हो करलो। गया हुआ समय फिर नहीं मिल सकता, अतः समय बीतने पछताती रह जाओगी। एक बार देवतों की उपासना से मनोवांछित फल पाकर फिर भूत प्रेतों की पूजा कोई नहीं करता।

अलंकार—मुद्रा और श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

नोट—इसमें मुद्रालंकार के लिए ये शब्द लाये गये हैं:—सेव अतिमुक्त ( माधवी ), पलास, वेला, बर, जाती, गएन ( गेंदा )।

मूल—होत उजागर बन बगर मधुप ! मलिन तव आस।
तजि माधवी-सुप्रीति को विहरत पास पलास ॥
विहरत पास पलास बास नहिं मोहत का मैं।
निरस कठोर छलीक छलन की लाली जामैं ॥
बरनै दीनदयाल कहैं कवि जे मति सागर।
यथा नाम अरु रूप तथा गुन होते उजागर ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—उजागर=( सं० उज्जाग्रत ) प्रकाशमान, प्रकट। मधुप=भ्रमर। माधवी=वासन्ती लता। बास=सुवास, सुगंध। मोहत कामैं=किस पर मुग्ध होता है। निरस=रसहीन। छलीक=कपटी।

भावार्थ—हे भौंरे, तू माधवी लता को छोड़ कर ढाक के पास विहार करता है, तेरी इस नीच आशा ( प्रवृत्ति ) की निंदा सर्वत्र वन उपवनों में प्रकट हो गई है। ये पलाश के फूल तो निर्गंध हैं, रस ( मकरंद ) हीन हैं, बड़े कठोर और छली हैं। इनकी लाली केवल छलने के ही लिए है, तू किस पर मुग्ध होता है ? ठीक है, बुद्धिमान कवियों ने कहा भी है कि जिसका जैसा नाम और रूप होता है वैसे ही उसमें गुण भी प्रकट होते हैं। तेरा नाम मधुप ( शराब पीनेवाला ) है, और रूप काला है, अतः तेरी प्रवृत्ति भी नीच कर्मों की ओर हो तो इसमें आश्चर्य ही क्या।

मूल—सेमर मैं भरमै कहा ह्याँ अलि कछू न बास।
कमल मालती माधवी सेइ न पूरी आस॥
सेइ न पूरी आस बास बन हेरत हारो।
सुरसरि बारि बिहाय स्वाद चाहै जल खारो॥
बरनै दीनदयाल कहा खटपद ये करमैं।
हैं पग पसु तें ड्योढ़ रमै ताते सेमर मैं॥ ५०॥

शब्दार्थ—सेमर=सेंमल का फूल। भरमै=( भ्रमना ) भटकता है। अलि=भौंरा। बास=सुगंध। सेइ=सेवा कर के। हेरत=खोजता हुआ। हारो=हार गया, थक गया, हैरान होगया। सुरसरि=गंगा। बिहाय=( सं० 'वि' उपसर्गपूर्वक पूर्वकालिक क्रिया का द्योतक 'य'प्रत्यय )=छोड़ कर। खटपद=( सं० षट्=छः+पद=पैर ) भौंरा। करमैं=काम। पग=पैर। पसुतें ड्योढ़ा पग हैं=पशुओं के चार पैर होते हैं, पर भौंरे के पैर छः होते हैं। ( पशु मूर्ख माने जाते हैं। तुम्हारे पैर ही पशुओं से ड्योढ़े नहीं हैं मूर्खता में भी तुम उनसे ड्योढ़े बढ़कर हो।)

भावार्थ—हे भौंरे, तू सेंमल के फूल में क्या भटकता है; यहाँ सुगंध कुछ भी नहीं है। कमल, मालती, माधव आदि सुगंधित फूलों में रहने पर भी तुम्हारी आशा पूरी नहीं हुई, और सुगंध की खोज में वन वन भटकते फिरते हो। हे पटपद, तुम गंगा के मीठे जल को छोड़ कर खारा जल पीना चाहते हो, ये तुम्हारे कैसे कर्म हैं। हाँ ठीक है, तुम्हारे पैर भी तो पसुओं से ड्योढ़े हैं, (तुम पशुओं से भी अधिक मूर्ख हो अतः तुम्हारी ऐसी मूर्खता करना कुछ आश्चर्यप्रद नहीं है) इसीलिये तुम सेंमल में रमण करते हो।

तात्पर्य—यह उक्ति किसी ऐसे व्यक्ति पर घटित होती है जो निज धर्मपत्नी को छोड़ किसी वेश्या पर आसक्त होता है।

मूल—एकै नाम न भूलि अलि ! इ तो कथन मन्दार।
वह औरै मन्दार है करनी जासु उदार॥
करनी जासु उदार देत अभिमत फल वे तो।
याने ठगे सुकादि कला करि हारे केतो॥
बरनै दीनदयाल सुखद गुन उन्हें अनेकै।
यामैं फोकट नाम अडंबर सुनियत एकै॥ ५१॥

शब्दार्थ—इ तो=यह तो। कथन=कहने मात्र को। मन्दार=(१) कल्पवृक्ष, (२) आक, मदार। अभिमत=अभीष्ट, मन इच्छित। वे=वह, (कल्पवृक्ष)। याने=इसने, आक ने। केतो=कितनी ही। कला=उपाय। फोकट (ठेठ हिन्दी)=व्यर्थ, निस्सार। अडम्बर=(आडम्बर) दिखौआपन।

भावार्थ—हे भौंरे, केवल नाम की समता पर भूल मत जा। यह आक (मन्दार) वृक्ष तो केवल कहने ही भर को (नाममात्र को) मंदार (कल्पवृक्ष) है। जो अपनी उदारता और मनवाञ्छित फल देने के लिये प्रसिद्ध है वह कल्पवृक्ष (मन्दार) दूसरा ही है। पर इस मन्दार (आक वृक्ष) ने

शुकादि पक्षियों को ठगा है। वे अनेक उपाय करके हार मान गये पर इस का रस न ले सके। उसमें ( कल्पवृक्ष में ) अनेक शुभ गुण हैं, पर इस ( आक ) में गुणों के बदले निस्सार रेशे की रेशे ( गुण ) हैं, और ( इस की लाली ) केवल दिखौआ है। ( अतः इस नामसाम्य पर मत भूल )।

तात्पर्य—नामसाम्य से धोखे में पड़नेवाले व्यक्ति पर यह उक्ति घटित होती है।

मूल—सोई विपिन विलोकिये हे मधुकर ! इहि बेर
हा ! छवि दही निदाघ अब रही राख की ढेर ॥
रही राख की ढेर जहाँ देखी वह सोभा।
लता सुमनमय देखि सु-मन तेरी जहँ लोभा ॥
बरनै दीनदयाल अहो दैवीगति जोई।
वहै भँवर तू भूलि भँवैं न, विपिन यह सोई ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—इहि बेर=इस समय। निदाघ=( सं० ) ग्रीष्मऋतु। दैवीगति =भाग्य का विधान, समय का फेर। जोई=देखी। भँवै=( भ्रमै ) घूम, भटक।

भावार्थ—हे भ्रमर, देखो, यह वही वन है जहाँ ( वसंत में ) आनन्द किये थे, परन्तु ग्रीष्म ने उसकी छवि को जला डाला, अब तो केवल राख का ढेर रह गया है। पर यह है वही वन जहाँ तुमने वसंत ऋतु में वह अपूर्व शोभा देखी थी, जिसको लताओं और पुष्पों से सुशोभित देख कर तुम मुग्ध होगये थे। हे भौंरे, विधाता का विधान बड़ा विचित्र है, इस बात को समझ कर तुम भूल कर भी इधर उधर मत भटकना। तुम भी वही भँवर हो। और यह वन भी वही है। ( एक बार फिर इस वन के दिन फिरेंगे फिर तुम पहिले की तरह मौज करना )।

तात्पर्य—( किसी गुणग्राही धनिक पर विपत्ति पड़ने से इधर उधर भटकनेवाले किसी निराश गुणवान् को उपदेश दिया गया है। हे गुणवान् यद्यपि दैवदुर्विपाक से इस समय इस धनिक पर विपत्ति पड़ रही है, और इसके पास पहिले का सा ऐश्वर्य नहीं रहा, पर इस की गुणग्राहकता में कोई कोर कसर नहीं आई है। अतएव धैर्यधारण करो। एक दिन फिर इस का भाग्य पलटेगा। फिर तुम वही गुणी हो ( जिस की यह कदर करता था ) और यह वही तुम्हारा उपकारी गुणग्राही है। इसलिये निराश होकर इधर उधर मत भटको।

मूल—भौंरे ! भूमि न बे भरम लखि इक सोभित भेस।
कढ़िगो सौरभ सुमन तें रही लालिमा सेस॥
रही लालिमा सेस कहूँ मकरंद न यामैं।
पौन पराग उड़ाय गयो कहु मोहत कामैं॥
बरनै दीनदयाल साँझ ढिग आई बौरे।
चले विहंग बसेर, कहा अब भूले भौंरे॥ ५३॥

शब्दार्थ—बे-भरम = निश्चिन्त। इक = केवल। कढ़िगो = निकल गया है। सौरभ = ( सं० ) सुगंध। सेस ( शेष ) = बाकी। पौन = ( पवन ) हवा। मकरंद = पुष्परस। पराग = पुष्परज। ढिग = पास। बसेर = डेरा, घौंसला।

भावार्थ—हे भौंरे, केवल इन फूलों के सुन्दर सुन्दर लाल रंग को ही देख कर निश्चिन्त होकर मत भूल जा। इन फूलों की सब सुगन्ध नष्ट हो गई है, केवल लालिमा भर शेष रह गई है। मकरंद ( रस ) का तो इन में नाम नहीं है, और पराग भी वायु से उड़ गया है, तू किस पर मुग्ध हो रहा है। हे भौंरे, संध्या काल आगया है, पक्षी सब अपने अपने घोसलों को चल चुके हैं, तू अब भी क्या भूला हुआ है। ( थोड़ी देर में फूल मुकुलित हो जायगा तो तू इस में ही फँस जायगा, इसलिये अब तो इसका रस लेना छोड़ दे )

तात्पर्य—यह उक्ति ऊपरी बनाव चुनाव पर आसक्त किसी व्यक्ति पर घटित हो सकती है।

मूल—आई निसि अलि ! कमल तें क्यों नहिं होत उदास।
नहिं ह्वै है छन एक में सुखद अन्त की बास॥
सुखद अन्त की बास नहीं, वरु बन्धन पैहै।
ऐहै कुंजर जबै सखाजुत तो को खैहै॥
बरनै दीनदयाल भलो बहु लोभ न भाई।
तजि के रस की आस चलो अब तो निसि आई॥ ५४॥

शब्दार्थ—उदास=विरक्त। बास=सुवास, सुगन्धि। वरु=बल्कि। पैहै =पायेगा। ऐहै—आयेगा। कुन्जर=हाथी। रस=(१) मकरंद, (२) विषयवासना-जन्य आनंद।

भावार्थ—हे भौंरे, अब तो रात हो चली है (कमल मुरझाना ही चाहता है), तू कमल से विरक्त क्यों नहीं होता। क्षण भर में ही तुमको मालूम पड़ेगा कि अन्त समय तक इस फूल की सुगन्ध लेने का परिणाम सुखद न होगा। (इसलिये अभी इसका रस लेना छोड़ दो) नहीं तो कमल के बन्द हो जाने पर तुम भी इसीमें फँस जाओगे और जब हाथी आयेगा तो तुम्हारे मित्र (कमल) के साथ ही तुमको भी खा जायगा। हे भाई, बहुत लालच अच्छा नहीं होता ! (तुम दिन भर खूब रसपान कर चुके है।) अब तो इस की आशा छोड़ कर घर चले जाओ, क्योंकि रात हो चली है।

तात्पर्य—मरण पर्यन्त विषयवासना में डूबे हुए व्यक्ति के प्रति यह उक्ति है। हे भाई जीवन भर खूब विषयानन्द लूट चुके हो, अब मौत निकट आगई है, इसलिये अब तो विरक्त होकर परमात्मा का भजन करो। देखो अंत तक विषय भोग में लिप्त रहने का फल अच्छा नहीं होगा जब काल आकर तुमको

खा जायगा तब भी ( मरने पर भी ) तुम्हारी आत्मा का छुटकारा नहीं होगा, क्योंकि वह इन्हीं सांसारिक वासनाओं में फँसी रहेगी । बहुत लोभ अच्छा नहीं होता । इसलिये अपने मन को वासनाओं से विरक्त करके अब कुछ परलोक का भी तो सामान कर लो ।

मूल—लै पल एक सुगंध अलि ! अपनो मानि न भूल ।
लैहै साँझ सबेर में वह माली यह फूल ॥
वह माली यह फूल किते दिन लोढ़त आयो ।
फूले फूले लेत कली सब सोर मचायो ॥
बरनै दीनदयाल लाल लखि फँसै न है छल ।
लगी बाग में आग, भाग रे गंधहि लै पल ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—पल = क्षण । किते दिन लोढ़त आयो = न जाने कितने दिनों से तोड़ता आता है । लोढ़ना = ( सं० लु + धातु से ) काटना या तोड़ना ।

भावार्थ—हे भौंरे, थोड़े समय तक इसकी सुगंध लेकर उड़ जा । इसको अपना समझ कर भूल मत । सध्या सबेरे कभी न कभी इस बाग का माली इस फूल को तोड़ लेगा । न जाने वह माली कब से फूले हुए फूलों को तोड़ता आया है । कलियाँ सब शोर मचाती हैं कि एक दिन हमारी भी बारी आयेगी । इसलिए, हे भौंरे, तू क्षण भर ही इसकी सुगंध लेकर भग जा, लाल रंग देख कर भूल मत, यह सब छल है, इस वन में आग लगी है ।

तात्पर्य—विषयविमुग्ध मनुष्य को उपदेश है कि सांसारिक सुखों में अधिक मत फँसो, संसार में मृत्यु निश्चित है ।

मूल—बौरे ! लखि कै लालिमा हे भौंरे ! मति भूल ।
हैं छलमय, पल के, असद ये कागद के फूल ॥

ये कागद के फूल सुगंध मरंद न यामैं।
मृदु माधुरी पराग नहीं अनुरागत कामैं॥
बरनै दीनदयाल चेत चित मैं इहि ठौरे।
लुटि जैहै यह बाग छटा छन की है, बौरे॥ ५६॥

शब्दार्थ—बौरे=( सं० वातुल ) बावले। लालिमा=लाली, लाल रंग। पल के=क्षण भर के, क्षणभंगुर, अस्थायी। असद=( अ+सत् ) असत्य, झूठे, निस्सार। कागद के फूल=काग़ज़ की फ़ुलवारियाँ इत्यादि जो ब्याह शादियों और उत्सवों में लुटाई जाती हैं। मरंद=मकरंद। मृदु=कोमलता। माधुरी=मिठास, भीनी सुगंध। अनुरागत=प्रेम करते हो। कामैं=किसमें। बाग़=नकली काग़ज़ की फ़ुलवारियाँ। छटा=शोभा। छन=क्षण।

भावार्थ—हे बावले भौंरे, ये सब काग़ज़ के फूल नकली हैं, क्षणभंगुर हैं, और असत्य ( कृत्रिम ) हैं, इनकी ललाई को देख कर भूलो मत। इनमें न तो सुगंध और मकरंद ही है न कोमलता, और न भीनी भीनी सुगंध। तू किन पर मुग्ध होता है। हे बावले, यह शोभा थोड़ी देर के लिए है, ( उत्सव समाप्त होते ही ) यह बाग़ लुट जायगा, इसलिए अभी चित्त में सावधान हो जा।

तात्पर्य—कोई व्यक्ति सांसारिक विषयवासनाओं में फँसे हुए अपने चित्त को ( अथवा किसी दूसरे व्यक्ति को ) चेतावनी देता है। अरे मूढ़ मन, तू सांसारिक विषयभोग में क्यों लिप्त होता है? ये सब पदार्थ, जिनके बाहरी-रूप सौंदर्य पर तू मुग्ध हो रहा है, मायामय हैं, क्षणभंगुर हैं, मिथ्या हैं। इनमें न तो वास्तविक सौंदर्य है, न सच्चा आनन्द। तू किन पर आसक्त हो रहा है? अरे मन, अब भी सँभल जा, इन कृत्रिम पदार्थों से विरक्त हो सच्चिदानंद के

भजन में लग कर वास्तविक और सच्चे "ब्रह्मानंद" का अनुभव कर। यह संसार क्षण भर में नष्ट हो जायगा, इसकी शोभा पर भूलना मूर्खता है।

मूल—देखत न ग्रीष्म विषम इहि गुलाब की ओरि।
सुनो अली! यह नहि भली ह्वैहैं कली बहोरि॥
ह्वैहैं कली बहोरि तबै तुम पायन परिहौ।
चायन को करि काह बकायन मैं सिर मरिहौ॥
बरनै दीनदयाल रहो हो पीतम पेखत।
यहै मीत की रीति एक से सुख दुख देखत॥ ५७॥

शब्दार्थ—विषम=भयंकर। चायन=चाह, प्रेम। बकायन=एक वृक्ष जिसकी पत्ती का स्वाद कड़वा होता है। पीतम=(प्रियतम) सब से प्यारा। पेखना=(प्रेक्षण) देखना। मीत=(सं० मित्र, प्रा० मित्त) सखा।

भावार्थ—हे भौंरे, इस भयंकर गर्मी में तुम इस गुलाब के पेड़ की ओर (जिसमें वसंत भर आनन्द किया करते थे) देखते तक नहीं, यह अच्छी बात नहीं है। सुनो, फिर भी इसके दिन फिरेंगे और जब इसमें कलियाँ लगेंगी, तब तुम इसके पैरों पड़ोगे (इसकी ख़ुशामद करोगे)। बहुत चाह करके क्या बकायन में अपना मूड़ मारोगे। इसलिए, हे भौंरे, अपने प्रिय गुलाब की देख भाल करते रहो, क्योंकि मित्र की रीति यही है कि उनका व्यवहार (अपने मित्र के प्रति) दुःख सुख में एक सा होता रहे।

तात्पर्य—मित्र चाहे दुःख में हो अथवा सुख में हर हालत में मित्रता का पूरा पूरा निर्वाह करना ही सन्मित्र का कर्त्तव्य है। केवल मित्र के सुख में सम्मिलित होकर उसके आनन्द को द्विगुणित करना ही अच्छे मित्र का काम नहीं है। जिस मित्र के साथ उसकी सम्पन्न अवस्था में मौज की थी, उसको विपत्ति के समय छोड़ देना भलमनसाहत नहीं है। चाहिए तो यह कि उसकी

विपत्ति में भाग लेकर उसके दुःख को हलका कर दे। किन्तु स्वार्थी मित्रों की रीति इससे भिन्न होती है। वे सम्पत्ति के समय अपना स्वार्थ साध लेते हैं और ज्योंही उनपर विपत्ति आती है, उनका साथ छोड़ कर चल देते हैं। दैवात् यदि कभी उनकी दशा फिर पलट जाय तो स्वार्थी मित्र आकर ख़ुशामद करने लगते हैं।

मूल—भौंरा अंत बसंत के है गुलाब इहि रागि।
फिरि मिलाप अति कठिन है या बन लगे दवागि॥
या बन लगे दवागि नहीं यह फूल लहैगो।
ठौरहिँ ठौर भ्रमात बड़ो दुख तात सहैगो॥
बरनै दीनदयाल किते दिन फिरिहै दौरा।
पछितैहै कर दिए गएँ रितु पीछे भौंरा॥ ५८॥

शब्दार्थ—इहि=इससे। रागि=अनुराग करले, प्रेम करले। भ्रमात=भटकता हुआ। किते=कितने। दौरा=दौड़ता हुआ। दौरा फिरना=(मुहावरा) भटकना। कर दिए=हाथ पर हाथ दिये (पश्चात्ताप की मुद्रासे) पछताते हुए।

भावार्थ—हे भौंरे, यह गुलाब का फूल वसन्त के अन्त समय का है, इससे जी खोल कर प्रेम करले। (ग्रीष्म ऋतु में) इस वन में दावाग्नि लगने पर (जब सब फूल भस्म हो जायेंगे तो) तुम्हारा मिलना अत्यन्त कठिन हो जायगा। हे प्यारे, फिर तुम यह फूल नहीं पा सकोगे, और इसके लिए इधर उधर भटकते हुए तुम्हें बड़ा कष्ट सहना पड़ेगा। हे भौंरे, कब तक इधर उधर दौड़ते फिरोगे, (न जाने कितने दिनों में फिर यह अवसर हाथ लगे, इसलिये

जब तक वसन्त वर्तमान है तब तक फूलों का यथेष्ट उपभोग कर लो ) नहीं तो ऋतु ( वसंत ) के बीत जाने पर हाथ पर हाथ दिये पछताओगे।

तात्पर्य—सुअवसर बारंबार नहीं मिल सकता। किसी कार्य-साधन के लिये कोई विशेष समय ही उपयुक्त होता है। यदि उस समय का सदुपयोग कर लिया जाय तो ठीक ही है, न जाने फिर कब वैसा सुअवसर हाथ आवे! अवसर पर चूक जाने से बड़ा कष्ट उठाना पड़ता है, पर कार्य सिद्ध होने की तब भी संभावना नहीं रहती है। तब सिवाय पछताने के और हो ही क्या सकता है। सारांश यह कि उचित समय पर कार्य साधन कर लेना ही श्रेयस्कर है।

मूल—तौ लौं अलि ! तू बिहरि लै जौ लौं मित्र प्रकास।
पीछे बाँधो जायगो रजनी नीरज पास ॥
रजनी नीरज पास बँधे फिरि स्वाँस न ऐहै।
यह तो बिधि को तात, कला इत नाहिं चलै है॥
बरनै दीनदयाल सुमन सेयो कइ सौ लौं।
बुड्यो कोकनद नहीं, रही चतुराई तौ लौं ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—तो लौं=तब तक। जौ लौं=जब तक। मित्र=( १ ) सुहृद्, ( २ ) सूर्य रजनी=रात्रि। यह तो बिधि को तात=यह कमल तो विधाता ( ब्रह्मा ) का भी बाप है ( ब्रह्मा कमल से पैदा हुए हैं )। कला=उपाय। सुमन=फूल। सुमन सेयो कइ सौ लौं=कई सौ फूलों का तुमने रस लिया है। बुड्यो=डूबा, ( फँसा ) कोकनद=कमल।

भावार्थ—हे भौंरे, जब तक सूर्य का प्रकाश है ( और कमल खिला हुआ है। तब तक तू स्वच्छंद बिहार कर ले, पीछे ( सूर्यास्त होने पर ) रात्रि को जब कमल संकुचित हो जायगा ) तू कमल में बन्द हो जायगा, फिर तुझे

सांस लेना भी कठिन हो जायगा। हे प्यारे, यह कमल तो ब्रह्मा का बाप है, यहाँ तेरा एक भी उपाय काम न आएगा। यह किसी ऐरे ग़ैरे की करतूत नहीं है। ब्रह्मा का लेख तक जब अमिट है तब उसके बाप से पार पाना साधारण नहीं है। ( अब बस कर ) आज तक न जाने तू कितने फूलों का रस ले चुका है। अब बुद्धिमानी तो इसी में है कि जब तक तू कमल में डूबता नहीं ( बन्द नहीं होता ) तभी तक यथेष्ट विहार करके उड़जा।

तात्पर्य—इस अन्योक्ति द्वारा सांसारिक विषय वासनाओं में फँसे हुए मनुष्य को चेतावनी दी गई है। जब तक शरीर में बल है, युवावस्था वर्तमान है, तभी तक जो कुछ भलाई करना हो करलो, फिर क्या कर सकोगे।

मूल—श्रीहित स्याम ! बने छली, भली पीत छबि गात।
अली ! कला निसि नहिं चली गह्यो बली बिधि-तात॥
गह्यो बली बिधि-तात बात वह जात रही है।
जो जन औरहि छलै निदान छलात वही है॥
बरनै दीनदयाल मित्र बिन जैहौ अब कित।
तब तो रचे प्रपंच रूप करि कपटी श्रीहित॥ ६०॥

सूचना—यह कुंडलिया श्लेष से बामन और भौंरा दोनों पर घटित होती है।

शब्दार्थ—श्री=( १ ) राज्यश्री, ( २ ) मकरंद। स्याम=( १ ) कृष्ण अर्थात् बामन जी, ( २ ) भौंरा। बिधि-तात=( १ ) ब्रह्मा का बाप ( कमल ), (२) कानून बनाने वाला ( राजा बलि )। कला=युक्ति। निसि=रात्रि में ( रात्रि मे भौंरा कमल में बन्द हो जाता है और बामन जी को रात में राजा बलि के शयनागार का पहरा देना पड़ता है )। मित्र=( १ ) सहायक, ( २ ) सूर्य।

भावार्थ—हे भौंरे ! देखो राज्यश्री लूटने के लिये भगवान् ने छल से बामन रूप धरा, पीताम्बर पहन कर सुन्दर छवि बनाई ( वैसा ही तुम भी करते हो ) परन्तु याद रखो रात्रि को उनकी कोई युक्ति न चली, कानून बनानेवाले राजा बलि ने उन्हें पकड़ ही लिया ( इसी प्रकार कमल तुम्हें पकड़ लेगा ) जब राजा बलि ने उन्हें वचनबद्ध कर लिवा तब उनकी वह छल-लीला जाती रही ( इसी प्रकार जब तुम कमल में बन्द हो जाओगे तब तुम्हारी चंचलता भूल जायगी। क्योंकि जो व्यक्ति औरों को छलना चाहता है, अन्त में वह स्वयं ही ठगाया जाता है। दीनदयाल कवि कहते हैं कि अब बिना मित्र की सहायता के ( बिना सूर्य्योदय हुए तुम कहाँ जा सकते हो ) तब तो राज्यश्री ( पुष्पश्री—मकरंद ) के लिये कपट रूप धरकर छल किया ( अब उसका फल भोगो )।

तात्पर्य—किसी छली जन के प्रति उपदेश है कि छल तो ईश्वर तक का नहीं चलता तुम्हारी क्या बिसात है, अतः छल मत करो।

( हंस )

मूल—कीजै गमन सुमानसर यह दुखदायक ताल।
हंस-बंस-अवतंस हौ मौन गहो इहि काल।
मौन गहो इहि काल काक बक खल या ठावैं।
अति कठोर बरजोर सोर चहुँओर मचावैं॥
बरनै दीनदयाल इन्हैं तजि सुख सों जीजै।
सठ संगति अतिभीति भूलि तहँ गमन न कीजै॥ ६१॥

शब्दार्थ—सु-मानसर=मानसरोवर झील को ( 'सु' का प्रयोग व्यर्थ है ) अवतंस ( सं० )=शिरोभूषण, शिरमौर। बंस अवतंस=कुल में श्रेष्ठ। मौन गहो=चुप्पी साध लो। इहि=इस। ठाँव ( स्थान )=जगह। बरजोर=

अत्यन्त। सोर ( शोर )=कोलाहल। जीजै=जीवो। सठ=( शठ ) कुटिल हृदय। भीति=भय, डर।

भावार्थ—हे हंस, तुम अपने कुल के शिरमौर हो, अतः मानसरोवर को ही चले जाओ। यह तालाब दुःखदायी है ( यहाँ संगति अच्छी न होने से तुम्हारा रहना ठीक नहीं )। यहाँ तो कौवे, बगुले आदि दुर्जनों का निवास है, और ये लोग चारों ओर अत्यन्त कोलाहल मचाते हैं, जो अति कर्णकटु है, इसलिये इस समय तुम्हारा चुप रहना ही अच्छा है। ( क्योंकि यहाँ तुम्हारा कहना कोई सुनेगा नहीं ) हे हंस, दुर्जनों की संगति महाभयंकर होती है, वहाँ भूल कर भी मत जाओ। इन दुष्टों ( काक बकादि ) को छोड़ कर सुख-पूर्वक जीवो ( रहो )।

तात्पर्य—कुसंगति बड़ी भयंकर होती है। इसका विष सज्जन पर भी असर किये बिना नहीं रहता। इसलिये विवेकी पुरुष को दुर्जनों की संगति से दूर रहना ही श्रेयस्कर है। सज्जन यदि चाहे कि हम दुर्जनों को उपदेश देकर सुधार दें तो यह भी बड़ा कठिन काम है क्योंकि दुर्जनों की बस्ती में एक सज्जन को कोई पूछता नहीं, फिर उसके उपदेश को सुने कौन? दुर्जनों की सभा में सज्जन का चुप रहना ही अच्छा है।

मूल—मानसचारी हंस करि गंग तरंग बिलास।
सूकर-क्रीड़ा-सर विषे अब अभाग्यबस बास॥
अब अभाग्यबस बास हास द्विज करैं चहूँ दिस।
हा! किमि धारैं धीर बीर या पीर कहूँ किस॥
बरनै दीनदयाल अहो विधि गति बलिहारी।
कीच बीच फँसि रह्यो हंस यह मानसचारी॥ ६२॥

शब्दार्थ—मानसचारी=मानसरोबर में विचरण करने वाला। सूकर-क्रीड़ा-सर=सुअरों के खेल करने का तालाब। विषे=(विषये) में। हास=(हास्य) हँसी। द्विज=पक्षी। किस=कैसे या किस से। विधि=विधाता, भाग्य। पीर=(पीड़ा) दुःख।

भावार्थ—मानसरोवर में निवास करनेवाला यह हंस जो गंगा की लहरों में केलि करता था, आज दुर्भाग्य से सुअरों के खेलवाले (गंदे) तालाब में आ बसा है। चारों ओर से पक्षी उसकी हँसी कर रहे हैं। (हंस सोचता है कि) "हे भैया, मैं अपनी व्यथा किस से कहूँ, कैसे धैर्य धारण करूँ"। अहा, यह मानसरोवर-निवासी हंस आज कीचड़ में फँसा हुआ है! बलिहारी है इस भाग्य (विधाता) की!

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे विवेकी पुरुष पर घटित होती है जो अभाग्यवश कुठौर में बस गया है।

मूल—नहीं मानस हंस यह नहिं मुकुतन की रासि।
यह तो संबुक मलिन सर करटन की मिरियासि॥
करटन की मिरियासि रहैं याको सठ घेरे।
तू मति भूले धीर जाहु याके नहिं नेरे॥
बरनै दीनदयाल चलो निरजर-सर पाहीं।
जहाँ जलज की खानि सदा सुख है दुख नाहीं॥ ६३॥

शब्दार्थ—मानस=मानसरोवर। रासि=(राशि) ढेर। संबुक=घोंघा। करट=(सं०) कौवा। मिरियासि=(अरबी मीरास) बपौती। नेरे=(सं० निकट, प्रा० निअर) नज़दीक। निर्जर=देवता। निर्जरसर=मानसरोवर। पाहीं=(सं० पार्श्व) पास। खानि=अधिकता। जलज=मोती।

भावार्थ—हे हंस, न तो यह मानसरोवर है ( जहाँ तुम रहते थे ), न यहाँ मोतियों का ढेर ही है ( जिन्हें तुम चुगते थे )। यह तो घोंघों से भरा हुआ गंदा तालाब है, जहाँ परंपरा से कौवे रहते चले आए हैं। हे धीर, भूल कर भी इस तालाब के निकट मत जाना, कौवे आदि शठ इसको सदा घेरे रहते हैं। अच्छा तो यही है कि तुम मानसरोवर को चले जाओ जहाँ बहुत से कमल और मोती हैं ( तुम्हारे खाने की कमी नहीं है ), और जहाँ दुःख का नाम भी नहीं, सुख ही सुख है।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति जीवात्मा पर घटित होती है। कोई व्यक्ति अपने मन से कहता है कि यह संसार दुःखमय है, विषय-वासनाओं से भरा है, इसलिए इस संसार से निर्लिप्त रहो, भूल कर भी इन विषयों में मत फँसो। अपने मन को उस सच्चिदानंद परमात्मा के ध्यान में लगाओ जहाँ आनंद ही आनन्द है; दुःख, क्लेश आदि का नाम भी नहीं। ( यह किसी कुठौर बसे हुए विवेकी पुरुष पर भी घटित होती है )

मूल—हितकारी मानस बिना नहीं हंस चित चैन।
छिन छिन व्याकुल बिरह बस सोचत है दिन रैन॥
सोचत है दिन रैन बैन नीके नहिं आवत।
काक बलाकन संग साक तजि समै बितावत॥
बरनै दीनदयाल मरालहिं संकट भारी।
मानस और न चहै बिना मानस हितकारी॥ ६४॥

शब्दार्थ—मानस=( १ ) मन, ( २ ) मानसरोवर। चैन=( सं० चयन ) आनंद। छिन छिन=( क्षण क्षण ) सदा। रैन=( सं० रजनि )

रात। बैन=( सं० वचन )। नीके=अच्छी तरह से, स्पष्ट। बलाक=बगुला। साक=साख, पति, मर्यादा। समै=( सं० समय )।

अन्वय—हितकारी मानस बिना मानस और न चहै।

भावार्थ—( कोई हंस समय के फेर से मानसरोवर से भटक कर किसी तालाब में आ बैठा है।) अपने हितकारी मानसरोवर के बिना हंस का चित्त उदास है। उसके विरह में वह सदा व्याकुल रहता है, और रात दिन उसीके सोच में रहता है। शोक के कारण उसका कंठ अवरुद्ध हो गया है, अच्छे प्रकार मुख से वचन नहीं निकलते, उसको अपनी मर्यादा, अपना स्वाभिमान सब कुछ त्याग कर कौओं और बगुलों के बीच में समय बिताना पड़ रहा है। बेचारा हंस इस समय बड़ी विपत्ति में है। उसके मन में उसके लिये सब प्रकार से लाभप्रद मानसरोवर के अतिरिक्त और कोई अभिलाषा नहीं है।

तात्पर्य—जब किसी विवेकी पुरुष को दैववशात् अपने सन्मित्रों और हितकारियों की संगति छोड़ कर दुष्टों और पाखंडियों के पड़ोस में कालयापन करना पड़ता है तो उसकी व्याकुलता और विपत्ति की सीमा नहीं रह जाती। समय के फेर से उसे अपनी मान-मर्यादा का ख्याल भुला कर दुर्जनों की संगति में दिन काटने ही पड़ते हैं पर उसका जीवन निरानंद हो जाता है और उसे बारंबार अपने हितकारी सुहृदों की सुध आती है।

( चक्रवाकी )

मूल—चल चकई तिहि सर विषै जहँ नहिं रैनि बिछोह।
रहत एकरस दिवस ही सुहृद हंस-संदोह॥
सुहृद हंस-संदोह कोह अरु द्रोह न जाके।
भोगत सुख अंबोह मोह दुख होय न ताके॥

बरनै दीनदयाल भाग्य बिन जाय न सकई।
पिय मिलाप नित रहै ताहि सर चल तू चकई ॥ ६५ ॥

शब्दार्थ—विषै=(सं० विषये) में, (अधिकरण कारक का चिह्न।) एकरस=एक समान, सदा। संदोह=(सं०) समूह। कोह=(सं०) क्रोध। अम्बोह=(फा०) समूह।

भावार्थ—(चकवा चकई का रात को वियोग हो जाता है—ऐसा कवियों ने वर्णन किया है।) हे चकई, तू उस तालाब को चल जहाँ वियोग की रात्रि है ही नहीं, सदा दिन ही रहता है। वहाँ (मानसरोवर में) मित्रों (हंसों) का समूह रहता है, जिनका हृदय शुद्ध और शांत होता है; क्रोध और द्रोह के लिए तो उनके मन में स्थान ही नहीं। उनको किसी प्रकार का दुःख नहीं होता, वे सदा नाना प्रकार के सुख भोग करते हैं। हे चकई, वहाँ नित्य अपने प्रिय से मिलाप रहता है (कभी बिछोह नहीं होता)। इसलिये तू उसी तालाब को चल, वहाँ जाना बड़े सौभाग्य से होता है।

तात्पर्य—(कोई व्यक्ति अपनी बुद्धिरूपी नायिका को संबोधन करके कहता है।) हे बुद्धि, तू सच्चिदानन्द परमात्मा के भजन में लीन हो जा। परमात्मा के आश्रय में अज्ञान रूपी अंधकार, काम, क्रोध, लोभ, मोह, मात्सर्य आदि का नाम भी नहीं है, प्रत्युत सदा ज्ञान का प्रकाश फैला रहता है, ज्ञानी जनों का साथ रहता है। वहाँ कभी प्रिय (परमेश्वर) का वियोग नहीं होता, सदा परमानंद ही परमानंद है। पर परमात्मा में अपनी बुद्धि को लगाना किसी विरले ही भाग्यवान का काम है।

नोट—यह सच्चा रहस्यवाद है। छायावादी कवि इससे छायावादी का ढंग समझें तो अच्छा हो।

( बक )

मूल—चाली हंसन की चलै चरन चोंच करि लाल।
लखि परिहैं बक ! तव कला झख मारत ततकाल ॥
झखैं मारत ततकाल ध्यान मुनिवर सो धारन।
विहरत पंख फुलाय नहीं खज अखज बिचारत ॥
बरनै दीनदयाल बैठि हंसन की आली।
मन्द मन्द पग देत अहो यह छल की चाली ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—कला = धूर्तता, पाखंड। झख = (सं० झष) मछली। ततकाल = उसी समय, तत्क्षण। खज अखज = ( खाद्य अखाद्य ) भक्ष्य अभक्ष्य। आली = पंक्ति।

भावार्थ—हे बगुले, तू अपने चरण और चोंच को लाल कर हंसों की सी मंद मंद चाल चलता है। पर जिस समय तू मुनियों की तरह ध्यान लगाए मछलियाँ मारेगा उस समय तेरी पोल खुल जायगी। अहो ! ज़रा इस धूर्त बगले का पाखंड तो देखो, यह भक्ष्याभक्ष्य का तो कुछ भी विचार नहीं करता ( हंस क्या खाता है क्या नहीं इस बात को नहीं सोचता ) पर पंख फुलाकर घमंड में फूल कर हंसों के साथ ही विहार करता है, उन्हीं की पाँति में बैठता है, और उन्हीं की भांति मंद मंद गति से चलता है,। ( यह सब छल की चाल है—बनावटी पाखंड है )।

तात्पर्य—पाखंडी लोग दूसरों को धोखा देने के लिये सज्जनों और साधुओं का सा वेष धारण करते हैं। पर उनके दुष्कर्मों से, दुराचरण से उनका भंडा-फोड़ हो ही जाता है। क्योंकि वे बाहरी रहन सहन तो साधुओं की सी बना लेते हैं पर उनके गुणों का अनुकरण नहीं कर पाते हैं। सारांश यह कि पाखंडी

अपने को छिपा नहीं सकता, उसके बुरे आचरण से उसकी पोल स्वयं खुल जाती है ।

( मंडूक )

मूल—दादुर ! काकोदर दसन परे मसन मति ध्याउ ।
कहा लहैगो स्वाद को, एक स्वास की आउ ॥
एक स्वास की आउ ग्रास यह तोहि करै है ।
तोको नहिं विश्वास न मन कछु त्रास धरै है ॥
बरनै दीनदयाल तोहि लखि बड़ो बहादुर ।
अरिमुख रह्यो समाय अजौं नहिं संकित दादुर ॥ ६७ ॥

शब्दार्थ—दादुर = मेंढक । काकोदर = सर्प । दसन = ( दशन ) दांत । मसन = मच्छड़ों को । ध्याउ = ध्यान करो, घात लगाओ । लहैगा = (सं० लभ् = पाना ) पायेगा । आउ = (आयु ) उम्र । ग्रास करना = खा जाना । त्रास = डर । अरि = शत्रु । समाय रह्यो = पड़ा हुआ है । अजौं = (अद्यापि) अब भी । संकित = ( शंकित ) डरा हुआ ।

भावार्थ—हे मेंढक, तू साँप के दाँतों के बीच में पड़ा हुआ है, इस समय तो कम से कम मच्छरों पर घात लगाना छोड़ दे । क्षण भर की तो तेरी आयु रह गई है, इस समय तुझे इन मच्छड़ों के खाने में क्या मज़ा मिलेगा । थोड़ी ही देर में तो यह सर्प तुझे खा जायगा । न तो तुझे हमारे कहने पर ही विश्वास आता है; न मन में तुझे इस बात का डर ही है । हे मेंढ़क ! तू शत्रु ( साँप ) के मुख में तो पड़ा हुआ है, पर अब भी नहीं डरता । वाह तू तो बड़ा बहादुर जान पड़ता है ।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति किसी ऐसे पुरुष को लक्ष्य करके कही गई है जो वृद्धावस्था आने पर भी विषय-वासनाओं से विरक्त नहीं होता और मरते दम तक अपने उदर की पूर्ति के लिए घृणित कर्म करने से मुँह नहीं मोड़ता। काल मुँह बाए उसके ग्रसने को तत्पर है, पर वह इस प्रकार निःशंक होकर अपने स्वार्थ साधन के लिए दूसरों की घात लगाए बैठा है मानो अमर है। उसे इस बात की कुछ भी चिन्ता नहीं है कि थोड़े ही समय तक जीवित रहना है, क्षणिक वासना की तृप्ति से क्या आनंद मिलेगा, अवशिष्ट जीवन भगवद्-भजन और परमार्थ में क्यों न लगाया जाय ?

( कूप )

मूल—पथिकन के अंसुवान को जल दरसाय अलीक।
किन किन की मति नहीं छली तू मरुकूप ! छलीक ।।

तू मरुकूप छलीक सून हिय तामस बासा।
खाली धुनि सुनि परै नहीं जीवन की आसा ।।
बरनै दीनदयाल कला न चलै गुनि जन की।
गुन भो वृथा बिसाल सुमति हारी पथिकन की ।। ६८ ।।

शब्दार्थ—पथिक=बटोही। दरसाय=दिखलाकर। अलीक=झूठा। मति=बुद्धि। मरुकूप=मरुभूमि ( रेगिस्तान ) का कुआँ। छलीक=छली, ( यहाँ 'क' प्रत्यय अपने ही अर्थ का द्योतक है, और 'अलीक' का तुक मिलाने के लिये लगाया है। 'स्वार्थ' में 'क' और भी कई शब्दों में लगाया जाता है। जैसे—'पुत्रक', 'बालक' इत्यादि। ) सून=( सं०शून्य ) खाली। हिय=( हृदय ) भीतरी हिस्सा। तामस=( १ ) अंधकार, ( २ ) तमोगुण। बासा=

रहने की जगह। जीवन=( १ ) जल ( २ ) प्राण। गुन=( १ ) गुण, ( २ ) रस्सी। गुनि=( गुणी ) ( १ ) गुणवाला, ( २ ) रस्सी वाला।

भावार्थ—हे मरुभूमि के कुएँ, तू बड़ा छली है; पथिकों के आँसुओं का झूठा जल दिखा कर तूने किस किस की बुद्धि को धोखा नहीं दिया। तुम्हारा भीतरी भाग बिलकुल खाली ( जल रहित है ) और केवल अंधकारमय है। जल पाने की तो तुमसे कोई आशा नहीं है केवल प्रतिध्वनि ही सुनाई पड़ती है। रस्सी वाले मनुष्यों तक का एक भी उपाय नहीं चलता। ( तुझ में जल तो है नहीं अतएव ) खूब लंबी चौड़ी रस्सी का होना भी व्यर्थ है। इन्हीं सब कारणों से पथिकों की बुद्धि चकरा गई है।

तात्पर्य—यह संसार मरुस्थल के कूप के समान है। जीव-यात्री इस भवकूप में इसी प्रकार छले जाते हैं जैसे रेगिस्तान के पथिक मरुकूप में। विषयवासना रूपी मृगतृष्णा के जल से बड़े बड़े ज्ञानी, योगी, ऋषि, मुनि छले गये हैं वास्तव में 'विषयवासना की पूर्ति में कोई विशेष आनंद नहीं है। जो कुछ आनंद प्रतीत होता है, सब मिथ्या है, क्षणभंगुर है, जीवन का नाश करने वाला है। पर करें क्या? बड़े गुणवानों की बुद्धि तक हैरान हो जाती है, उनके सब सद्गुण निरर्थक हो जाते हैं। यह विषयवासना है तो निस्सार, पर छलती है सभी को।

विशेष—यह अन्योक्ति किसी धनवान् मिथ्यादानी पर भी घट सकती है। लोगों को दिखलाने के लिये तथा अपना नाम पैदा करने के लिये ऐसे धनी बड़े बड़े चंदे देते हैं, और लोगों में अपने दानीपन की धाक जमा लेते हैं। पर वास्तव में वे सहृदय ( उदार ) नहीं होते, उनके अन्तःकरण में तमोगुण भरा रहता है। उनका दान केवल दिखौआ ( चर्चामात्र को ) होता है।

किसी गुणवान अथवा योग्य पात्र को उनसे उपकृत होने की कोई आशा नहीं रहती, उनके सब गुण व्यर्थ ही जाते हैं।

( दोहा )

मूल—यह अन्योक्ति-सुकल्पद्रुम साखा प्रथम बखानि।
बिरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—साखा=शाखा। इस ग्रंथ का नाम कवि ने 'अन्योक्ति कल्पद्रुप' रक्खा है। द्रुम ( वृक्ष ) में शाखाओं ( डालियों ) का होना आवश्यक है। अतएव इस ग्रंथ के चार खंडों का नाम 'शाखा' रक्खा गया है।

अर्थ—सरल ही है।

इति श्री-काशीनिवासी—दीनदयालगिरि-विरचिते
अन्योक्तिकल्पद्रुम ग्रन्थे
प्रथमशाखा समाप्ताः।

—०:-:०—

## द्वितीय शाखा

### ( कुंडलिया )

#### ( भूधर )

मूल—बलिहारी भूधर तुमै धीर करैं गुन-गान ।
सानमान कहि अचल कहि सब जग करै बखान ॥
सब जग करै बखान सकल जीवन को पालौ ।
तीछन बात दवागि दाहतें नेक न हालौ ॥
बरनै दीनदयाल कौन तुम सो उपकारी ।
सुखद, रतन की खानि, बार बहु है बलिहारी ॥ १ ॥

शब्दार्थ—भूधर=पर्वत । सानमान= (१) सानु=शिखर+मान=वाला, अर्थात् ऊँचा पर्वत (२) शान वाला श्रेष्ठ पुरुष । अचल=कभी चलायमान न होने वाला, दृढ़ । तीछन बात दवागि=(१) प्रबल आँधी तथा दावाग्नि, (२) कटु वचन रूपी दावाग्नि । दाह=ज्वलन, ताप, कष्ट । नेकु=ज़रा, तनिक । हालौ=हिलते हो, विचलित होते हो ।

भावार्थ—हे पर्वत, तुम्हीं धन्य हो, बुद्धिमान् लोग तुम्हारा गुणगान करते हैं । सारा संसार "सानुमान" और "अचल" कह कर तुम्हारी बड़ाई करता है । बड़ी बड़ी प्रबल आँधियों एवं प्रचण्ड दावानल की ज्वालाओं से भी तुम तनिक नहीं घबड़ाते, और सब जीवों का पालन करते हो । हे रत्नों की खानि, हे सुखदायक पर्वत, तुम्हारे समान उपकारी कौन है ? तुम्हीं वास्तव में धन्य हो ।

तात्पर्य—वे पुरुष सत्य ही श्लाघ्य हैं जो संसार में प्रतिष्ठावान् एवं दृढ़प्रतिज्ञ प्रख्यात हैं, जो दुर्जनों की कटूक्तियों और बड़ी बड़ी विपत्तियों से

भी कर्तव्यच्युत और निस्साहस नहीं होते और जो सदा परोपकार में रत रहते एवं दूसरों को सुखी बनाने में ही लगे रहते हैं।

( पारस मणि )

मूल—चिन्तामनि अरु नीलमनि पदपराग सु-प्रवीन।
सुन्यो न पारस ! तुम बिना लोह कनक कोउ कीन ॥
लोह कनक कोउ कीन नहीं जग में जे मानिक।
चमकैं ठौरहिं ठौर जगे हैं जे जेहि खानिक ॥
बरनै दीनदयाल अहो पारस तुम हो धनि।
कियो कुधातु महीस-मुकुट क्या है चिन्तामनि ॥ २ ॥

शब्दार्थ—चिन्तामणि=एक प्रकार की मणि जिसके बारे में यह प्रसिद्ध है कि उसके धारणकर्त्ता की सब मनोभिलाषाएँ पूर्ण हो जाती हैं। नीलमणि= नीले रंग की मणि विशेष, जिसको नीलम और मरकत भी कहते हैं। पद्मराग=लाल रंग की मणि विशेष, लाल। सुप्रवीन=अति चतुर। पारस= एक पाषाण विशेष, जिसके स्पर्शमात्र से लोहा सोना बन जाता है। कनक= सोना। जगे हैं=चमक रहे हैं, प्रकाशित हैं। कुधातु=लोहा।

भावार्थ—हे पारस, संसार में चिन्तामणि, नीलम, माणिक आदि एक से एक अमूल्य रत्न प्रसिद्ध हैं और स्थान स्थान पर चमकते हुए अपनी खानियों को प्रकाशित कर रहे हैं। पर तुम्हारे अतिरिक्त इनमें से किसी ने भी लोहे को सोना नहीं बना पाया। अतः हे पारस ! तुम्हीं धन्य हो, क्योंकि तुमने लोहे ऐसी बुरी धातु को भी ( सोना बना कर ) राजाओं के मुकुट में स्थान दे दिया। ये चिन्तामणि आदि तुम्हारे सामने क्या हैं ? ( तुच्छ हैं )।

तात्पर्य—अपने अपने लिये तो सभी बड़े होते हैं। पर वास्तव में बड़ा वही मनुष्य कहा जा सकता है जो अपनी संगति से, अपने प्रभाव से छोटों को भी बड़ा बना दे।

( नीलमणि )

मूल—मरकत ! पामर कर परी तजि निज गुन अभिमान।
इतै न कोऊ जौहरी ह्याँ सब बसैं अजान॥
ह्याँ सब बसैं अजान काँच तो को ठहरावैं।
तदपि कुसल तू मान जदपि यहि मोल बिकावैं॥
बरनै दीनदयाल प्रवीन हृदै लखि दरकत।
अहो करम गति गूढ़ परी कर पामर मरकत॥ ३॥

शब्दार्थ—मरकत = नीलम। पामर = नीच। अजान = ( अज्ञान ) मूर्ख। प्रवीण = चतुर। दरकत = फटता है। गूढ़ = छिपी हुई।

भावार्थ—नीलमणि, तू नीच मनुष्य के हाथ पड़ गई है, अतः अपने गुणों पर अभिमान करना छोड़ दे, क्योंकि यहाँ तेरे गुणों की परख करनेवाला कोई जौहरी नहीं है। यहाँ सभी मूर्ख रहते हैं वे तुझे साधारण काँच का टुकड़ा समझेंगे। परन्तु यदि तू काच के मोल बिक जावे तो भी अपनी कुशल समझ। ( कम से कम इनके हाथों से छुटकारा तो मिल जायगा। ) अहा ! कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। यह नीलम (जिससे किसी राजप्रासाद की शोभा बढ़ती ) आज मूर्खों के हाथ पड़ी है। इसकी यह दुर्दशा देख कर गुणग्राही का हृदय फटता है।

तात्पर्य—कर्मों की गति बड़ी विचित्र है। कभी भाग्यवशात् यदि कोई गुणवान् व्यक्ति ऐसे गँवारों में फँस जाता है जो उसके गुणों की, कदर नहीं

करते तो उसको बड़ा मानसिक क्लेश सहना पड़ता है। ऐसे समाज में अपने गुणों का अभिमान छोड़ने के अतिरिक्त उसके लिये और कोई चारा नहीं है। बिना ऐसा किये उसका निर्वाह नहीं हो सकता।

( मुक्ता )

मूल—मेल्यो मुख घसि सूँघ फिरि, फेक्यो कीस अजान।
मुक्ता ! बात कुसल भई जौ नहिं हन्यौ पखान ॥
जौ नहिं हन्यौ पखान बन्यो तौ रूप अजौ लौं।
मिले जौहरी तोल मोल बिकिहै कइ सौ लौं ॥
बरनै दीनदयाल खेल कपि कैसो खेल्यो।
बच्यो आपने भाग्य अहो मुक्ता मुख-मेल्यो ॥ ४ ॥

शब्दार्थ—मेल्यो=डाल लिया। घसि=घिस कर। कीस=बन्दर। अजान=( सं० अज्ञान ) मूर्ख। हन्यो=मारा। तौ=( तव ) तेरा। अजौ लौं=अभी तक। मिले=मिलने पर।

भावार्थ—हे मुक्ता, अज्ञान बानर ने पहले तुमको मुख में डाल लिया, फिर ( कुछ स्वाद न मिलने पर ) घिस कर के सूँघने लगा, अंत में ( सुगंध से निराश होने पर ) उसने तुमको फेंक दिया। पर इतनी कुशल हुई कि उसने तुमको पत्थर पर नहीं पटक दिया, अतः तुम्हारा स्वरूप अभी तक ( इतना कष्ट सहने पर भी ) ज्यों का त्यों बना है, अस्तु, कुछ चिन्ता नहीं, अभी कुछ नहीं बिगड़ने पाया। यदि किसी जौहरी के हाथ पड़ जाओगे तो अपनी तोल ( वास्तविकता ) के अनुसार कई सैकड़े के माल में बिकोगे। हे मोती, बानर ने तुम्हें मुख में डाला और न जाने क्या क्या खेल खेले, इतने पर भी तुम बच गये यह तुम्हारा सौभाग्य है।

तात्पर्य—( किसी मूर्ख के द्वारा पीड़ित गुणी व्यक्ति पर यह अन्योक्ति घटित होती है। ) हे गुणवान्, यद्यपि इस दुष्ट ने तुमको नाना प्रकार के कष्ट दिये हैं, तथापि इसने तुमको जान से न मार डाला इतना ही बहुत समझो! अभी तुमको अपने गुणों के प्रकट करने का सुअवसर मिल सकता है। कभी सौभाग्य-वश किसी गुणग्राही के हाथ पड़ जाओगे तो तुम्हारी बड़ी भारी प्रतिष्ठा होगी। अत्याचारी ने तुम्हारा सर्वनाश नहीं किया यह कम सौभाग्य की बात नहीं है। नहीं तो फिर तुम्हें अपने गुण दिखाने का अवसर ही न मिल सकता।

( रंग ) राँग

मूल—लीने गुरुता को गरब अरे रंग! मति भूलि।
रंग न तेरा है कछू सुबरन संग न तूलि॥
सुबरन संग न तूलि तासु गुन को नहिं जाने।
धिग तव तौल प्रताप आप गुन आप बखाने॥
बरनै दीनदयाल तिनै नृप कीटन कीने।
तू पामर तिय पाय रहै लपटाय मलीने॥ ५॥

शब्दार्थ—गुरुता=बोझ, भारीपन। गरब=( गर्व ) घमंड। रंग=रांग, धातु विशेष। सुबरन=सोना। न तूलि=बराबरी न कर। तिनै=उसको ( सोने को )। तिनै नृप कीटन कीने=उस ( सोने ) को राजाओं ने अपने मुकुटों में रक्खा, सोने से राजाओं के मुकुट बनाये जाते हैं। पामर=नीच।

भावार्थ—अरे राँगे! अपने भारीपन के घमंड से इतरा मत। तेरा तो रंग ही कुछ काम का नहीं है, अतः सोने से बराबरी करने का साहस मत कर। उसके ( सोने के ) गुणों को कौन नहीं जानता? तेरे बोझ और प्रताप को धिक्कार है, जो तेरे गुण स्वयं प्रकट नहीं होते और तुझे अपने गुणों का बखान

अपने मुख से प्रकट करना पड़ता है। हे मलीन (पापी), देख सोने से राजाओं के मुकुट बनाये जाते हैं, पर तू नीच जाति की स्त्रियों के पैरों में लपटा रहता है। (नीच जाति की स्त्रियाँ पैरों में राँगे के गहने पहनती हैं)।

तात्पर्य—किसी एक साधारण गुण के ही कारण बड़ों की बराबरी नहीं की जा सकती। महत्ता और क्षुद्रता छिपाये नहीं छिपती, न प्रत्येक का अपने गुण प्रकट करने की आवश्यकता ही पड़ती है। बड़े मनुष्यों का सर्वत्र आदर सम्मान होता है, और क्षुद्र लोग ठुकराये जाते हैं।

(लोहा)

मूल—लोहा ! द्रोह न कीजिये पारस मनि के साथ।
ताहि परसि पैहै प्रभा भूप-मनिन के माथ ॥
भूप-मनिन के माथ तोहि लखि जग हरखैगो।
करि करि कोटि प्रनाम सुमन तोपै बरखैगो ॥
बरनै दीनदयाल कौन सतसंग न सोहा।
पैहै रूप अनूप, बढ़ैगी कीमत लोहा ॥ ६ ॥

शब्दार्थ--पारसमणि=एक प्रकार का पत्थर, जिसके बारे में कहा जाता है कि उसके छूने से लोहा भी सोना हो जाता है। परसि=स्पर्श करके। प्रभा=कान्ति शोभा। भूपमणि=श्रेष्ठ राजा।

भावार्थ—हे लोहे ! तू पारस-मणि के साथ द्रोह मत कर। उसको छूकर तू बड़े बड़े राजाओं के सिर पर (मुकुट में) शोभा पावेगा, तब तुझे देख कर सारा संसार प्रसन्न होगा और तुझे अनेक बार प्रणाम करके तुझ पर फूल चढ़ावेगा। हे लोहे, सत्संग से किसकी शोभा नहीं बढ़ती? इस पारस-मणि के संयोग से तू अपूर्व सौंदर्य प्राप्त करेगा और तेरी क़ीमत बढ़ जायेगी।

तात्पर्य—सत्संगति द्वारा नीच से नीच व्यक्ति भी महान् बन जाता है, उसकी गिनती भी महापुरुषों में होने लगती है, और संसार में उसका यश-सौरभ फैल जाता है। अतः सत्संग से विमुख होना मूर्खता के अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता है।

( कानन )

मूल—राखे जरत दवागि तें दै दै धार उदार।
मान गहन घनस्याम को वा दिन को उपकार॥
वा दिन को उपकार साखि पै कोकिल कूजैं।
फूलीं लता अपार सुभृंगन के गन गूंजै॥
बरनै दीनदयाल धन्य तिनको जग भाखे।
जे मानैं उपकार तिन्हैं बुद्ध मैं गनि राखे॥ ७॥

शब्दार्थ—धार = जलधारा। गहन = वन, कानन। घनस्याम = (१) बादल, (२) कृष्ण, ईश्वर। साखि = (शाखिन्) शाखाएँ जिसमें हों, अर्थात् वृक्ष।

भावार्थ—हे बन, बादल का उस दिन का उपकार मान जब उस उदार ने जल की धारायें बरसा बरसा कर दावाग्नि द्वारा भस्म होने से तुझको बचाया था। यह उसी बादल की कृपा का फल है जो आज, तेरे वृक्षों पर ये कोकिल कूज रहे हैं, लताएँ फूल रही हैं, और उन फूलों में भौंरों के समूह गूँज रहे हैं। ( नहीं तो सब उसी आग में भस्म हो जाते और तुझे यह सुदिन देखने को न मिलता। ) देख, उपकार को भुला मत दे। जो लोग दूसरे के किये हुए उपकार का स्मरण रखते हैं वे बुद्धिमानों में गिने जाते हैं और सारा संसार उनको धन्य धन्य कहता है।

तात्पर्य—अरे मनुष्य, उस दिन का स्मरण कर जब तेरे जन्मते ही परमात्मा ने तेरी माता के स्तनों में दूध देकर तुझे मरने से बचाया था।

देख, यदि तू भोजन के अभाव में तभी मर जाता तो आज इस सम्पन्न अवस्था में कैसे होता। आज तो तू इस सुखमय अवस्था को प्राप्त हुआ है सो सब ईश्वर की ही कृपा समझ, उसको भूल न जा।

विशेष—इस अन्योक्ति का सारांश यही है कि उपकारी का उपकार मानने वाले लोग संसार में प्रशंस्य एवं मान्य होते हैं।

( सामान्य वृक्ष )

मूल—पाई तुम प्रभुता भली चहुँ दिसि अलि गुजार।
हे तरु तटिनी तीर के करिलै कछु उपकार॥
करिले कछु उपकार आज ऋतुराज बिराजै।
डार सुमन के भार रही झुकि कै छवि छाजै॥
बरनै दीनदयाल पथिन दै छाँह सोहाई।
पच्छिन को प्रतिपाल करै किन प्रभुता पाई॥ ८॥

शब्दार्थ—प्रभुता=अधिकार, ऐश्वर्य। अलि=भौंरे। तटिनी=नदी। ऋतुराज=बसंत। डार=डाल, पेड़ की शाखा। सुमन=फूल। पथिन=पथिकों को, बटोहियों को। पच्छिन=पक्षियों।

भावार्थ—हे नदी तट के वृक्ष, आज ऋतुराज वसंत आ विराजे हैं जिससे तुम समृद्धि-सम्पन्न हो गये हो, तुम्हारी शोभा अपूर्व जान पड़ती है। फूलों की सुगंध के वशीभूत हो भौंरे तुम्हारे चतुर्दिक् सुमधुर स्वर से गूँज रहे हैं। अपने इस अधिकार और सामर्थ्य का सदुपयोग क्यों नहीं करते? जब तुम्हारे वश की बात है तब लोगों का थोड़ा बहुत उपकार तो कर लो। पथिकों को अपनी सघन छाया के नीचे विश्राम दो, और अपने आश्रित पक्षियों का प्रतिपालन करो।

तात्पर्य—यह जीवन नदी तट के वृक्ष की भाँति अचिर है। अतएव जबतक शरीर में बल है, जबतक अपने अधिकार और सामर्थ्य की बात है तबतक अपने जीवन को सत्कार्य में—परोपकार में—लगाना ही जीवन की सार्थकता है, प्रभुता का सदुपयोग है।

विशेष—"हे तरु तटिनी तीर के" यह सम्बोधन इस स्थान पर बड़ा ही समीचीन है। नदी तट के वृक्ष का जीवन बड़ा ही संशयाकुल रहा करता है। न जाने किस बाढ़ में नदी उसको बहा ले जाय। इसी प्रकार मनुष्य का जीवन भी अस्थिर है। न जाने किस घड़ी उसकी मौत का परवाना आ जाय। जीवन की अचिरता ध्वनित करना ही इसका मूल उद्देश्य है।

मूल—एहो द्रुम ! या सिसिर को दीजे दान तुरन्त।
टीने सूखे पात के दैहै हरे बसंत॥
दैहै हरे बसंत फूल फल दलन समेते।
पैहो पुंज सुगंध भृंग गूँजैंगे केते॥
बरनै दीनदयाल लसोगे सोभा से हो।
भाखत वेद पुरान दिये बिन मिलै न एहो॥ ९॥

शब्दार्थ—द्रुम=पेड़। सिसिर=शिशिर ऋतु, जो माघ और फाल्गुन दो महीने रहती है। दलन=पत्तों। पूँज=समूह। केते=कितने। लसोगे=सुशोभित होओगे। भाखत=(भाषत) कहते हैं।

भावार्थ—हे वृक्ष, इस शिशिर ऋतु को (सूखी पत्तियों का) दान शीघ्र दो, क्योंकि यदि तुम इसे सूखी पत्तियाँ दोगे तो वसन्त तुमको हरा भरा कर देगा, तुम पत्र, फल, पुष्प से सम्पन्न होकर सुगन्धमय हो जाओगे। तब न जाने कितने (असंख्य) भौंरे सुगंध से लुब्ध होकर तुम्हारे आस पास गूँजेंगे।

उस समय तुम अपूर्व शोभा से सुशोभित हो जाओगे। हे वृक्ष, वेदों एवं पुराणों में कहा गया है कि बिना दान किये कुछ मिलता नहीं।

तात्पर्य—संसार का यह नियम है कि बिना दिये कुछ मिलता नहीं। जो व्यक्ति दूसरे को देना नहीं जानता वह भला दूसरे से पाने की क्या आशा कर सकता है? व्यवहार में भी यही देखने में आता है कि आमद बढ़ाने के लिये खर्च भी बढ़ाना ही पड़ता है। किफायत करने से लाभ की अपेक्षा हानि की संभावना रहती है। कम मज़दूरीवाले से अधिस मज़दूरीवाले कुली का काम कहीं अच्छा और लाभप्रद होता है। उक्त वैदिक सिद्धांत भी इन्हीं व्यावहारिक नियमों की भित्ति पर स्थित है। इसी से हम लोगों के यहाँ यह माना जाता है कि जो अपनी सामर्थ्य भर थोड़ा भी दान देते हैं उनको उसके प्रतिफल स्वरूप कई गुना अधिक लाभ होता है। स,थ ही लोगों में उनके गुणों की चर्चा एवं यश-प्राप्ति नफे में हाथ आती है।

मूल—उपकारी हौ द्रुम महा हम भाखत तुव पाहिं।
राखहु नाहिं दुजिह्व को हिय कोटर के माहिं॥
हिय कोटर के माहिं देख दुख तो पच्छिन को।
पथी न आवैं पास त्रास उपजै लखि तिन को॥
बरनै दीनदयाल सकल गुन हैं तुव भारी।
यह कुसंग ततकाल त्यागिये जग उपकारी॥ १०॥

शब्दार्थ—दुजिह्व (१) साँप, (२) चुगलखोर या झूठ बोलने वाला। तो पच्छिन को=(१) तुम्हारे आश्रित पक्षियों को, (२) तुम्हारे पक्षवालों को। पथि=पथिक। त्रास=भय, डर।

भावार्थ—हे वृक्ष, तुम बड़े उपकारी हो, अतएव तुमसे हमारी प्रार्थना है कि अपने हृदय रूपी कोटर (खोखल) में साँप को जगह मत दो; क्योंकि उसे देख कर तुम्हारे आश्रित पक्षियों को दुःख होता है, और पथिक-गणों को भी साँप देखकर भय प्रतीत होता है जिससे वह तुम्हारे निकट नहीं आते। हे संसार के उपकारी वृक्ष, तुम सभी सद्‌गुणों से संपन्न हो, अतएव कुसंग करना उचित नहीं, तत्काल (उसी समय) उसका त्याग कर देना समीचीन है।

तात्पर्य—एक चुगलखोर—इधर की उधर, उधर की इधर झूठी बात फैलानेवाले की कुसंगति के कारण लोग उपकारी के उपकार से वंचित रह जाते हैं। अतएव उपकारी ऐसे पिशुनों से जितना ही दूर रहे उतना ही श्रेयस्कर है।

मूल—मन को खेद न करिये तरु ! पच्छिन को भरु पाय।
भाखत साखा रावरी सोभा रहे बनाय॥
सोभा रहे बनाय सुफलमै तुमको चाहैं।
सेवत प्रेम लगाय कहैं जस दिसि के माहैं॥
बरनै दीनदयाल धीर रखिये निज तन को।
मंद बात को पाय कँपाइय नाहिं सुमन को॥ ११॥

शब्दार्थ—पच्छिन = (पक्षिन्) (१) चिड़ियों, (२) अपने पक्ष वालों। भरु = भार। भाखत साखा रावरी = (१) तुम्हारी डाली पर बैठे कूज रहे हैं, (२) तुम्हारी वंशावली गाते हैं। साखा = (शाखा) (१) डाली, (२) शाखोच्चार मन्त्र, जो विवाहादि के अवसर पर परस्पर वंशावली वर्णनपूर्वक पढ़े जाते हैं। सुफलमै = सुफलमय। दिसि के माहैं = दिशाओं में। मंद बात = (१) मंद मंद वायु, (२) ओछी बातें। सुमन = (१) फूल, (२) अपना मन (स्वमन)।

भावार्थ—हे वृक्ष, इन पक्षियों का बोझ पाकर मन को खिन्न मत करो। देखो, ये तुम्हारी डाली पर बैठे चहचहा रहे हैं। इनसे तुम्हारी शोभा और भी रमणीय हो गयी है। ये हृदय से तुम्हें फलों से भरा पुरा देखने के इच्छुक हैं। ये सब पक्षी बड़े प्रेम से तुम्हारी सेवा करते हैं और सर्वत्र तुम्हारे यश का बखान करते हैं। अतएव धैर्यपूर्वक अपने शरीर के कष्टों को सहन करो और साधारण हवा के झोंके से ही फूलों को मत कँपाओ।

तात्पर्य—शक्ति सामर्थ्य सम्पन्न सत्पुरुषों के प्रति यह अन्योक्ति कही गई है। अपने पक्षपातियों का सदा ध्यान रखना चाहिये उनके भरण-पोषण का भार अपने ऊपर आ जाय तो दुःखित न होना चाहिये। वे अपने आश्रय-दाताओं की शाखा ( वंश ) का वर्णन करते हैं, प्रेम से उनकी सेवा करते हैं, सदा उनके हितचिन्तन में लगे रहते हैं, और हृदय से उनकी शुभकामना करते हैं। सारांश यह कि बिना आश्रितों के महापुरुषों की शोभा ही नहीं है, अतएव महापुरुष उनके पालन पोषण के बोझ से घबराते नहीं, धैर्य से अपने कर्त्तव्य का पालन करते जाते हैं। लोगों की तुच्छ बातों में आकर अपने मन को विचलित नहीं करते।

मूल—वा दिन की सुधि तोहि को भूलि गई कित साखि !
बागवान गहि घूरतें ल्यायो गोदी राखि ॥
ल्यायो गोदी राखि सींचि पाल्यो निज करतें।
भूलि रह्यो अब फूलि पाय आदर मधुकर तें ॥
बरनै दीनदयाल बड़ाई है सब तिन की।
तू झूमै फल भार भूलि सुधि को वा दिन की ॥ १२ ॥

शब्दार्थ—बागवान = माली। गहि = पकड़ कर। घूर तें = कूड़े कर्कट से। फूलि = ( १ ) फूलकर, पुष्पित होकर, ( २ ) आनन्द से फूलकर। मधुकर = भौंरा। तिनकी = उस माली की।

भावार्थ—अरे वृक्ष, तू उस दिन की सुधि कहाँ भूल गया जब माली तुझको कूड़े कर्कट से उठाकर अपनी गोद में रख कर लाया था ? उसी ने अपने हाथ से सींच कर तुझे इतना बड़ा किया किन्तु अब तू फूल कर भौंरों से आदर पाकर उसे भूल गया है। देख, तू उस दिन की सुधि भले ही भूल गया हो पर जो तू आज फलों के बोझ से झूम रहा है वह सब उसी माली की कृपा का फल है। न वह तुझे कूड़े से उठाकर सींचता न तू आज फलने पाता।

तात्पर्य—अपने पालन-पोषण-कर्त्ता माता पिता के उपकारों को भूल जाना उनके प्रति कृतघ्नता करना है। सन्तान बड़ी होने पर जो कुछ भी उन्नति करती है वह सब माता पिता की बदौलत, न माता-पिता बचपन में अनेक कष्ट सहते न आज बड़े होने पर वे उन्नति कर पाते। बड़े होने पर हम जो उन्नति करते हैं उसका श्रेय हमारे पालन-कर्त्ता माता-पितादि पर ही है।

( विशेष वृक्षः )

( तत्र चन्दन )

मूल—चंदन ! बंदन जोग तुम धन्य द्रुमन में राय।
देत कुकुज कंकोल लौं देवन सीस चढ़ाय॥
देवन सीस चढ़ाय कौन तुव रीस करैगो।
बड़े बड़े तरु-ईस सुगंध न पीस मरैगो॥
बरनै दीनदयाल पाय संताप निकंदन।
नंदन बन तें आदि करैं तव बंदन चंदन॥ १३॥

शब्दार्थ—बंदन जोग=बंदन ( प्रणाम ) करने योग्य, पूज्य। द्रुमन में राय=वृक्षों में सर्वश्रेष्ठ। कुकुज=( कु=कुत्सित+कु=पृथ्वी+ज ) एक प्रकार का निकम्मा वृक्ष। कंकोल=एक प्रकार का निरर्थक वृक्ष। लौं=तक।

रीस ( सं० ईर्ष्या ) = बराबरी, समानता। तरु-ईस = पेड़ों में श्रेष्ठ, वट, पिप्पल आदि। सुगंध न पीस मरैगो = घिसते घिसते नष्ट हो जायेंगे पर उनमें सुगंध नहीं निकलेगी। सन्ताप निकंदन = दाह-नाशक, गर्मी शान्त करने वाले। नंदन वन = देवताओं का उपवन।

भावार्थ—हे वृक्षों में श्रेष्ठ चंदन, तुम धन्य हो, और पूजनीय हो, क्योंकि तुम कंकोल ऐसे निकम्मे वृक्षों तक को ( अपनी सुगंधि से बसा कर चंदनवत् ही बना कर ) देवताओं के ऊपर चढ़ा देते हो। तुम्हारी बराबरी कौन कर सकता है ? वट, पिप्पल आदि बड़े बड़े श्रेष्ठ वृक्ष भी भले ही पीस कर नष्ट कर दिये जायें पर उनसे सुगन्धि नहीं निकलने की। हे चंदन, तुमको ताप-नाशक ( शीतल ) जान कर नंदन-वन आदि देवोद्यानों से लेकर सभी छोटे बड़े उपवन तुम्हारी वन्दना करते हैं।

तात्पर्य—अपने अपने लिये तो सभी बड़े होते हैं, पर वास्तव में महापुरुष वही है जो अपने गुणों द्वारा क्षुद्र से क्षुद्र व्यक्ति को भी प्रभावित करके अपने ही समान महापुरुष बना सके, ऐसे ही व्यक्तियों को अपना दुःखनिवारक समझ कर सारा संसार पूजता है। महापुरुषों से चंदन की समानता क्या ही सुन्दर और लाजवाब है। वट पिप्पलादि और भी बड़े वृक्ष होते हैं जिनको लोग बहुत मानते हैं, पर सब वृक्षों को—निकम्मे वृक्षों को भी—आत्मवत् बनाने की सामर्थ्य एक चंदन में ही है।

---

नोट—कहा जाता है कि मलयाचल के सभी वृक्ष चंदन की भाँति ही सुगंधित हो जाते हैं। फल यह होता है कि वे सभी वृक्ष चंदन के नाम से चंदन के मूल्य पर बिकते और देवताओं पर चढ़ाये जाते हैं।

( तुलसी )

मूल—सब तरु धरा धरे रहे बेख बड़े प्रिय कीस ।
एकै ही तुलसी लसी लघु सरूप हरि सीस ॥
लघु सरूप हरि सीस रीस को तासु करैंगे ।
बीस बिसे तरु-ईस खीस ह्वै भार जरैंगे ॥
बरनै दीनदयाल बड़ो छोटो जनि चित धरु ।
भाग्यवंत है बड़ो बड़ो नहिं कहिये सब तरु ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—धरा=पृथ्वी । बेख बड़े=खूब लम्बे चौड़े डील-डौल वाले । प्रिय कीस=जो बन्दरों को प्रिय थे । लसी=शोभित हुई । लघु=छोटा । हरि=विष्णु भगवान् । रीस=( ईर्ष्या ) समानता, बराबरी । बीस बिसे=बीस बिस्वे, निश्चय रूप से, सोलहों आने । तरुईस=बड़े बड़े पेड़ । खीस=नष्ट । भार=भाड़, चूल्हा ।

भावार्थ—बड़े बड़े डील-डौल वाले और बानरों को प्रिय लगने वाले सभी वृक्ष पृथ्वी में योंही पड़े रह गये, ( कुछ सार्थक नहीं हुए ) एकमात्र तुलसी ही छोटी होने पर भी भगवान् के सिर पर सुशोभित हुई, अतः उसकी बराबरी कौन कर सकता है ? निश्चय ही उससे ईर्ष्या करनेवाले बड़े बड़े नष्ट होकर भाड़ में जल जाएँगे ( पर उनके किये कुछ होगा नहीं )। वास्तव में यदि देखा जाय तो अमुक बड़ा है अमुक छोटा है इन बातों के विचार में कुछ सार नहीं है । भाग्यवान् व्यक्ति ही वास्तव में बड़ा है । अतएव हम सब वृक्षों को बड़ा नहीं कह सकते ।

तात्पर्य—भाग्यवान् पुरुष ही सर्वश्रेष्ठ है, चाहे वह छोटा हो चाहे बड़ा । उसका सर्वत्र आदर-सम्मान होता है । उससे ईर्ष्या करने वाले चाहे मर मिटें

पर उसका कुछ नहीं बिगाड़ सकते। अतएव बड़े छोटे का विचार करना व्यर्थ है। भाग्यवान् ही को बड़ा और अभागे ही को छोटा समझो।

( रसाल )

मूल—एहाँ वीर रसाल! अति सोहत हौ सिरमौर।
साखा बरनै रावरी द्विजवर ठौरै ठौर॥
द्विजवर ठौरै ठौर सुफल रावरी ही चाहैं।
निकसै जो तव बात सुमन सो सुधी सराहैं॥
बरनै दीनदयाल धन्य वा धात्री के हो।
जातें प्रकटे आय आप अपकारी एहो॥ १५॥

शब्दार्थ—रसाल=( १ ) आम का पेड़ ( २ ) रस ( प्रेम ) मय, रसिक पुरुष, सहृदय। सिरमोर=( १ ) सिर पर मौर ( मंजरी ) धारण किए हुए, ( २ ) श्रेष्ठ। शाखा= ( १ ) डाल, ( २ ) गोत्र। साखा बरनैं= ( १ ) डालों में बैठे हुए चहकते हैं, ( २ ) तुम्हारी वंशावली गाते हैं। द्विजवर=( १ ) कोकिल आदि श्रेष्ठ पक्षी, ( २ ) श्रेष्ठ ब्राह्मण। सुफल= ( १ ) अच्छा फल, ( २ ) सफलता। निकसै जो तव बात सुमन सो सुधी सराहैं= ( १ ) तुम्हारी मंजरी से संघर्षित होकर जो वायु निकलती है उसे बुद्धिमान् लोग सराहते हैं, ( २ ) तुम्हारे पवित्र मन से जो कुछ बात निकलती है बुद्धिमान् लोग उसकी सराहना करते हैं। सुधी=( सु=सुन्दर+धी=बुद्धि ) बुद्धिमान्। धात्री=( १ ) पृथ्वी, धरित्री, (२) धाय।

भावार्थ—हे आम के वृक्ष, तुम अपने सिर पर मंजरी धारण किए हुए अत्यंत शोभा देते हो। कोकिल आदि श्रेष्ठ पक्षी स्थान स्थान पर तुम्हारी शाखा में बैठे हुए सुमधुर स्वर से कूज रहे हैं। और तुम्हारे सुन्दर आम्र फलों

की अभिलाषा करते हैं। तुम्हारे पुष्पों से स्पर्श कर जो वायु आती है बुद्धिमान् लोग उसकी भूरि भूरि प्रशंसा करते हैं। धन्य है उस पृथ्वी को जिसने तुम्हारे समान परोपकारी को जन्म दिया।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति "वसुधैव कुटुम्बकम्" सिद्धांत को माननेवाले किसी सज्जन के प्रति कही गई है। वास्तव में जो व्यक्ति प्रेममय है, अपने प्रेम संभाषण से सबको वश में कर लेता है, वही सर्वश्रेष्ठ पुरुष है, विद्वान् लोग स्थान स्थान पर उसी के सुयश की चर्चा करते हैं। उसके निष्कपट चित्त से निकले हुए प्रेमपूर्ण उपदेशों का बुद्धिमान् लोग आदर करते हैं। उस माता की कोख को धन्य है जो ऐसे परोपकारी लालों को जन्म देती है।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

मूल—जेतो फल तें नमत हौ एहो धीर रसाल !
तेतो ऊँचे होत हौ सोभा होति बिसाल॥
सोभा होति बिसाल बात तव है सुखदायक।
रसतें करो निहाल तुमै सेवैं द्विज-नायक॥
बरनै दीनदयाल हिए हरि सों हित केतो।
धरे स्याम छवि रहौ नमित रस देखौ जेतो॥ १६॥

शब्दार्थ—जेतो=जितना। नमत हो=झुकते हो। तेतो=उतना ही। बात=(१) वायु, (२) वार्त्ता। रस=(१) आम का रस, (२) प्रेम या काव्य के नव रस। निहाल करो=आनंदित करते हो, तृप्त करते हो। द्विजनायक=कोकिल आदि श्रेष्ठ पक्षी। हिए=हृदय में। हरि=(१) हरा रंग (२) श्रीकृष्ण। हित=प्रेम।

भावार्थ—हे धैर्यवान् आम्रवृक्ष, तुम जितना ही फलों के बोझ से झुकते हो उतना ही तुम लोगों की दृष्टि में ऊँचे जँचते हो, और तुम्हारी शोभा भी

उतनी ही बढ़ जाती है। तुम्हारी वायु बड़ी सुहावनी प्रतीत होती है। तुम अपने फलों के मधुर रस से लोगों को संतुष्ट कर देते हो, इसी से कोकिलादि पक्षी तुम्हारी सेवा करते हैं। दीनदयाल जी कहते हैं कि तुम्हारे हृदय में हरि से कितना प्रेम है कि उनकी श्याम छबि को ही धारण किये रहते हो और जितना ही अधिक रस (अपने में) देखते हो उतना ही (अधिक) झुकते हो।

तात्पर्य—जो व्यक्ति अपने अभ्युदय से इतराता नहीं वही प्रशंसनीय है। महापुरुष जितकी उन्नति करते हैं उनके स्वभाव में उतनी ही नम्रता आ जाती है, नम्रता अभ्युदय प्राप्ति की प्रथम सीढ़ी है।

अलंकार—श्लेश से पुष्ट अन्योक्ति।

मूल—पाई तुम मृदुता नई भई कठिनाई दूरि।
गई स्यामता संग तजि छई लालिमा भूरि॥
छई लालिमा भूरि पूरि आई मधुराई।
सोभा बसी बिसाल नसी वह खोटि खटाई॥
बरनै दीनदयाल सुगंध कला छिति छाई।
जीवन-मुक्त रसाल भये सुचि संगति पाई॥१७॥

शब्दार्थ—स्यामता=(श्यामता) (१) हरापन (२) कपट। भूरि=बहुत। कला=गुण। छिति=(क्षिति) पृथ्वी पर। जीवनमुक्त= (१) जल से रहित, (२) जीते जी मुक्त। शुचि=(१) *आसाढ़ मास, (२) पवित्र।

भावार्थ—हे आम्र, आसाढ़ मास पाकर तुम (कच्चे फल की अवस्था की आभा से) मुक्त हो गये हो। पकने के कारण अब तुम्हारा पहले का कड़ापन दूर हो गया है और तुम में नवीन कोमलता आ गई है, तुम्हारा काला

---

*आसाढ़ मास का आम अच्छा होता है।

पन लुप्त हो गया है और अब तुम लाल दिखाई पड़ते हो, तुम्हारा पहले का खोटा खट्टापन नष्ट हो गया है और मिठास भर आई है। इससे तुम्हारी शोभा बहुत बढ़ गई है और तुम्हारी सुगंध पृथ्वी में फैल गई है।

तात्पर्य—सत्संगति पाकर निष्ठुर व्यक्ति भी रसिक हो जाते हैं, पापी भी जीवन्मुक्त हो जाते हैं। उनकी क्रूरता नष्ट हो जाती है और वे बड़े नम्र एवं उदारचेता बन जाते हैं। उनके मन का कपट धुल कर नष्ट हो जाता है। पहले के रूखेपन के स्थान में अब उनमें सरसता आ जाती है। जहाँ पहले वे सबसे अपमानित होते थे। वहाँ अब सर्वत्र उनके गुणों की चर्चा होती है। उनका यश-सौरभ चतुर्दिक में फैल जाता है, सत्संगति की महिमा अपूर्व है।

मूल—एहो सुमन समै रखेरहो पिक डाल ।
आप बिसाल रसाल हो एऊ बैन रसाल ॥
एऊ बैन रसाल मधुर सुर साज सजैंगे।
जाको देखि समाज सबै द्विजराज लजैंगे॥
बरनै दीनदयाल महा महिमा महि लेहो ।
पै वह काग अभाग दाग गुनि तजिये एहो॥ १८॥

शब्दार्थ—एऊ = ये भी बैन = ( वचन ) बाणी। रसाल = ( १ ) आम, ( २ ) रसीले। मधुर सुर-साज सजैंगे = मधुर ( पंचम ) स्वर से गाएँगे। महि = पृथ्वी में। दाग = कलंक।

भावार्थ—हे सखे, बौर आते समय कोकिल को अपनी डाल पर बैठाये रक्खो। तुम स्वयं बड़े रसिक हो और इनका गाना भी बड़ा श्रुतिप्रिय होता है। जब ये तुम्हारी डाली पर बैठ कर पंचम स्वर से मधुर राग अलापेंगे उस समय इनका समाज देखकर बड़े बड़े पक्षी लज्जित हो जायँगे। सारांश यह

कि कोकिल को आश्रय देने से पृथ्वी में तुम्हारी बड़ी भारी महिमा फैल जायगी। किंतु देखो, इस अभागे कौए को अपने लिये कलंक समझ कर छोड़ दो।

तात्पर्य—अपनी समृद्ध दशा में गुणवानों को आश्रय देने से यश ही फैलता है; पर दुर्जनों की संगति का पूर्ण बहिष्कार कर दिया जाय तब। अन्यथा सारा गुड़ गोबर हो जाता है।

मूल—ऐसी संगति रावरे संग सजै न रसाल।
कागन के गन ये तुमै घेरि रहे इहि काल॥
घेरि रहे इहि काल कहा कुसुमाकर आये।
रसहु सुगंध समेत वृथा तुम देत बहाये॥
बरनै दीनदयाल दई गति भई अनैसी।
कोकिल कीर मलिंद तीर नहिं संगति ऐसी॥ १६॥

शब्दार्थ—कुसुमाकर=वसंत ऋतु। अनैसी=(अनिष्ट) बुरी। गति=दशा। कीर=सुग्गा। मलिंद=भ्रमर। तीर=पास।

भावार्थ—हे आम्रवृक्ष, इस समय वसंत ऋतु के आने पर भी तुम्हें ये कौए क्यों घेरे हुए हैं? देखो, तुम्हारे साथ ऐसे लोगों की संगति अच्छी नहीं लगती। इन अरसिकों को आश्रय देकर तुम अपनी सुगंध और रस को व्यर्थ ही बर्बाद कर रहे हो। हे दैव, आज इस आम की क्या दुर्दशा हो गई है। इसकी संगति ऐसी है कि इसकी शोभा बढ़ानेवाले कोयल, तोते, भौंरे आदि इसके पास नहीं फटकते।

तात्पर्य—यह किसी ऐसे व्यक्ति के प्रति उपदेश है जो अपने ऐश्वर्य की वृद्धि के समय गुणवानों का साथ न करके दुर्जनों की संगति कर अपने धन को

पानी की तरह बुरे कामों में बहा देता है। दुष्ट लोग तो ऐसे ही व्यक्तियों को घेरे रहते हैं, और उनका धन, यश सब कुछ लुटवाकर ही पीछा छोड़ते हैं, अतएव धनवान लोगों को ऐसे लोगों से सचेत रहना चाहिये, और गुणवान एवं कलावान व्यक्तियों की संगति करनी चाहिये जिनके द्वारा यश फैले।

मूल—जानै नहिं तव माधुरी मंद मरंद सुगंध।
हे रसाल अज, कूट, कपि, कोल, क्रमेलक अंध॥
कोल क्रमेलक अंध फूल फल मूल विनासक।
साख विदारनिहार दुखद दुतिग्रासक त्रासक॥
बरनै दीनदयाल रसज्ञ सिलीमुख मानैं।
महामीत महि माँह प्रीति महिमा तव जानैं॥ २०॥

शब्दार्थ—मरंद=मकरंद। अज=बकरा। कूट=टूटे सींग वाला बैल। कोल=सुअर। क्रमेलक=ऊँट। अंध=उल्लू। साख विदार-निहार=डालें तोड़ने वाला। दुतिग्रासक=द्युति (कांति) को नष्ट करने वाले। त्रासक=डरानेवाले, भयावने। रसज्ञ=रस को जानने वाला, रसिक। सिलीमुख=(शिली+मुख) भौंरा। मीत=(सं० मित्र, प्रा० मित्त) दोस्त।

भावार्थ—हे आम्रवृक्ष! ये बकरा, बैल, बन्दर, बाराह, ऊँट और उल्लू तुम्हारे फल फूल और मूल को नाश करने वाले हैं, तुम्हारी डालों को तोड़ कर तुम्हें दुःख देते हैं, तुम्हारी शोभा नष्ट करते हैं और बड़े भयावने हैं। ये मूढ़ तुम्हारी माधुरी और मकरंद की मन्द सुगंध को नहीं जानते। केवल भौंरा ही रसज्ञ है। अगर इस पृथ्वी में कोई तुम्हारा मित्र है तो वह रसज्ञ भौंरा ही। वही तुम्हारी प्रीति की महिमा को अच्छी तरह से जानता है।

तात्पर्य—साहित्य, संगीत, चित्रकला आदि की बारीकियों को समझना हर एक ऐरे गैरे का काम नहीं है। कोई विशेष कलामर्मज्ञ सहृदय रसिक ही उसका वास्तविक तत्व जान सकता है।

मूल—सुनिये कल कोमल कलित हैं सद सुखद रसाल।
ये सुक पिक सारंग हैं सोभा-करन बिसाल॥
सोभा-करन बिसाल डाल सेवैं तव हित सों।
चोंच चरन के घाय पाय नहिं दुखिये जितसों॥
बरनै दीनदयाल चूक मन मैं जनि गुनिये।
जानि मधुर सुखदानि बानि बर इनकी सुनिये॥ २१॥

शब्दार्थ—कल=कलरव, कोलाहल। कलित=शोभित। सद=(सत्) अच्छे। सारंग=पपीहा, चातक।

भावार्थ—हे सुखदायी सुन्दर शोभा-सपन्न आम, ये तोते, कोकिल और चातक तुम्हारी शोभा को बढ़ानेवाले हैं, और प्रेम से तुम्हारी डाल पर बैठते हैं, अतः इनकी कल-काकली को सुनो। इनके चरण और ठोरों के आघात से चित्त में दुःख मत मानो। अपने मन में इनके अपराधों को मत स्थान दो, प्रत्युत श्रुतिमधुर और सुखदायी जान कर इनकी कल-काकली को ध्यान से सुनो।

तात्पर्य—जिनसे हमारी शोभा बढ़ती है, जो हमारी भलाई की ही चिंतना किया करते हैं, उनसे यदि कुछ अपराध भी बन पड़े तो उस पर ध्यान नहीं देना चाहिए। उनके दोषों को भूल कर उनके गुणों का समादर करना चाहिए।

(कदली)

मूल—रंभा! झूमत हौ कहा थोरे ही दिन हेत।
तुमसे केते ह्वै गए अरु ह्वै हैं इहि खेत॥
अरु ह्वै हैं इहि खेत मूल-लघु साखा-हीने।
ताहू पै गज रहै दीठि तुमरे प्रति दीने॥
बरनै दीनदयाल हमैं लखि होत अचंभा।
एक जन्म के लागि कहा झुकि झूमत रंभा॥ २२॥

शब्दार्थ—रंभा=केला। खेत=( क्षेत्र ) स्थान। दीठि दीने रहै=देखता रहता है, उजाड़ने की घात में लगा रहता है। अचंभा=( सं०—असंभव ) आश्चर्य।

भावार्थ—हे कदली वृक्ष, अपने इस क्षणभंगुर जीवन के आनन्द में क्या उन्मत्त हो रहे हो। इसी खेत में छोटी जड़वाले शाखाहीन तुम ऐसे न जाने कितने कदली-वृक्ष हो चुके और आगे भी होंगे। एक तो तुम स्वयं शाखाहीन और कमज़ोर जड़वाले हो दूसरे प्रतिदिन हाथी की नज़र तुम पर पड़ी ही रहती है ( न जाने कब उखाड़ डाले ) हे कदली वृक्ष, हमें यह देख कर बड़ा आश्चर्य होता है कि तुम केवल इस जन्म के क्षणिक वैभव के उल्लास से ही उन्मत्त हो रहे हो।

तात्पर्य—मनुष्य को क्षणभंगुर जीवन पर इतराना न चाहिए।

मूल—रंभा-बन ! तुम निज बिखे राखि गजन के ग्राम।
चहत कुसल फल फूल को तिन खलतें बसु जाम॥
तिन खलतें बसु जाम गुनत रखिबो दल अपनो।
साखा राखै कौन मूल हू ह्वै है सपनो॥
बरनै दीनदयाल बात यह बड़ी अचंभा।
बैरिन को सहवास राखि सुख चाहत रंभा॥ २३॥

शब्दार्थ—रंभा=कदली। निज बिखे=( निजविषये ) अपने में। ( "विषये" अधिकरण का चिह्न है )। गजन के ग्राम=हाथियों के समूह। बसु=आठ। जाम=( याम ) पहर। बसुजाम=आठों पहर, दिनरात। गुनत =विचार करते हो। दल=पत्ता, पत्र। सहबास=साथ।

भावार्थ—हे कदलीवन, तुम अपने में हाथियों का समूह रख कर (हाथियों के समूह के साथ रह कर ) दिन-रात उन दुष्टों से अपने फल-फूलों की कुशल

चाहते हो; और उनसे अपने पत्तों की रक्षा करना चाहते हो ? ( यह तुम्हारी बड़ी भारी भूल है ) । उनसे शाखा इत्यादि की रक्षा तो क्या होगी, किन्तु तुम्हारी जड़ भी स्वप्न हो जायगी । ( पत्ते और खंभे तो खाही जाएंगे साथ ही जड़ भी उखाड़ डालेंगे ) । हे रंभा, यह बड़े अचंभे की बात है कि तुम बैरी को साथ रखकर भी सुख चाहते हो ।

तात्पर्य—शत्रु को पड़ोस में रखना और सुखी रहना ये दोनों आश्चर्य-जनक बातें हैं । शत्रु को संग में रखकर कुशल क्षेम चाहना तो आकाश-कुसुम सदृश है । उनसे अपने पक्षवालों की रक्षा करना तो दूर, अपना ही बचाव करना स्वप्नवत् है । सुखाभिलाषी जन शत्रु के सहवास से सुख पा नहीं सकता।

( पलास )

मूल—दिन द्वै पाय बसंत मद फूल्योकहा पलास ।
ग्रीखम भीखम सीस पै नहिं लाली की आस ।।
नहिं लाली की आस फूल सब तेरे झरिहैं ।
पीछे तोहि न दली ! अली कोउ आदर करिहैं ।।
बरनै दीनदयाल रहो नय कोमल किन ह्वै ।
ये नख नाहर-रूप रहैंगे तेरे दिन द्वै ।। २४ ।।

शब्दार्थ—पलास=ढाक, टेसू । लाली=लाल रंग । दली=दल ( पत्ते ) वाला वृक्ष अथवा पुष्प । अली=भौंरे । नम=नम्र, विनीत । नख-नाहर रूप=सिंह के नाखूनों के सदृश लाल । ( पलाश का फूल लाल होता है ) ।

भावार्थ—हे पलाश, थोड़े दिन के लिये बसंत ऋतु पाकर अभिमान में क्या फूला है । देख, भयंकर ग्रीष्मऋतु तेरे सिर पर आ पहुँची है ( अत्यन्त सन्निकट है ) । तब तेरे ये सब फूल झड़ जाएंगे और इस लाली की कोई आशा नहीं रहेगी । तब हे वृक्ष, भौंरे भी तेरा आदर नहीं करेंगे । तेरा यह

लाल लाल रंग दो चार ही दिन रहेगा, अतः जबतक है तबतक नम्रता से झुककर क्यों नहीं रहता ।

तात्पर्य—मनुष्य को यौवन-धन-सम्पत्ति के मद में भूल न जाना चाहिये। ये सब पदार्थ अनित्य हैं, नाशमान् हैं। इन पदार्थों के नष्ट हो जाने पर कोई पूछता भी नहीं। सब सामर्थ्य, सारा प्रभाव न जाने वृद्धावस्था के आते ही कहाँ काफूर हो जाता है। अतः अपने क्षणिक बल-वैभव के समय में सबके साथ नम्रता का व्यवहार करना ही श्रेयस्कर होता है।

मूल—लीने कंटक बन करै बिरही-मन-भख त्रास ।
याही तैं तेरो कविन राख्यो नाम पलास ॥
राख्यो नाम पलास लाल मुख कोपित धारो ।
लह्यो न एक कलंक बिना कछु तातें कारो ॥
बरनै दीनदयाल संग सुक हू को कीने ।
माधव सों मिलि मूढ़ तऊ छल कंटक लीने ॥ २५ ॥

शब्दार्थ—कंटक=( १ ) बंसी, ( २ ) बंशी के आकार के फूल । पलास= ( सं०, पल=मांस+अश=खानेवाला ) मांसभोजी । बिना= सिवाय । सुक=( १ ) सुग्गा, ( शुकदेव मुनि । माधव=( १ ) वंसत, ( २ ) श्रीकृष्ण भगवान् ।

भावार्थ—हे पलास ! कँटिया ( कँटिया के आकार के पुष्प ) लिये हुए बन में तुम वियोगियों के मछली रूपी मनों को सताते हो, इसी से कवियों ने तुम्हारा नाम पलाश ( मांसभोजी ) रखा है। पलास इसी से नाम रखा है कि तुम्हारा मुख क्रुद्ध मनुष्य का सा लाल लाल है, परन्तु सिवाय एक कलंक के और कुछ न मिला, इसी से कुछ काला है। ( टेसू का आधा भाग काला होता है।) दीनदयाल जी कहते हैं कि शुक का संग भी किया और वसंत से भी

मिला, हे मूढ़, तब भी तू छल का काँटा लिये है। ( शुकदेवकृत भागवत भी पढ़ी और कृष्ण के भक्तों का रूप भी बनाया, तब भी छल कपट )।

तात्पर्य—बड़ों के संग से भी दुष्टों की प्रकृति में परिवर्तन नहीं होता।

( सालमली )

मूल—किन किनकी मति नहिं छली सालमली करि अंध।
गीधे गीध अमिख डली जानत अली सुगंध ॥
जानत अली सुगंध भली लाली सुक भूले।
जानि अँगार चकोर ओर चहुँ तें अनुकूले ॥
बरनै दीनदयाल लखै गति को छिन छिन की।
यह छलरूप लखाय छली नहिं मति किन किन की ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—सालमली=( शाल्मली ) सेमर। गीधे=ललचाने लगे। अमिख=( आमिष ) मांस।

भावार्थ—हे सेमल, तूने अंधा कर करके न जाने किस किस की बुद्धि को धोखा नहीं दिया। गिद्ध मांस का टुकड़ा समझ कर तुझ पर लालायित हुए, भौंरों ने सुगंधित पुष्प समझा, सुग्गे लाल फल समझ कर छले गये, चकोर लाल लाल अँगार ( जलता हुआ कोयला ) समझ कर चारों ओर से तुझ पर टूटे पड़े। तेरे क्षण क्षण के रूप परिवर्त्तन को कौन जानता है? अपना यह कपट-वेष दिखा कर तूने किस किस की बुद्धि नहीं चकराई।

तात्पर्य—पाखंडी लोग सज्जनों का सा वेष धारण कर न जाने कितने भोले भाले लोगों को छल लेते हैं।

मूल—सेमल! बिना सुगंध तू करत मालती रीस।
छलि रे भ्रम दै सुकन को, नहिं जैहै हरि सीस ॥
नहिं जैहै हरिसीस भूलि जिन लखि निज लाली।
जैहै बेगि बिलाय ल्याय मति मद को खाली ॥

बरनै दीनदयाल जगत में बिन गुन जे खल।
करैं वृथा अभिमान जथा तरु मैं तू सेमल ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—लाली=लाल रंग। वेगि शीघ्र। बिलाय जैहै=नष्ट हो जायगा। मद=अभिमान। खाली=व्यर्थ। खल=दुष्ट। जथा=( यथा ) जिस प्रकार।

भावार्थ—हे सेमल, तू बिना सुगंध के मालती की बराबरी करना चाहता है। अरे छलिया, सुग्गों को भुलावा देकर तू भगवान् के सिर पर नहीं चढ़ सकता। ( सुग्गों को अपने रूप रंग से छल कर अपनी ओर आकृष्ट भले ही कर ले पर भगवान् के सिर पर तुझे कोई न चढ़ायेगा )। अपनी इस लालिमा को देख कर भूल मत जा, वृथा अभिमान को अपने मन में स्थान मत दे। तेरा यह रूप रंग तो अचिर है। शीघ्र ही नष्ट हो जायगा। इस पर घमंड करना निष्फल है। अरे सेमल, इस संसार में जो दुष्ट बिना गुणों के वृथा अभिमान करते हैं वे वैसे ही नष्ट हो जाते हैं जैसे वृक्षों में ( बिना गुण के घमंड करने वाला ) तू।

तात्पर्य—गुणों से हीन घमंडी व्यक्ति अपने बाहरी आडंबर से अपनी गुणवत्ता सिद्ध कर साधारण लोगों में थोड़े समय पर्यंत भले ही अपनी धाक जमा ले पर भंडाफोड़ होते ही उसका सब उपार्जित यश क्षणमात्र में मिट्टी में मिल जायगा। सारांश यह कि सच्ची प्रतिष्ठा बिना वास्तविक गुणों के हो नहीं सकती।

( आक )

मूल—तो मैं बहु ऐगुन भरे अरे आक मतिहीन।
कहा जानि केहि हेत तें हर तोसों हित कीन ॥
हर तोसों हित कीन तऊ उनकेरि बड़ाई।
तू मति मोहै मूढ़ मानि अपनी प्रभुताई ॥

बरनै दीनदयाल बात सुनि भाखत जो मैं।
सिव की दाया एक आक बहु ऐगुन तो मैं ॥ २८ ॥

शब्दार्थ—हेत=( हेतु ) कारण। हर=महादेव। हित=प्रेम।

भावार्थ—अरे निर्बुद्धि आक, तुझमें अनेक अवगुण भरे हैं। न जाने किस कारण भगवान् शंकर ने तुझसे प्रेम किया। ( महादेव जी की पूजा में आक के पुष्प चढ़ाने का भी महात्म्य है। ) हाँ, यदि शिवजी ने तुझसे प्रेम किया भी तो यह उन्हीं की बड़ाई है। हे मूर्ख, इसे तू अपना बड़प्पन समझ कर घमंड मत कर। हे आक, जो मैं कहता हूँ सो ध्यान से सुन। एक शिवजी का कृपापात्र होने के अतिरिक्त तुझमें अवगुणों की ही संख्या अधिक है।

मूल—नाहीं कछु फल फूल तो बढ्यो नाम मंदार।
ताप गयो किन पथिन को सेवत तुमरी डार॥
सेवत तुमरी डार कौन विश्राम लह्यो है।
नहिं पराग मकरंद मलिंदन भूलि रह्यो है॥
बरनै दीनदयाल खगौ हु न आवत पाहीं।
केवल छलमै नाम बढ्यो कहुँ बासहु नाहीं॥ २९ ॥

शब्दार्थ—नाम बढ्यो=प्रसिद्ध हुआ। मन्दार=( १ ) आक, ( २ ) कल्पवृक्ष। ताप=गर्मी, दुःख। पराग=पुष्परज। मकरंद=पुष्परस। मलिंद =भौंरा। खगौहु=पक्षी भी। पाहीं=पास। बास=सुगंध।

भावार्थ—हे मन्दार, तुझमें फल फूल कुछ भी नहीं हैं तौ भी मन्दार ( कल्पवृक्ष ) नाम से प्रसिद्ध है। कह तो तेरी डाल की छाया के नीचे किन पथिकों को शीतलता मिली, और किन किन को आराम मिला? ( कल्पवृक्ष की सेवा करने से सब ताप-दुःख दूर हो जाते हैं और सुखशान्ति प्राप्त होती है। ) तुझमें न तो पराग है, न मकरंद है, न भौंरे ही कभी भूल कर तेरे पास फटकते

हैं, और तो और पक्षी तक तेरे पास नहीं आते। सुगंध तक तो तुझ में है नहीं। केवल धोखे से तू मन्दार ( कल्पवृक्ष ) नाम से प्रसिद्ध है।

तात्पर्य—बड़ा आदमी कहलाने से अथवा महापुरुष से नामसाम्य होने से ही कोई वस्तुतः बड़ा नहीं हो जाता। महापुरुष होने के लिये आत्मत्याग, उदारता, सहनशीलता, परोपकारिता, गुणग्राहकता आदि गुणों की आवश्यकता है।

मूल—तजि रितुपति की माधवी आयो इहँ सारंग।
आक आदरै ताहि किन दुलभ याको संग॥
दुर्लभ याको संग राखि जस लै ग्रीखम भरि।
ये तो पत्र प्रसून जाहिंगे पावस में सरि॥
बरनै दीनदयाल कहै को दैवी गति की।
तोपै भ्रमै मलिंद माधवी तजि रितुपति की॥ ३०॥

शब्दार्थ—रितुपति=( ऋतुपति ) बसन्त। माधवी=वासंती लता। इहँ=यहाँ। सारंग=भ्रमर। प्रसून=फूल। पावस=वर्षाऋतु। सरि जाहिंगे=सड़ जायेंगे। मलिंद=भौंरा।

भावार्थ—हे आक, यह भौंरा वसंत ऋतु की माधवी लता को छोड़कर तुम्हारे पास आया है इसका आदर क्यों नहीं करते? इसका सत्संग दुर्लभ है, अतः इसको ग्रीष्म ऋतु भर अपने साथ रखकर यश क्यों नहीं लूटते। तुम्हारे ये पत्र, पुष्प तो वर्षा ऋतु के आते ही सड़ जायेंगे, ( केवल यश साथ रहेगा। ) भाग्य की गति भी बड़ी विचित्र होती है जिसके प्रभाव से यह भौंरा भी वासंती लता को छोड़ कर तुम्हारे पास भटक रहा है।

( बंस )

मूल—तो मैं! बंस न सार कछु बकिबो हू अभिमान।
तातें मलै न तोहि को बिरचै आपु समान॥

बिरचै आपु समान न तो हिय सून निहारत।
तेरे पास हुतास तासु तें तिनहूँ जारत॥
बरनै दीनदयाल दोख तिनको न कहौं मैं।
गंधसारै का करै सार है बंस न तो मैं॥ २१॥

शब्दार्थ—बंस=(वंश) बाँस। सार=तत्व, बल। बकिबो हू=बकना ही। तातें=इसीलिये। मलै=(मलय) चन्दन। तातैं मलै न तोहि को बिरचै आपु समान=मलय पर्वत के सभी वृक्ष, चन्दन के संसर्ग से उसीकी तरह सुवासित हो जाते हैं, किन्तु बाँस के वृक्ष में चन्दन की सुगंध का कुछ भी असर नहीं होता। हिय=हृदय। तो हिय सून निहारत=तेरे हृदय को शून्य देखता है, तुझे सहृदयता से हीन समझता है। (बाँस की लकड़ी भीतर से खोखली होती ही है)। हुतास=(हुताश—हुत=हवन किये हुए पदार्थ को + अश=खानेवाला) अग्नि। गंधसार=चन्दन।

भावार्थ—हे बाँस, तुझ में कुछ तत्व नहीं है, केवल बक बक करने का ही घमन्ड करता है। तेरे हृदय को सारहीन जान कर (तेरे भीतर खोखलापन जान कर) ही तो चन्दन (अन्य वृक्षों की भाँति) तुझे अपने समान नहीं बनाता। तेरे पास अग्नि है (बाँस की रगड़ से बाँसों के बन में आग लग जाती है) इसीसे तू उनको भी भस्म कर देता है। पर (उन्होंने जो तुझे अपने ऐसा नहीं बनाया तो) हे बाँस इसमें उनका क्या दोष है? तुझमें ही कुछ सार नहीं है चन्दन बेचारा क्या करे।

तात्पर्य—सत्संगति के प्रभावित होकर दुर्जन भी सज्जन हो जाते हैं। पर जिनका हृदय सारहीन होता है उनपर यदि सत्संग का कुछ भी असर न पड़े तो इसके लिये सत्संगति क्यों दोषी मानी जाय। इसी प्रकार विद्वानों के समाज

में बैठने से मूर्ख भी विद्वान् बन ही जाता है, पर जो वज्रमूर्ख हो, हृदयहीन हो, वह यदि विद्वान् न हो सका, भावुक न हो सका, तो विद्वत्समाज का क्या दोष ?

( दाड़िम )

मूल—दारों तुम या बाग मैं कहा हँसो मुख खोलि ।
दिना चार की औधि मैं लीजै नैक कलोलि ॥
लीजै नैक कलोलि दसन को जो यह लाली ।
जैहै कहूँ बिलाय, होयगी डाली खाली ॥
बरनै दीनदयाल लगे खग हैं दिसि चारों ।
भीतर काटत कीट कौन रंग रातो दारों ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—दारों=दाड़िम । कहा हँसो मुख खोलि=दाड़िम या अनार जब ख़ूब पक जाते हैं तो फट जाते हैं, उनके भीतर लाल लाल दाने होते हैं जिनकी उपमा दाँतों से दी जाती है । नैक=थोड़ा । कलोलि लीजै=क्रीड़ा कर लो; खेल कर लो, मौज कर लो । बिलाय जैहै=नष्ट हो जायगी । औधि= अवधि, समय । कौन रंग रातो=किस रंग से रंग जाने के कारण लाल हो, किस रंग में भूले हो ।

भावार्थ—हे दाड़िम, तुम इस बाग में मुँह खोल कर ( निःशंक भाव से ) क्या हँसते हो । थोड़े ही दिनों का तुम्हारा जीवन है, उतने ही समय तक मौज कर लो । फिर तुम्हारे दाँतों की यह लाली नष्ट हो जायगी और तुम्हारे फलों के झड़ जाने के कारण इस वृक्ष की डाली भी खाली हो जायगी । हे दाड़िम, तुम किस रंग में भूले हो ? देखते नहीं, चारों ओर से पक्षी तुम्हारे ऊपर घात लगाये पैठे हैं, और भीतर से कीड़े तुम्हें खा रहे हैं ।

तात्पर्य—मनुष्य इस संसार रूपी वाटिका का फल है। एक ओर से मानसिक चिन्ता रूपी कीट उसके जीवन को दुःखमय बनाए हैं, दूसरी ओर से शारीरिक संताप रूपी पक्षी उसके शरीर को क्षीण करते जा रहे हैं। एक फल की भाँति मनुष्य की जीवनमर्यादा भी थोड़ी है, अतः सांसारिक आनंद में मग्न होकर अपने कर्तव्य को भूल जाना महा मूर्खता है।

( बबूर )

मूल—दुख दै जिन इन पथिन को एरे क्रूर बबूर।
जगकंटक कंटकन तें करि राख्यो मग घूर॥
करि राख्यो मग घूर दूर के थकित बिचारे।
छाय पाय पछिताय लगे फल फूल नकारे॥
बरनै दीनदयाल दया करके कछु सुख दै।
हिय कठोर अति घोर अंत बनि कोल्हू दुख दै॥ ३३॥

शब्दार्थ—क्रूर=क्रूर, निष्ठुर। जगकंटक=संसार को दुःखदायी। मग=मार्ग। घूर=बेकाम स्थान। छायपाय पछिताय=छाया को पाकर भी पछताते हैं; क्योंकि एक तो बबूल की छाया कितनी, दूसरे उसमें भी काँटे बिखरे रहते हैं। फल फूल नकारे लगे=फल फूल भी अच्छे न लगे।

भावार्थ—अरे निष्ठुर बबूर, तू इन पथिकों को दुःख मत दे। देख तो, संसार को दुःख देनेवाले काँटे बिखेर कर तूने सारा रास्ता बिगाड़ दिया है। पथिक बेचारे दूर से तेरी छाया को देख कर आते हैं पर पास आते ही उस कंटकाकीर्ण स्थल को विश्राम करने योग्य न पाकर पछताते हैं। फल फूल भी तुझमें बेकाम होते हैं, कुछ तो दया करके उन लोगों को सुख दे। तेरा हृदय बड़ा कठोर है। तुझे इतना दुःख देने पर भी संतोष नहीं होता। अंत में ( नष्ट

हो जाने पर, या सूख जाने पर भी ) तू कोल्हू बन कर दूसरों को पीस कर दुःख देता है।

तात्पर्य—दुर्जन जीते जी तो लोगों को दुःख देते ही हैं, मरने पर भी ऐसी अड़चनें डाल जाते हैं कि लोगों को चैन नहीं मिलता; तुलसीदासजी ने भी कहा है:—जिमि हिम उपल कृषीदलि गरहीं।

( करीर )

मूल—धारयो दल न करीर ! तुम बहु रितुराजन पाय।
यहै त्याग दृढ़ देखि कै प्रिय कीनो जदुराय ॥
प्रिय कीनो जदुराय रमे तव कुंजनि माहीं।
और सबै तरुराज ताहि दिसि देखत नाहीं ॥
बरनै दीनदयाल ऊँच नहिं नीच बिचारयो।
जो जग धरयो बिराग ताहि हरि हित सों धारयो ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—करीर=बिना पत्ती की काँटेदार एक झाड़ी। दल=पत्ते। जदुराय=यदुवंशियों में श्रेष्ठ, श्रीकृष्ण।

भावार्थ—हे करील, अनेक वसंत ऋतु पाने पर भी तुमने पत्ते नहीं धारण किए। तुम्हारे इसी दृढ़ त्याग को देखकर श्रीकृष्ण ने तुमको अपना प्रिय बनाया, और तुम्हारी कुंजों में रमण किया। और भी अनेक सुंदर वृक्ष थे पर श्रीकृष्ण ने उनकी ओर ताका भी नहीं। तुमने संसार से वैराग्य ले लिया इसी से ऊँच नीच का कुछ भी विचार न कर श्रीकृष्ण भगवान् ने तुमसे प्रेम किया।

तात्पर्य—दृढ़ त्यागी और संसार से विरक्त पुरुष ही भगवान् का कृपापात्र हो सकता है।

( असोक )

मूल—सेवत तुमैं असोक ! यह माली गयो बुढ़ाय।
अधिकै कियो ससोक तुम फोकट नाम सुनाय ॥

फोकट नाम सुनाय नहीं कछु काम सरै है।
लगे बामपद* अहो फूल अभिराम धरै है॥
बरनै दीनदयाल सरल को कछू न देवत।
यों ही आसा लागि तुमैं निरफल को सेवत॥ ३५॥

शब्दार्थ—फोकट=(देशज) व्यर्थ, निस्सार। काम सरना=काम निकलना। बाम-पद=स्त्री के चरण। अभिराम=सुन्दर।

भावार्थ—हे अशोक, तुम्हारी सेवा करते करते यह माली बुड्ढा हो चला है, पर तुमने व्यर्थ ही अपना 'अशोक' (शोक से रहित) नाम सुनाकर इसको और भी 'सशोक' (शोक सहित) कर दिया। तुमसे किसी का कुछ लाभ नहीं होता। बड़े आश्चर्य की बात है कि तुम स्त्रियों के लात खाकर तो बड़े सुन्दर फूल धारण करते हो, (प्रसन्न हो जाते हो), पर सीदे साधे लोगों को कुछ भी नहीं देते। वे झूठी आशा में लगकर तुम्हारी सेवा करते हैं जिसका उन्हें कोई फल (लाभ) नहीं होता।

तात्पर्य—जो लोग केवल "नाम बड़े और दर्शन थोड़े" होते हैं उनकी सेवा से कुछ लाभ नहीं होता। ऐसे लोगों से भले मनुष्यों का उपकार भले ही न हो, किन्तु चलते पुर्जे और धूर्त लोग टेढ़ी सीधी तरह से जिस प्रकार भी हो अपना काम निकाल ही लेते हैं।

(चंपक)

मूल—धारे खेद न रहिय चित हे चंपक कमनीय।
कहा भयो अलि मलिन हिय जौ नहिं आदर कीय॥
जौ नहिं आदर कीय मानि तेहिं मंद अभागी।
कुटज करीर कुसाखि कुसुम को भो अनुरागी॥

*विशेष—अशोक के विषय में कहा जाता कि यह सौभाग्यवती युवतियों के ही पद-स्पर्श से फूलता है।

बरनै दीनदयाल नील नीरद सम कारे।
कुसल रहैं वे केस कुसेसै-नैनि सुधारे ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—कमनीय=सुन्दर। कुटज=कुरैया। कुसाखि=कुवृक्ष। भो=हुआ। नीरद=बादल। केस=(केश) बाल। कुसेसै=(कुशेशय) कमल। कुसेसै-नैनि=कमलनयनी।

भावार्थ—हे सुन्दर चंपा, यदि मलिन हृदयवाले भ्रमर ने तुम्हारा आदर नहीं किया तो क्या हुआ? इसका खेद अपने मन में मत करो। वह तो कुरैया, करील आदि बुरे वृक्षों के फूलों पर आसक्त हुआ है। अगर तुम्हारा सम्मान नहीं करता तो उसी को मंद बुद्धि और अभागा समझो। कमलनयनी युवतियों के काले बादल के समान वे बाल कुशल से रहें जिन्हें वे चंपक के फूलों से सँवारती हैं।

तात्पर्य—गुणवान् का आदर तो गुणग्राही करते ही हैं, यदि किसी कपटी ने नहीं किया तो क्या।

( निम्ब )

मूल—एकै ऐगुन देखि कै नींब न तजो सुजान।
याकी कटुता नहिं गुनो करि बहुगुन पहिचान॥
करि बहुगुन पहिचान प्रथम सब रोग बिनासै।
जो कोउ सेवै याहि ताहि पीछे सुख भासै॥
बरनै दीनदयाल छाँह मुद देति अनेकै।
यह सीतलता खानि तजो कटु देखि न एकै॥ ३७॥

शब्दार्थ—ऐगुन=(अवगुण) बुराई, दोष। सुजान=चतुर। (संबोधन में है)। गुनो=विचार करो। भासै=प्रकट होता है।

भावार्थ—हे चतुर, केवल एक अवगुण देखकर नीम को त्याज्य मत समझो। इसके असंख्य गुणों को पहिचानकर इसकी कटुता का विचार

मत करो। सबसे मुख्य गुण तो इस में यह है कि यह सब रोगों को दूर करता है। जो कोई उसका सेवन करता है उसे उस समय तो बुरा मालूम पड़ता है पर पीछे इसके लाभ प्रकट होते हैं। इसके वृक्ष की छाया बड़ी सुखद होती है, यह शीतलता की तो खान ही है ( इसके सेवन से ताप-जन्य सभी विकार दूर हो जाते हैं ), और भी अनेक प्रकार की आनन्द देती है। अतएव केवल इसकी कटुता के कारण ही इसको हेय मत समझो।

तात्पर्य—किसी परोपकारी सर्वसद्गुण-संपन्न व्यक्ति का केवल उसकी बाहरी कठोरता के ही कारण निरादर नहीं करना चाहिए। ऐसे महात्माओं का व्यवहार भले ही रूखा हो, पर ये सदा दूसरों का हित ही किया करते हैं।

( कपास )

मूल—जग मैं गुनमय करि तुमैं बरनैं सकल महान।
कहा भयो जो नहिं कियो चपल एक अलि मान॥
चपल एक अलि मान कियो नहिं कछू नसायो।
हे कपास सहि खेद धन्य परछेद दुरायो॥
बरनै दीनदयाल स्याम याको गनि ठग मैं।
मधुप मंद किमि जान तुमैं, बुध जानैं जग मैं॥ ३८॥

शब्दार्थ—गुन=( १ ) सूत, तागा, ( २ ) गुण। खेद=कष्ट। परछेद=दूसरे के छिद्र, दूसरे के दोष। ठगमै=ठगमय, धूर्तता पूर्ण, ढोंगी।

भावार्थ—हे कपास, संसार में सब महापुरुष तुम को गुणमय ( रेशों से बना हुआ ) कहते हैं। अगर एक चंचल भौंरे ने तुम्हारा मान नहीं किया तो क्या हुआ। इससे तुम्हारा तो कुछ नहीं बिगड़ा। हे कपास, तुम धन्य हो जो स्वयं कष्ट सह कर ( धुने जाकर ) पराये शरीर को ढँकते हो। पर यह

( भौंरा ) तो काला ( कपटी ) और धूर्त है । यह मंदबुद्धि भ्रमर तुम्हारे गुणों को क्या जाने ? बुद्धिमान् लोग ही तुम्हारा महत्व जानते हैं ।

तात्पर्य—सज्जन और गुणवान् व्यक्ति का सभी महापुरुष आदर करते हैं । जो व्यक्ति स्वयं कष्ट झेलकर दूसरे के दुःख दूर करता है, दूसरे के अपराध छिपा लेता है, वह व्यक्ति सम्मान क्यों न पावे ? ऐसे पुरुष संसार में धन्य हैं किन्तु कुछ ऐसे भी दुष्ट होते हैं जिनके साधुओं का आदर भी नहीं देखा जाता । पर ऐसे पुरुषों के आदर करने या न करने से साधुओं का कुछ बनता बिगड़ता नहीं ।

( तुम्बिका )

मूल—एरी घूरी तूमरी अहो धन्य तव भाग ।
मज्जति सुरसरि नीर मैं साधु प्रसाद प्रयाग ॥
साधु प्रसाद प्रयाग टूटि जब तें तू आई ।
तबतें भई सुरंग मलीन कुसंग बिहाई ॥
बरनै दीनदयाल छुटी कटुता सब तेरी ।
सुधरी संगति पाय घूर की तूमर एरी ॥ ३६ ॥

शब्दार्थ—घूरी=घूर, अर्थात् कूड़े कर्कट में पैदा हुई । तूमरी=तुंबी, तुम्बिका ( तितलौकी ) । मज्जित=स्नान करती है ।

भावार्थ—अरी कूड़ा कर्कट में पैदा होने वाली तुम्बी, तेरे धन्य भाग्य हैं जो तू साधुओं की कृपा से ( उनका कमंडल बनने के कारण ) प्रयाग जाकर गंगा जी के जल में स्नान करती है, जब से तू कूड़ा कर्कट में पैदा हुई लता से टूट कर आई और मलिन कुसंगति को छोड़ दिया तब से तेरा रंग बड़ा सुन्दर होगया है और तेरा सब कड़वापन दूर होगया है । अरी क्षुद्र तुम्बी ! सत्संगति पा करके तू भी सुधर गई है ।

तात्पर्य—साधु महात्माओं की संगति से नीच से नीच मनुष्य भी सुधर जाते हैं।

( गेंदा )

मूल—माली की सहि सासना सुनि गेंदे मति भूल।
बिन सिर दै पैहै नहीं वहै हजारे फूल॥
वहै हजारे फूल जौन सुरसीस चढ़ैगो।
दये आपनो आप अधिक तें अधिक बढ़ैगो॥
बरनै दीनदयाल किती तू पैहै लाली।
तेरे ही हित हेत देत सिख तोकों माली॥ ४०॥

शब्दार्थ—सासना = ( शासना ) ताड़ना। गेंदा = पुष्प विशेष। हज़ारे फूल = हज़ार पंखुड़ियों वाले बड़े बड़े फूल। बिन सिर दै = बिना सिर कटाये, बिना कलम कराये। ( कई फल फूलों के वृक्ष ऐसे होते हैं जो साल में एक बार कल्ले फूटने के पहिले छाँटने पड़ते हैं; ऐसा करने से फल फूलों का आकार भी बड़ा हो जाता है और स्वादिष्ट एवं सुगन्धित भी हो जाते हैं। हित हेत = भले के लिये। लाली = लालिमा ( सौंदर्य )।

भावार्थ—ऐ गेंदे सुन, माली की ताड़ना सह कर खिन्न मत हो। बिना कलम काटे तुझमें वे बड़े बड़े हज़ारे फूल नहीं लगेंगे जो देवताओं के सिरों पर चढ़ाये जाएँगे। जितना ही तू अपने आपको कटावेगा उतना ही अधिक बढ़ेगा। तब तेरी कितनी बड़ाई होगी। लोग तेरी प्रशंसा करेंगे। माली तेरी भलाई ही के लिये तुझे शिक्षा देता है, अतः इस बात से बुरा मत मान।

तात्पर्य—गुरुजन जो कुछ ताड़ना करते हैं वह किसी राग द्वेष से नहीं, वरन् हमारी भलाई ही के विचार से। गुरुजनों की ताड़ना ही के फलस्वरूप

लोग बड़े यशस्वी बन जाते हैं। अतएव उनकी ताड़ना से दुःखित नहीं होना चाहिये।

( गुलाब )

मूल—सुनिये मीत गुलाब ! अलि क्यों मन रहिहै रोकि।
रहत न धीरज रसिक चित कुसुमित कली विलोकि॥
कुसुमित कली विलोकि चहूँ दिसि भरत भाँवरी।
ताहि न कंटक बेधि करौ मति बिकल बावरी॥
बरनै दीनदयाल पालि हित अपनो गुनिये।
रस पराग जुत राग सुगंधहि दै जस सुनिये॥ ४१॥

शब्दार्थ—कुसुमित = खिली हुई। बिलोकि = देख कर। चहूँ दिसि भरत भाँवरी = चारों ओर चक्कर लगाता फिरता है। राग = अनुराग, प्रेम।

भावार्थ—हे मित्र गुलाब ! सुनो, तुम्हारी कली को प्रफुल्लित देखकर सहृदय व्यक्ति के मन में धैर्य रह नहीं सकता, फिर भौंरा अपने मन को कैसे रोक सकता है ? वह तुम्हारी कली को विकसित देखकर तुम्हारे चारों ओर चक्कर लगाता फिरता है, उसको काँटे चुभा कर उसकी मति को पागल और व्यथित मत करो। अपने ही लाभ का विचार करके उसकी रक्षा करो और प्रेम से रस, पराग और सुगंध का दान देकर उससे अपना सुयश सुनो।

मूल—नाहीं भूलि गुलाब ! तू गुनि मधुकर गुंजार।
यह बहार दिन चार की बहुरि कटीली डार॥
बहुरि कटीली डार होंहिगी ग्रीखम आए।
लुवैं चलैंगी संग अंग सब जैहैं ताए॥
बरनै दीनदयाल फूल जौलौं तौ पाहीं।
रहे घेरि चहुं फेरि, फेरि अलि ऐहै नाहीं॥ ४२॥

शब्दार्थ—मधुकर=भ्रमर। बहार=शोभा। ताए जैहैं=झुलस जाएँगे।

भावार्थ—हे गुलाब, भौंरे की गुंजार पर भूल मत। तेरी यह शोभा थोड़े ही समय तक रहेगी, ग्रीष्म-ऋतु के आते ही फिर तेरी शाखाएँ कँटीली हो जाएँगी, और साथ ही लुवें चलने लगेंगी जिससे तेरे अंग झुलसने लगेंगे। जब तक तेरे पास फूल रहेंगे तभी तक ये भौंरे चारों ओर से तुझको घेरे रहेंगे, फिर ( फूलों के नष्ट हो जाने पर ) पास नहीं आएँगे।

तात्पर्य—क्षणिक धन सम्पत्ति के समय अनेक चापलूस और खुशामदी लोग चारों ओर से इकट्ठा हो जाते हैं और जैसे बनता है अपना काम निकाल कर सब धन सम्पत्ति लूट खसोट लेते हैं। पर जब धनवान् के पास कुछ नहीं रह जाता, और धनाभाव के कारण उसको नाना प्रकार के कष्ट झेलने पड़ते हैं तब फिर कोई उसके निकट नहीं जाता, धीरे-धीरे सब खिसक जाते हैं।

( सामान्य कुसुम )

मूल—मौहै मति सुमना ! मना करौं बार ही बार।
महा छली है मधुप यह कहा करे इतबार॥
कहा करै इतबार बाहिरै भीतर कारो।
गनिकादिक में रमै चपल भरमै दिसि चारो॥
बरनै दीनदयाल लालची यह रस को है।
सुनि याकी धुनि मंद माधुरी तैं मति मोहै॥ ४३॥

शब्दार्थ—सुमना=( १ ) चमेली, ( २ ) सुन्दर मनवाली स्त्री। मधुप=( मधु ) ( १ ) पुष्परस ( २ ) ( शराब+प=पीनेवाला= ) ( १ ) भौंरा, ( २ ) शराबी। इतबार=( अरबी ) विश्वास। गनिका=( १ ) जूही, ( २ )

वेश्या। भरमै=( भ्रमै ) भटकता है। रस=( १ ) फूलों का रस, मकरंद; ( २ ) प्रेम।

भावार्थ—चमेली, मैं तुझे बारंबार मना करता हूँ कि तू इस भौंरे पर मुग्ध मत हो। तू इसका विश्वास क्या करती है? यह भौंरा महा छली है। बाहर से तो काला है ही, मन भी इसका काला ( कपटी ) है। यह बड़ा चंचल है, चारों ओर भटकता फिरता है और जूही आदिक अनेक फूलों में रमण करता है। यह तो तेरे मकरंद का अभिलाषी है, अतएव इसकी मंद मंद मधुर गूँज पर मुग्ध मत हो।

तात्पर्य—( यह अन्योक्ति किसी सुन्दर मनवाली मुग्धा नायिका को किसी मद्यप, छली नायक से सचेत करने के लिये कही गई है )। हे सुन्दर मनवाली, इस कपटी और शराबी की क्या प्रतीति! यह बड़ा ही चपल चित्त एवं वेश्या-गामी है। तुम्हें फुसलाने के लिये ही मीठी-मीठी बातें करता है अतः इसके कपट रूप पर मुग्ध मत होओ।

मूल—प्यारे करै गुमान जनि सुनि प्रसून! सिख मोरि।
तो समान इहि बाग में फूलि झरे हैं कोरि॥
फूलि झरे हैं कोरि बहोरि कितै बिनसैहैं।
या बहारि दिन चारि गये फिर ग्रीखम ऐहैं॥
बरनै दीनदयाल न करि सारंगहि न्यारे।
तो रस जाननिहार बड़े हित कारक प्यारे॥ ४४॥

शब्दार्थ—प्रसून=फूल। कोरि=( कोटि ) करोड़ों। कितै=कितने ही। बिनसैहैं=विनष्ट हो जाएँगे। सारंग=भौंरा। न्यारा=अलग।

भावार्थ—हे प्यारे फूल, मेरी शिक्षा पर ध्यान दो, अपनी इस शोभा पर घमंड मत करो। तुम्हारे समान तो करोड़ों फूल इस बाटिका में फूल-फूल कर झड़ चुके हैं, फिर भी कितने ही नष्ट होंगे। तुम्हारी यह शोभा थोड़े ही समय में नष्ट हो जायगी, और फिर वही भयंकर ग्रीष्म-ऋतु आ पहुँचेगी। अतएव हे प्यारे (जब तक तुम्हारी शोभा है तब तक) इस भौंरे को अलग मत करो, यह तुम्हारे रस को पहिचानता है और तुम्हारा बड़ा हितुवा है।

तात्पर्य—इस संसार में आकर न जाने कितने ऐश्वर्य-शाली पुरुष मर चुके हैं और न जाने कितने मरेंगे। अतएव अपने वैभव पर वृथा अभिमान न करके उसका सदुपयोग करना चाहिए। धन दौलत किसी के साथ तो जाती नहीं, अत: अपने प्रेमियों, गुणग्राहियों एवं अपने उपकारियों का पालन पोषण कर क्यों न उसे सार्थक कर लिया जाय।

मूल—सोहै नहिं सज सुमन ! तो अज ढिग नखरो नाज।
कौन आदरै, बलि, बिना अलि सुरसिक सिरताज॥
अलि सुरसिक सिरताज भाँवरी भरै भाव सों।
रस पराग अनुराग तासु चित लाग चाव सों॥
बरनै दीनदयाल खोलि दृग तेहि किन जोहै।
तो गुन को रिझवार एक यह सारँग सोहै॥ ४५॥

शब्दार्थ—सज = (सद्य प्रा० सज्ज) ताज़ा। सुमन = फूल। अज = बकरा। ढिग = पास। नाज नखरो = हाव भाव। बलि = बलि जाऊँ। भाव सों = प्रेम से। दृग = आँख। जोहै = देखता है। सारंग = भौंरा।

भावार्थ—हें ताज़े फूल, बकरे के सामने तेरी यह चटक मटक अच्छी नहीं लगती। मैं तेरी बलैया लूँ, रसिक-शिरोमणि भौंरे के अतिरिक्त कौन तेरा

समादर कर सकता है? वह तो सप्रेम तेरे पास चक्कर लगाता है, और तेरे मकरंद एवं पराग के प्रेम के कारण बड़ी उमंग से उसका चित्त तुझ पर लगा रहता है। तेरे गुणों पर रीझनेवाला केवल भौंरा ही है। उसकी ओर आँख उठाकर देखता क्यों नहीं।

तात्पर्य—मूर्ख के सामने अपने गुणों का प्रकाश करना बुद्धिमान् को शोभा नहीं देता। गुणग्राही—दूसरे के गुणों पर प्रसन्न होने वाले—व्यक्ति के अतिरिक्त गुणवान् के गुणों का सम्मान और कौन कर सकता है?

( सामान्य विहंग )

मूल—सूको तरु सेवत कहा विहँग! देवद्रुम सेव।
सजैं सुकादिक धीर जहँ सुन्यो न ताको भेव॥
सुन्यो न ताको भेव फूल फल सौरभ जामैं।
सदा रहै रस लसो बसो कुसुमाकर तामैं॥
बरनै दीनदयाल लाल तू तो अति चूको।
सुखद कलपतरु त्यागि दुखद सेवै द्रुम सूको॥ ४६॥

शब्दार्थ—सूको=( शुष्क ) सूखा हुआ। विहंग=पक्षी। ( विहायस्=आकाश मार्ग में+ग=गमन करने वाला। इसके तीन रूप होते हैं—विहग, विहंग और विहंगम। ) सुकादिक=( १ ) तोते इत्यादि पक्षी। ( २ ) शुकदेव आदि मुनिजन। भेव=मर्म। सौरभ=सुगंध। लसो=शोभायमान। कुसुमाकर=( कुसुम+आकर ) फूलों का समूह, ( तत्पुरुष समास द्वारा ), वसंत ( फूलों का समूह हो जिस ऋतु में—बहुब्रीहि समास )। चूको=भूल की।

भावार्थ—हे पक्षी, इस सूखे पेड़ की सेवा क्या करते हो? कल्पवृक्ष की सेवा करो जहाँ तोते आदि बुद्धिमान् पक्षी शोभा देते हैं। क्या तुमने उसकी

महिमा नहीं सुनी ? उसमें फल फूल और सुगन्ध सभी कुछ हैं, वह सदा सरस (हरा भरा) होने के कारण शोभायमान रहता है; और वसंत ऋतु तो मानो उसी में डेरा डाले है। हे प्यारे पक्षी, तुम बहुत चूक गये, जो सुख देनेवाले कल्पवृक्ष को छोड़ कर इस दुःखदायी सूखे पेड़ की सेवा करते हो।

तात्पर्य—श्रीशुकदेव आदि बड़े बड़े ब्रह्मज्ञानी मुनिजन जिस परमेश्वर की महिमा गाते हैं, जिसकी उपासना करते हैं, ऐसे सच्चिदानन्द परब्रह्म परमात्मा की उपासना छोड़ कर सांसारिक मनुष्यों (अथवा भूत-प्रेतादि) की सेवा करना बड़ी भारी भूल है।

मूल—नहीं तरंगी तीर में हे खग बास बनाय।
यह सुतंत्र, को कहि सकै, दैहै कहूँ बहाय॥
दैहै कहूँ बहाय हाय करिकै सिर धुनिहै।
कोऊ नहीं सहाय पाय दुख पीछे गुनिहै॥
बरनै दीनदयाल बड़ो यह है बहुरंगी।
अहै चपल, उड़ि चलो, भलो यह नहीं तरंगी॥ ४७॥

शब्दार्थ—तरंगी=(तरंगवाली) नद या नदी। तीर=तट, किनारा। सुतंत्र=(स्वतन्त्र) स्वाधीन, निरंकुश।

भावार्थ—हे पक्षी, इस नद के तट पर घौंसला मत बना। यह बड़ा तरंगी (लहरोंवाला) और स्वतन्त्र है (इसको किसी का भय नहीं है)। कौन कह सकता है कि यह कब मौज में आकर तेरा घौंसला कहाँ बहा दे ? घौंसला बहाये जाने पर पछता-पछता कर तू सिर धुनेगा, और जब तुझे वहाँ अपना कोई सहायक न मिलेगा तब तू इस दुःख को विचारेगा। देख, अभी उड़ चल, यह नद बड़ा ही बहुरंगी एवं चपल है, यहाँ रहना ठीक नहीं।

तात्पर्य—चंचल प्रकृति और निरंकुश व्यक्ति के आश्रय में रहना अच्छा नहीं।

( विशेष विहंग )—तत्र शुक

मूल—सुनिये हे सुक यह नहीं सुखद रसाल रसाल।
है सेमल छल रूप मति भ्रमो सुमन लखि लाल॥
भ्रमो सुमन लखि लाल भँवर रस गन्ध न पायो।
जानि अंगार चकोर प्यार करि डार लुभायो॥
बरनै दीनदयाल कला याकी बहु गुनिये।
पीछे तूल बढ़ाय सूल हूलत है सुनिये॥ ४८॥

शब्दार्थ—रसाल=( १ ) आम, ( २ ) रसवाला, मीठा। तूल=( १ ) रुई, ( २ ) बखेड़ा, लम्बी चौड़ी बातें। सूल हूलत है=कष्ट देता है।

भावार्थ—हे शुक सुनो, यह सुखदायी रसीला आम नहीं है। यह साक्षात् कपट का ही रूप सेमल है। इसके लाल फूल को देख कर धोखे में मत आओ। भौंरा इसको लाल फूल समझ कर मकरंद और सुगन्ध के लोभ से इसके पास आया पर कुछ भी उसके हाथ न लगा। चकोर भी इन फूलों को अँगार समझ कर बड़े प्रेम से इसकी शाखा से ललचा गया। इसकी अनेक कपट कलाओं का वर्णन कहाँ तक किया जाय? अन्त में जब इससे केवल रुई निकलती है तो सब को बड़ा भारी कष्ट प्रतीत होता है।

तात्पर्य—वंचक और धूर्त लोग बड़ी लम्बी चौड़ी बातें कह कर सब को झूठी आशा में रख कर जो कुछ उनसे बन पड़ता है लूट खसोट लेते हैं। अन्त में कोई न कोई बखेड़ा खड़ा कर बैठते हैं जिनसे सज्जनों को कष्ट होता है।

मूल—नहिं दाड़िम, सेंलूख यह सुक! न भूलि भ्रम लागि।
दलतें सूलिन को छल्यो, चोंच बचै तौ भागि॥
चोंच बचै तौ भागि, जाहु ना तो पछतैहो।
याके फल के बीच बड़ो श्रम कछू न पैहो॥

बरनै दीनदयाल लाल लखि लोभ्यो है किम।
यह तो महाकठोर, भूलि, सुक है नहिं दाड़िम ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—सैलूख =( सं० शैलूष ) बिल्वफल, बेल। दल तें = पत्तों से। सूलिन ( शूलिन )=त्रिशूली, महादेव। किम =( किम् ) क्यों।

भावार्थ—हे शुक, यह दाड़िम नहीं है। भ्रम में पड़ कर भूल मत। यह बड़ा छली है। अपने पत्तों के द्वारा इसने महादेव जी तक को छल लिया। ( विल्व-पत्र महादेव जी के सिर पर चढ़ाए जाते हैं। जैसे तुलसीदल के बिना भगवान् की पूजा अपूर्ण ही समझी जाती है वैसे ही बिल्वपत्र बिना शिवजी की अर्चना भी अधूरी ही मानी जाती है ) बेल बड़ा कठोर होता है। इस पर ठोकर मारने से यदि तेरी चोंच बच जाय ( टूटे न ) तो भाग्य ही समझ, जा यहाँ से चला जा, नहीं तो पछिताएगा। इस फल में तुझको परिश्रम तो बहुत करना पड़ेगा पर हाथ कुछ नहीं आएगा। हे सुग्गे इस को लाल देख कर क्यों ललचाया है ? यह तो बड़ा कठोर है। छोड़ इस को, यह दाड़िम नहीं है।

तात्पर्य—किसी कठोर हृदयवाले कपटी पुरुष को प्रसन्न करने में केवल व्यर्थ परिश्रम के और कुछ लाभ नहीं है। उसको प्रसन्न करने के उद्योग में कहीं उलटी हानि ही न सहनी पड़े तो धन्य भाग्य समझो। सारांश यह कि निष्ठुर हृदय मनुष्य अनंत उद्योग करने पर भी नहीं पिघल सकता।

मूल—तजि कै दाड़िम मूढ़ सुक खान गयो कित बेल।
कांटनि सो बेधित भयो भूलि गयो सब खेल ॥
भूलि गयो सब खेल पंख लासा लपटायो।
गिरथो राख मैं जाय जगत में काग कहायो ॥

बरनै दीनदयाल कहा अहु रोवै लजिकै ।

करु मति को धिक्कार कठिन सेयो मृदु तजि कै ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—लासा = एक प्रकार का गोंद जो चपचपा होता है। बहुधा बहेलिये इस पदार्थ को चिड़ियों को फँसाने के काम में लाते हैं।

भावार्थ—हे मूर्ख शुक, दाड़िम छोड़कर तुम बेल क्यों खाने गए, एक तो काँटों में बिध जाने के कारण अपना सब खेल भूल गये दूसरे तुम्हारे पंख लासा में चिपक गये। इसके बाद ज्यों ज्यों उड़ने का उद्योग किया भी तो राख के ढेर में गिर पड़े। तुम्हारी सूरत काली हो जाने के कारण लोगों ने तुमको कौवा समझा। अब लज्जित होकर इतना रोते क्यों हो? तुमने कोमल पदार्थ छोड़ कर कठोर की सेवा की, इसी का तुमको यह फल मिला। अतएव अपनी बुद्धि को धिक्कार दो।

तात्पर्य—उदारचेता सज्जन की शरण लेना छोड़ कर मूर्ख अज्ञानतावश निष्ठुर व्यक्ति की सेवा करता है उसको अंत में निराश होने पर लज्जित एवं खिन्न होना पड़ता है।

मूल—हे सुक प्रीति न कीजिये इन कागन के संग।

कहुँ भुलाय लै जायकै करिहैं चोंचहिं भंग ॥

करिहैं चोंचहिं भंग नारियल फल के माहीं।

निरफल जैहैं सकल कला पैहै कछु नाहीं ॥

बरनै दीनदयाल जानि इनको दुख-हेतुक।

न तु पछतैहै अंत खोय अपनो गुन हे सुक ॥ ५१ ॥

**शब्दार्थ—काग = कौवा। कला = उद्योग, उपाय। हेतुक = कारण ("क" प्रत्यय यहाँ पर स्वार्थ—अपने अर्थ—को ही सूचित करता है, जैसे, बालक, पुत्रक आदि में।)**

भावार्थ—हे सुग्गे, इन कौओं के साथ मेल मिलाप मत करो। ये तुमको धोखा देकर नारियल के बन में लेजाकर तुम्हारी चोंच तुड़वा देंगे। तुम्हारे नारियल-फल को खाने के सब उद्योग निष्फल हो जायेंगे पर हाथ कुछ नहीं लगेगा ( उलटे नारियल के कठोर फलों पर ठोकर मारने से तुम्हारी कोमल चोंच टूट जायगी ) अतः हे शुक, इनको दुःखदायी समझ कर छोड़ दो, नहीं तो अन्त में अपना ( फल खाने का ) गुण खोकर पछताते रह जाओगे।

तात्पर्य—दुष्ट और कपटी का साथ कभी हितकर नहीं होता, ऐसे लोग भोले भाले लोगों को चकमा देकर विपत्ति में फँसा देते हैं और स्वयं अलग हो जाते हैं। बेचारों को अन्त में अनेक अपमान भी सहने पड़ते हैं और उनके गुणों की भी हानि होती है। अपना यश और मान सम्मान खोकर सिवाय पछताने के उनके हाथ कुछ नहीं रह जाता, अतः अयोग्य का साथ न करना ही श्रेयस्कर है।

मूल—पछितान्यो इक बेर तू यह सेमर फल बीच।
फिरि सुक सेवन ताहि को लगो कहा रे नीच॥
लगो कहा रे नीच वहै तरु जानत नाहीं।
लखि लखि लाल प्रसून सून मोहत तो माहीं॥
बरनै दीनदयाल अजौं लगि नहिं पहिचान्यो।
बेर बेर लै तूल सूल सहि तू पछितान्यो॥ ५२॥

शब्दार्थ—सून=( शून्य ) निस्सार। अजौं लगि=अब तक भी। तूल=रुई। सूल=( शूल ) कष्ट।

भावार्थ—हे सुग्गे, तू एक बार सेमल के फल में धोखा खा कर पछता चुका, परन्तु अरे नीच, फिर तू उसी की सेवा करने लगा! यह वही सेमल का वृक्ष है, क्या तू नहीं जानता? जिसके लाल लाल निस्सार फूलों को देख

कर तू उसमें मोहित होजाता है। बार बार उससे रुई पाकर और कष्ट सह कर तू पछिताया; पर तूने अभी तक उसे नहीं पहिचाना।

तात्पर्य—मंद बुद्धि लोग बार बार पाखंडियों के द्वारा वंचित होने पर और अनेक कष्ट सह कर भी नहीं सँभलते।

मूल—तोरै चोंच न कीर! तू यह पंजर है लोह।
खुलिहै खुले कपाट के तजि कुल्हिया को मोह॥
तजि कुल्हिया को मोह यही बंधन है तो को।
या सों प्रेम लगाय छुटन पाए कहु की को॥
बरनै दीनदयाल छुटै जौं नेह न जोरै।
तो बसिहै आनंद बाग हठि चोंच न तौरै॥ ५३॥

शब्दार्थ—कीर=तोता। यह पंजर है लोह=यह पींजड़ा लोहे का है। कपाट=(सं०) किवाड़। कुल्हिया=मिट्टी का बर्तन, जो पिंजड़े में रहता है (यहाँ कोई प्रिय सांसारिक वस्तु)।

भावार्थ—हे तोते, तू इस मिट्टी के बर्तन का मोह छोड़ दे। इसको पाने के प्रयत्न में पिंजड़ा तोड़ने की चेष्टा करके अपनी चोंच मत तोड़। यह पिँजड़ा लोहे का है (तेरी चोंच से न टूटेगा) और किवाड़ खोलने पर ही खुल सकता है। यही कुल्हिया तेरे लिये बंधन है, अतः इसका मोह छोड़ ज़रा सोचो तो इससे प्रेम लगा कर कौन कौन इस पिँजड़े से छूटने पाया। देखो, हठ करके चोंच मत तोड़ो। यदि तुम इससे प्रेम करना छोड़ दोगे तो आनंद-वाटिका में विहार करोगे।

तात्पर्य—सांसारिक प्रिय वस्तु को त्यागे बिना मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती।

(कोकिल)

मूल—कोकिल लोचन ललित करि करिय न कोप विखाद।
भयो कि! मूढ़ द्रवो न जो सुनि कै पंचम नाद॥

सुनि कै पंचम नाद द्रवैं सुर-चतुर विवेकी।
ते न द्रवैं जिहि लगै सुखद ग्रानी कौवे की ॥
बरनै दीनदयाल लगै प्रिय साँपिनि को बिल।
कहा करैं ते रंगभौन सुनिये हे कोकिल ॥ ५४ ॥

शब्दार्थ—ललित=लाल। विखाद =( विषाद ) खेद, दुःख। भयो कि= क्या हुआ*। द्रयो=द्रवीभूत हुआ, प्रभावित हुआ। पंचम नाद=पंचम स्वर से गाना। सुर-चतुर=स्वर (ज्ञान) में चतुर। विवेकी=सद् असत् को जाननेवाले, ज्ञानी। रंगभौन=विहारभवन।

भावार्थ—हे कोकिल, यदि कोई मूर्ख तुम्हारे पंचम स्वर को सुन कर मुग्ध न हुआ तो क्या बिगड़ा ? तुम आँखें लाल करके उसके ऊपर क्रोध मत करो, और इस बात का बुरा भी न मानो। ( क्योंकि वह मूर्ख है ) जो स्वर-ज्ञान में चतुर होते हैं वे ही तुम्हारे पंचम स्वर को सुनकर मुग्ध हो सकते हैं, जिनको कौए की काँव काँव ही रुचती है वे भला तुम्हारी वाणी की सराहना क्या करेंगे ? हे कोकिल सुनो, साँपिन को अपना बिल ही अच्छा लगता है वे बड़े-बड़े महलों में रहकर भला क्या करेंगी ?

तात्पर्य—गुणवानों के गुणों का मूल्य गुणग्राही ही जान सकते हैं मूर्ख और अरसिक पुरुष नहीं, अतएव कोई मूर्ख यदि गुणवान् की निन्दा करने लगे तो बुरा मानने की कोई बात नहीं; क्योंकि "बन्दर अदरख का स्वाद क्या जाने।"

---

* ( नोट )—इस छन्द में "भयो कि" एक विलक्षण हिन्दी प्रयोग है जो बँगला भाषा से मिलता है। तुलसीदास ने भी ऐसा प्रयोग किया है, यथा :—

कोउ नृप होइ हमैं का हानी।
चेरि छाँड़ि अब होब कि ? रानि !

मूल—हे पिक पंचम नाद को नहिं भीलन को ज्ञान ।
यहै रीझिबो मानि तू जो न हनै हिय बान ॥
जो न हनै हिय बान बड़ी करुना इन केरी ।
मारैं ये मृग-जूथ कहा गिनती है तेरी ॥
बरनै दीनदयाल थको रटिकै तुम केतिक ।
ये नहिं रीझनिहार जाहु बन को तजि हे पिक ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ--पिक=कोकिल । पंचम नाद=पंचम स्वर से गाना । जूथ=( सं० यूथ ) समूह ।

भावार्थ—हे कोकिल, भीलों को तुम्हारे इस पंचम स्वर से गाने का ज्ञान नहीं । तुम्हारे हृदय में ये बाण नहीं मार देते यही इनका प्रसन्न होना समझो, यही इनकी बड़ी भारी कृपा समझो । नहीं तो ये, झुंड के झुंड पशुओं को मार डालते हैं, तुम हो ही किस गिनती में । हे कोकिल, कितना ही रटते-रटते थक जाओ, पर ये रीझने से रहे, अतः इस ( भीलों के ) बन को छोड़ कर चल दो ।

तात्पर्य—नृशंस अविवेकी हो जाते हैं । उनकी सहृदयता उनकी क्रूरता के कारण दब जाती है । अतः वे किसी के गुणों की प्रशंसा नहीं कर सकते । अतः ऐसे नीरस हृदयों के सामने अपने गुणों का प्रकाश करने से कुछ लाभ नहीं । तुम्हारे प्राण न ले लें यही कुशल समझो, नहीं तो उन्हें किसी का सर्वनाश करते देर ही कितनी लगती है ?

मूल—कोकिल दिल दै कीर सों करिये प्रेम सुहात ।
दुहुँ रसाल बन सघन के बिहरन-सील कहात ॥
बिहरन-सील कहात कंठ कल कोमल दोऊ ।
सुजस जगत के माँहि नाहिं तुव पटतर कोऊ ॥

बरनै दीनदयाल रहो इन्हीं तें हिल मिल।
प्रीति समान बखान करैं कविजन हे कोकिल ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—सुहात=अच्छा लगनेवाला, सुन्दर। कल=मधुर एवं अस्फुट ध्वनि। पटतर=बराबरी का। प्रीति समान बखान करैं=मित्रता और प्रीति बराबरवाले से ही करना श्रेयस्कर है। (समानशीलव्यसनेषु सख्यम्)।

भावार्थ—हे कोकिल, अपना मन तोते को ही सौंप कर (अर्थात् अभिन्न हृदय से) उससे मन इच्छित प्रीति कर लो। क्योंकि तुम दोनों आम के घने वन में विहार करनेवाले कहे जाते हो, तुम दोनों का कंठ भी बड़ा ही कोमल एवं मधुर है, और इस संसार में (सुग्गे के सिवा) सुयश में भी कोई तुम्हारी समानता करने वाला नहीं है। तुम दोनों में ये सब बातें समान हैं, और कवियों ने भी समान गुण और शीलवाले से ही मित्रता करना श्रेष्ठ बतलाया है, अतएव हे कोकिल, इन्हीं से हिलमिल कर रहो।

तात्पर्य—मित्रता और प्रीति वही निभ सकती है जो अपने ही समान गुणवाले और अपने ही समान स्वभाव वाले व्यक्ति के साथ की जाती है। यही मित्रता और प्रीति स्थायी एवं श्रेयस्कर भी हो सकती है।

मूल—सोरैं कीस करैं महा, किलकारैं इत कोल।
काक बलाक जुरे रटैं कोकिल ह्याँ मति बोल ॥
कोकिल ह्याँ मति बोल नहीं इत बात तिहारी।
कहा व्यजन की बाय जहाँ बहु बही बयारी ॥
बरनैं दीनदयाल कितै सुर पंचम जोरैं।
सुनै कौन या ठौर जितै ये खल के सोरैं ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—सोरैं=शोर का बहुवचन। कोल=शूकर। बलाक=बगुले। व्यजन=( सं० ) पंखा। बाय=( वायु ) हवा। इत=यहाँ।

भावार्थ—हे कोकिल, यहाँ बानर बड़ा शोर कर रहे हैं, शूकर किलकारी मारते हैं, और कौए तथा बगुले इकट्ठे होकर बड़े कठोर शब्द रटते हैं, अतः यहाँ तू मत बोल, यहाँ तेरी बात कोई नहीं पूछता। जहाँ बड़ी भयंकर आँधी चलती है वहाँ भला पंखे की हवा की क्या गिनती? तू पंचम स्वर में कितना ही राग क्यों न अलापै, जहाँ इन दुष्टों का कोलाहल है वहाँ तेरा राग कौन सुनेगा!

तात्पर्य—मूर्खों के समाज में भलाई का उपदेश कुछ असर नहीं करता। अतः अपने गुणों को ऐसे समाज में प्रकट करने में कुछ लाभ नहीं।

( चातक )

मूल—लागे सर सरवर परयो करयो चोंच घन ओर।
धनि धनि चातक प्रेम तव पन पाल्यो बरजोर॥
पन पाल्यो बरजोर प्रान परयंत निबाह्यो।
कूप नदी नद ताल सिन्धु जल एक न चाह्यो॥
बरनै दीनदयाल स्वाति बिन सब ही त्यागे।
रही जन्म भरि बूँद आस अजहूँ सर लागे॥ ५८॥

शब्दार्थ—चातक=पपीहा। इस पक्षी के बारे में यह प्रसिद्ध है कि वह स्वाति नक्षत्र में बरसे हुए वर्षा के ही जल से अपनी प्यास बुझाता है, अन्यथा नहीं। सो भी तब जब जल बादलों से ठीक उसकी चोंच पर गिरे। चोंच टेढ़ी करके तो वह जल पियेगा नहीं। तालाब, कुएँ, नदी आदि का जल भी वह नहीं पीता। सर=( शर ) बाण। सरवर=( सरोवर ) तालाब। बरजोर=

बलपूर्वक। प्रान परयंत=(पर्यन्त) मरने तक। चाह्यो=इच्छा की। स्वाति=अट्ठाईस नक्षत्रों में से एक नक्षत्र।

भावार्थ—(किसी बहेलिये ने एक चातक को बाण से मारा। बाण के लगने से वह किसी तालाब में गिर पड़ा। पर कहीं तालाब का पानी मेरे जीते जी मेरी चोंच में न चला जाय इस भय से उसने अपनी चोंच बादल की ओर कर ली, जिससे बादल के अतिरिक्त और कहीं से भी पानी उसकी चोंच में न जा सके।। इस प्रकार मरने तक उसने अपने व्रत को निबाहा) हे चातक, बहेलिये के बाण से घायल होकर तालाब में गिरने पर भी तुमने अपनी चोंच बादल की ओर कर ली। अतएव तुम्हारा प्रेम धन्य है। तुम्हारा प्रेम धन्य है। तुमने यथाशक्ति अपने प्रण की रक्षा की और प्राण रहते तक निर्वाह किया। जब तक जीवित रहे तबतक कुँए, नदी, नद, तालाब और समुद्र में से किसी के जल की भी इच्छा नहीं की और स्वाति नक्षत्र के जल के अतिरिक्त सभी को छोड़ दिया, जन्म भर तुमको स्वाति के जल की बूँद की ही इच्छा रही, और इस समय बाण लगने पर भी वही आकांक्षा है। अतएव तुम्हारा ही प्रेम प्रशंसनीय है।

तात्पर्य—सच्चा प्रेमी अपने प्रेम का निर्वाह मृत्यु पर्यन्त करता है। अपना प्रेम-पात्र भला हो या बुरा, राजा हो या रंक, चाहे कैसा ही क्यों न हो उसके साथ अनन्य प्रीति का पालन करना ही सच्चे प्रेमी का लक्षण है।

मूल—बरषा भरि बरषत धरा धराधर धरि धीर।
कहा दोख चातक ! तिनैं तो मुख परयो न नीर॥

---

(नोट)—गो० तुलसीदासकृत दोहावली में दोहा नं० ३०२ में भी यही भाव है।

तो मुख परयो न नीर नदी नद सबही भरिगे।
पालि किये बहु शाली-बालि जग में जस करिगे ॥
बरनै दीनदयाल करो मति तुम आमरषा।
बुझै नहीं तुव प्यास करै जो केतो बरषा ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ— धरा=पृथ्वी। धाराधर=( धारा=जल की धारा+धर ) बादल। सालि-बालि=धान की बाल। आमरषा= ( आमर्ष ) क्रोध।

भावार्थ—हे चातक, वर्षा ऋतु भर बादल लगातार पृथ्वी में जल बरसाते रहे, पर तुम्हारे मुख में यदि इतने पर भी जल की एक बूँद न पड़ी तो उनका क्या दोष? देखो, वर्षा के जल से सभी नदी नद जल से भर गए। धान की बालों को अपने जल से पुष्ट कर बादल संसार में यशस्वी बन गए। अतः तुम व्यर्थ ही क्रोध मत करो। कितनी ही वर्षा क्यों न करें तुम्हारी प्यास बुझने से रही।

तात्पर्य—यदि किसी उपकारी के उपकार से किसी व्यक्ति को संतोष न हो तो उपकारी का क्या दोष? असंतोषी तो किसी प्रकार संतुष्ट हो ही नहीं सकता।

मूल—काहे चातक बूँद हित सहत उपल पवि-पात।
कहा सरित सर सूखिगे जे भूखित जलजात ॥
जे भूखित जलजात हंस अवली धवली तें।
सीतल मधुर पुनीति जासु जल भाँति भली तें ॥
बरनै दीनदयाल तिनै तजि सीकर चाहे।
सोचत लाभ न हानि सहै द्विज दुख को काहे ॥६०॥

शब्दार्थ—बूँद=स्वाति नक्षत्र के जल की बूँद। उपल=ओले, पत्थर। पविपात=वज्रपात। सरित=नदी। भूखित=( भूषित ) शोभायमान, सुसज्जित।

जलजात=कमल । अवली=पंक्ति । धवली=सफेद । पुनीत=पवित्र । सीकर=बूँद । द्विज=पक्षी ।

भावार्थ—हे चातक, केवल एक बूँद जल के लिए क्यों वृथा ओलों की चोट एवं वज्रपात सहते हो ? क्या वे नदी तालाब सूख गये हैं, जो कमल एवं श्वेत हंसों की पंक्तियों से शोभायमान थे, और जिनमें अच्छे प्रकार से ठंडा, मीठा और पवित्र जल भरा था ? उनको छोड़ कर तुम एक स्वाति जल की बूँद की ही अभिलाषा करते हो। हे पक्षी, तुम हानि लाभ का कुछ भी विचार नहीं करते, नाहक दुःख क्यों सहते हो ?

तात्पर्य—किसी प्रेमी पर यह उक्ति घटित हो सकती है जो अन्य पात्रों को छोड़ किसी एक विशेष पात्र पर मरता हो।

( मयूर )

मूल—बानी मधुरी, बास बन, परभा परम बिसाल।
बरही ! ऐगुन एक अति भखत कुव्याल कराल ॥
भखत कुव्याल कराल चाल या नहीं भली मैं।
ये सब गुनके जाल जाहिंगे अजस गली मैं ॥
बरनै दीनदयाल हाल गति यह तो जानी।
कित वह असन भुजंग किते यह मृदु वर बानी ॥ ६१ ॥

शब्दार्थ—परभा=( प्रभा ) शोभा। बरही ( वर्ही )=मयूर। ऐगुन=अवगुण। भखत=( भक्षत ) खाते हो। कुव्याल=दुष्ट, ज़हरीला साँप। कराल=भयंकर। चाल या नहीं भली मैं=इसकी गिनती अच्छी चालों में नहीं है। जाल=समूह। जाहिंगे अजस गली में=अयश ही कहलायेंगे। हाल गति यह तो जानी=यह हाल और यह चाल जान ली गई। तो=( तव )

तेरी। असन=(अशन) भोजन। भुजंग=(भुज=टेढ़ा+ग=गमन) टेढ़ी मेढ़ी चाल से चलनेवाला, अर्थात् साँप। (भुजग, भुजंग और भुजंगम तीनों की व्युत्पत्ति एक ही है।)

भावार्थ—हे मयूर, तुम्हारी वाणी बड़ी मीठी है, निवास एकांत वन है, और शोभा भी अत्यन्त मनोहर है; परन्तु तुममें एक बड़ा भारी अवगुण यह है कि तुम बड़े भयंकर जहरीले साँपों को खा जाते हो। तुम्हारी यह चाल अच्छी नहीं है। इस अयश के कारण तुम्हारे सब अच्छे गुण भी बुरे समझे जाएँगे। कहाँ तुम्हारी वह मीठी सुन्दर वाणी, कहाँ यह साँपों का भोजन ! दीनदयाल जी कहते हैं कि तुम्हारा हाल चाल सब हमने समझ लिया कि तुम कैसे हो।

तात्पर्य—अनेक सद्गुणों के होते हुए भी कोई एक बड़ा दुर्गुण सब गुणों को ढक देता है।

मूल—धुरवा नहिं, दव-धूम है, नहिं गरजनि, तरु-सोर।
भ्रम बस कूक करै कहा मरै नाच नचि मोर॥
मरै नाच नचि मोर न ए दामिनि की दमकैं।
एतो घोर हुतास जोर चहु ओर सु चमकैं॥
बरनै दीनदयाल भूलि मति तू मन मुरवा।
तज यह सिखर कराल, जरैगो, नहिं ये धुरवा॥ ६२॥

शब्दार्थ—धुरवा=बादल। दव-धूम=दावाग्नि का धुआँ। हुतास=अग्नि। मुरवा=मोर।

भावार्थ—हे मोर, ये बादल नहीं हैं, वन में लगी हुई आग का धुआँ है; यह गरज भी बादलों की नहीं है, पेड़ों के चटकने का शब्द है। तू बादलों के धोखे में आनन्द से कूक कर और नाच नाच कर क्यों हैरान होता है? जिस

को तू बिजली की चमक समझे बैठा है वह भी बिजली नहीं है, किन्तु अग्नि की भयंकर लपटें हैं, जो बन के चारों ओर चमक रही हैं। हे मोर, तू भूल कर भी मन में इनको बादल मत समझ। ये बादल नहीं हैं। इस भयंकर पहाड़ के (दावाग्नि युत) शिखर को छोड़ दे नहीं तो भस्म हो जायगा।

तात्पर्य—सांसारिक विषय वासनाएँ क्षणिक सुख का लालच देकर अथाह भव-सागर में ढकेल देती हैं। अतः उनके बनावटी मनोहर रूप के धोखे में आकर उनके वशवर्त्ती न होना चाहिए। सारांश यह कि नकली पदार्थ अपने बाहरी आडम्बर से लोगों का चित्त आकृष्ट कर उनको धोखे में डाल देते हैं। अतएव सावधान होकर अपने मन को ऐसे पदार्थों में लालायित होने से रोकना ही उचित है।

### (चकोर)

सोच न करै चकोर चित कुहू कु-निसा निहारी।
सनै सनै ह्वैहै उदै राका ससि तम टारि॥
राका ससि तम टारि दूरि दुःख करि है तेरो।
धीर धरै किन बीर कहा अकुलाय घनेरो॥
बरनै दीनदयाल लखैगो तू भरि लोचन।
जो तेरो प्रिय प्रान मिलैगो सो अब सोच न॥ ६३॥

शब्दार्थ—कुहू=अमावास्या। निहारि=देखकर। सनै सनै (शनैः शनैः)=धीरे धीरे। राका=पूर्णिमा। तम टारि=अंधकार को हटाकर।

भावार्थ—हे चकोर, अमावास्या की इस अंधेरी रात को देख कर मन में शोच मत कर। धीरे धीरे पूर्णिमा का चन्द्रमा उदय होगा और अंधकार का नाश कर तेरे दुःख को दूर करेगा। हे वीर, इतना क्यों घबड़ाता है ! धैर्य

क्यों नहीं धारण करता ? अब शोच मत कर। जो तुझे प्राणों से भी प्यारा है यह ( चन्द्रमा ) तुझे अब शीघ्र ही मिलेगा, और तू उसे देख कर अपनी आँखें तृप्त करेगा।

तात्पर्य—दुःख के बाद सुख का आना अनिवार्य है। अतएव विपत्ति में घबड़ाना नहीं चाहिए। धैर्यपूर्वक कष्टों को झेलने के अनन्तर एक दिन फिर सुख के दिन देखने को नसीब होंगे।

मूल—सोवै कितै चकोर ! तू सफल करै किन नैंन।
चार दिना यह चाँदनी फिरि अँधियारी रैन॥
फिरि अँधियारी रैन सखे लखि सोच मरैगो।
सजग रहै नहिं भूलि काल-कृत जाल परैगो॥
बरनै दीनदयाल लाल ! यह काल न खोवै।
रोम रोम प्रति सोम-कला फैली, कित सोवै॥ ६४॥

शब्दार्थ—सजग = सावधान। काल-कृत जाल परैगो = काल के फंदे में फँसना पड़ेगा, मर जाओगे। सोम = चन्द्रमा।

भावार्थ—हे चकोर, तू सोया क्यों है ? इस चाँदनी को देख कर अपनी आँखों को सफल क्यों नहीं कर लेता ? हे मित्र, यह चाँदनी थोड़े ही दिन रहेगी फिर वही अँधेरी रात हो जायगी, इसलिए अभी अच्छे प्रकार देख ले, नहीं तो पछताएगा। देख अचेत मत हो, सावधान रह, एक समय तुझे भी मरना पड़ेगा। अतः इस समय को मत खो। तेरे रोएं रोएं में चन्द्रमा की कला फैली हुई है, तू सोया क्या है ? इसे देख ले।

तात्पर्य—( इस अन्योक्ति में जीव को सावधान करते हैं ) यह देह क्षण-भंगुर है अतएव जबतक शरीर में शक्ति है, इन्द्रियों में सामर्थ्य है तबतक

परमेश्वर का भजन, परोपकार आदि सत्कर्म करके उसे सार्थक क्यों न कर लिया जाय।

( पतंग )

मूल—वै तो मानत तोहि नहिं, तैं कित भरयो उमंग।
नहिं दीपहिं कछु दरद, क्यों जरि जरि मरै पतंग॥
जरि जरि मरै पतंग तासु ढिग कदर न तेरी।
तू अपनो हित जानि भांवरैं भरत घनेरी॥
बरनै दीनदयाल प्रान-प्रिय मान्यो तैं तो।
मुख मलीन करि रहैं चहैं नहिं तो को वै तो॥ ६५॥

शब्दार्थ—ढिग = पास। कदर = सम्मान। हित = प्रिय। भाँवरे भरत घनेरी = उसके पास अनेक चक्कर लगाता फिरता है। मलीन = काजलयुक्त, उदास।

भावार्थ—अरे पतंग, वह ( दीपक ) तो तुझको कुछ मानता नहीं, तू क्यों उससे मिलने के लिए उमंग में भरा है। तू नाहक क्यों जल कर दीपक के लिए प्राण देता है? उसको तेरे मरने का कुछ भी दुःख नहीं, उसके यहाँ तेरा सम्मान नहीं हो सकता। तू तो उसको अपना प्राणप्रिय समझता है और प्रिय जान कर बार बार उसकी प्रदक्षिणा करता है, पर वह तुझे नहीं चाहता, तेरी ओर से मुख उदास किये रहता है।

तात्पर्य—जो अपना सम्मान नहीं करता, अपने ऊपर सहानुभूति प्रकट नहीं करता, अपने प्रेम का प्रतिदान नहीं करता, उसके लिये क्यों नाहक अपना प्राण खोया जाय।

( उलूक )

मूल—हेरे अन्ध उलूक तू दुरौ दरी में नीच।
तेरे जान नहीं उदै भये भानु नभ बीच॥
भये भानु नभ बीच सकल जग तासु अधीने।
तू एकै खल क्रूर कहा तो निन्दा कीने॥

बरनै दीनदयाल दोख जनि दै उन केरे।
अपनो भाग विचार उतै बुध बंदत हेरे ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—दुरौ=छिपा है। दरी=गुफा। कूर=मूर्ख। दोख (दोष) जनि दै उन केरे=सूर्य को दोष मत दो। उतै=उतर, अर्थात् सूर्य को। बुध=पंडित लोग, ब्राह्मण। बंदत=पूजा करते हैं। हेरे=देखने पर।

भावार्थ—अरे अन्धे नीच उल्लू! तू इस समय अँधेरी गुफा में छिपा है। तेरी समझ में अभी सूर्य भगवान् आकाश में उदय ही नहीं हुए। सारा संसार इस समय सूर्य के अधीन हो रहा है केवल तू ही एक महा मनहूस है। अतः तेरे निन्दा करने से क्या होता है। अरे दुष्ट यदि सूर्य के उदय होने से भी तुझे नहीं सूझता तो उनको व्यर्थ दोष मत दे। यह तेरा ही दुर्भाग्य है जो तुझे दिखलाई नहीं पड़ता। सूर्य को तो देखते ही लोग प्रणाम करते हैं (उदीयमान सूर्य को अर्घ्य आदि देकर लोग पूजते हैं)।

तात्पर्य—जो संसार की दृष्टि में पूज्य हैं, सारा संसार जिनके गुणों का कायल है, और जिनकी महिमा का मनीषी लोग मन से सम्मान करते हैं ऐसे महापुरुषों की यदि दो एक मनहूस निन्दा करें तो उससे क्या बनता बिगड़ता है।

(वायस—कौआ)

मूल—वायस! तू पिक मध्य ह्वै कहा करै अभिमान।
ह्वै है वंस सुभाव की बोलत ही पहिचान॥
बोलत ही पहिचान कानकटु तेरी बानी।
वे पंचम धुनि मंजु करैं जिहि कविन बखानी॥
बरनै दीनदयाल कोऊ जौ परसौ पायस।
तऊ न तजै मलीन मलहि खाये बिन वायस॥ ६७॥

शब्दार्थ—परसै=परोसै। पायस=खीर।

भावार्थ—हे कौए! तू कोकिलों के बीच में बैठकर क्या घमंड करता है? बोलते ही तेरे कुल और स्वभाव की पहिचान हो जायगी। तेरी कर्णकटु वाणी से पता लग जायगा कि तू कौआ है और कोकिलों का श्रुतिप्रिय पंचम स्वर जिसकी मधुरता की कवि लोग प्रशंसा करते हैं उनकी पहिचान करवा देगा। चाहे कोइ खीर ही क्यों न परोस के रख दे पर नीच कौआ अपवित्र पदार्थ खाये बिना रही नहीं सकता।

तात्पर्य—कोई अपने को कितना ही छिपावे उसका वंश और स्वभाव छिप नहीं सकता। उसके व्यवहार से, उसके वचनों से उसके आचरण से पता लग ही जाता है। चाहे कितना ही प्रयत्न करो दुर्जन अपने स्वभाव को छोड़ नहीं सकते।

तुलसीदास भी कहते हैं—

पायस (वायस) पलियहि अति अनुरागा।<br>
कबहूँ निरामिष होहि कि कागा॥

मूल—हेरे काग कठोर रट कीरहि दूखत काह।<br>
सुनि के इनकी मधुर धुनि मोहत हैं नरनाह॥<br>
मोहत हैं नरनाह हेम-पिंजर में राखैं।<br>
इनही के मुख लखै बैन इनके अभिलाखैं॥<br>
बरनै दीनदयाल लगे विषलौ तव टेरे।<br>
कोपैं सब इहि लागि भागि ह्याँतें खल हेरे॥ ६८॥

शब्दार्थ—कठोर रट=कर्णकटु काँव काँव करने वाला। कीरहि=सुग्गे को। दूखत=दोष लगाता है। नरनाह=(नाथ) राजा। हेम=सोना। बैन=(वचन) वाणी। इहि लागि=इसी कारण।

भावार्थ—अरे कर्णकटु काँव काँव रटनेवाले कौए ! तू सुग्गे को दोष लगाता है ! इनकी मधुर वाणी को सुन कर राजा लोग मुग्ध होते हैं, इनको सोने के पींजड़े में रखते हैं, इन्हीं का मुख देखा करते हैं, और इनके वचन सुनने की अभिलाषा करते हैं। परन्तु तेरी काँव काँव तो विष के समान लगता है, इसी कारण सब तुझ पर क्रोध करते हैं। अरे दुष्ट, जा भग यहाँ से।

तात्पर्य – मधुर और नम्र वचन बोलनेवाला सर्वत्र सम्मान पाता है। इसके विपरीत कठोर वचन बोलनेवाला सबसे तिरस्कृत किया जाता है।

( बासा )

मूल—बासा ! यहि तरु पै तुमैं बासा बासर एक।
बक नहिं इत ब्याधा जुरे बहरी और अनेक ॥
बहरी और अनेक का कहौं बाज रहै ना।
जाल परे वा होय जौन दुख सो कहुँ मैं ना ॥
बरनै दीनदयाल करै तू केकी आसा।
लाल ! मानि अब टेर भजो सर आवत बासा ॥ ६६ ॥

शब्दार्थ—बासा=पक्षी विशेष। बासा=निवास। बासर=दिन। बक नहिं=बक बक मत कर। ब्याधा=बहेलिया। जुरे=इकट्ठा हुए हैं। बहरी=बाज़ की जाति का एक पक्षी विशेष। बाज रहना=किसी काम का करना छोड़ देना। केकी=किसकी। टेर=आवाज़, पुकार ( यहाँ ) उपदेश।

भावार्थ—हे बासा ! इस पेड़ पर तुझे एक दिन रहना है, यहाँ बक बक मत कर, यहाँ अनेक ब्याधा और बहरी एकत्र हैं। मैं तुझे से क्या कहूँ, तू बक बक नहीं छोड़ता। जाल में फँसने से जो दुःख होता है सो मैं तुझसे नहीं

कहता। दीनदयाल कहते हैं कि तू किसकी आशा करता है। हे प्रिय बाखा! अब मेरा उपदेश मान और यहाँ से भाग जा, बाण आता ही है।

( नोट )—इसमें मुद्रालंकार भी है। मुद्रा के लिये जिन पक्षियों के नाम लाये गये हैं वे ये हैं:—

बक, बहरी, काक, बाज़, परेवा, सोक ( शुक ), मैना, करैतू, केकी, लाल बटेर।

( सिंह )

मूल—टूटे नख रद केहरी वह बल गयो थकाय।
हाय जरा अब आइ कै यह दुख दियो बढ़ाय॥
यह दुख दियो बढ़ाय चहुँ दिसि जंबुक गाजैं।
ससक लोमरी आदि स्वतन्त्र करैं सब राजैं॥
बरनै दीनदयाल हरिन बिहरैं सुख लूटे।
पंगु भयो मृगराज आज नख रद के टूटे॥ ७० ॥

शब्दार्थ—रद=दाँत। केहरी=सिंह। जरा=वृद्धावस्था। जंबुक=गीदड़। गाजैं=गरजते हैं। ससक=( शशक ) खरगोश। करैं सब राजैं=सब राज्य करते हैं। पंगु=लँगड़ा, अंगहीन। मृगराज=( मृग=पशु+राजा ) पशुओं का राजा अर्थात् सिंह।

भावार्थ—सिंह के दाँत और नाखून टूटे गये हैं, पहिले का सा बल भ अब शरीर में नहीं रहा। वह सब प्रकार से असहाय अवस्था में हो गया है। पर इतना ही नहीं, वृद्धावस्था ने एक और भी दुःख बढ़ा दिया है। वह यह कि जिस सिंह के सामने सभी जंतु थर थर काँपते थे और उसके सम्मुख आने को साहस नहीं होता था वे ही उसके सामने आनंद विहार कर रहे हैं, चारों ओर गीदड़ बोल रहे हैं; खरगोश लोमड़ी आदि स्वतन्त्र होकर अपना अपना

राज कर रहे हैं, और हरिण आदि मज़े में सुख लूट रहे हैं, पर बेचारा सिंह जो इन सब पर राज्य करता था आज दाँतों और नाखूनों के टूट जाने से लँगड़ा हो गया है।

तात्पर्य—समय सब कुछ करा लेता है। जो एक समय सब पर शासन करता था, जिसका आतंक सर्वत्र छाया हुआ था, जिसकी वीरता का सभी जन लोहा मानते थे, वही सिंह आज असहाय है, परमुखापेक्षी हो रहा है। काल की गति बड़ी विचित्र है। इसके प्रभाव से राजा से रंक, रंक से राजा होते कुछ भी देर नहीं लगती।

( मातंग )

मूल—भाजत हे जिहि त्रास ते दिग्गज दीरघदंत।
नाहर नहिं नेरे फिरै देखि बड़ो बलवंत॥
देखि बड़ो बलवंत फिरैं गिरि-कंदर दर तें।
नदी कूल कुज मूल परसि बिनसैं रद कर तें॥
बरनै दीनदयाल रह्यो जो सब पै गाजत।
अहो सोई गजराज आज कलभनतें भाजत॥ ७१॥

शब्दार्थ—भाजत हे भाग जाते थे। त्रास=डर। दिग्गज=( दिक्=दिशा+गज=हाथी ) दिशा का हाथी, ( श्रेष्ठ हाथी, )। दीरघ ( दीर्घ )। दत=लंबे दाँतों वाला। नाहर=(नरहरि) सिंह। नेरे=निकट। कंदर=गुफा। दरतें=रगड़ से। कूल=किनारा। कुज=( कु=पृथ्वी+ज=पैदा हुआ ) वृक्ष। परसि=स्पर्श करके, छू करके। रद=दाँत। कर=सूँड़। गाजत=गरजता था। कलभ=हाथी का बच्चा। ( मातंग=उन्मत्त हाथी को कहते हैं )।

भावार्थ—जिस मतवाले हाथी के भय से बड़े बड़े दाँत वाले दिशाओं के हाथी भाग जाते थे, जिसको बड़ा बलवान् समझ कर सिंह भी पास नहीं

फटकते थे, जिसकी रगड़ से गिरिकंदराएँ गिर जाती थीं और नदी तट के वृक्ष जिसकी सूँड़ और दाँत के छूते नष्ट हो जाते थे और जो सब पर गरजता था, सब पर आतंक जमाये रहता था वही श्रेष्ठ हाथी आज साधारण हाथी के बच्चों को देखकर भागता है। आश्चर्य है।

तात्पर्य—समय के फेर से कभी बड़े बड़े लोगों को भी नीचा देखना पड़ता है।

मूल—तोरै मति तरु मूल तें फूल सहित हित नूर।
अरे निरंकुस दुरद बद दुखद महा मद पूर॥
दुखद महामद पूर लखै नहिं याकी सोभा।
फलदल भल सुखदानि सकल जग जातें लोभा॥
बरनै दीनदयाल प्रेम जो सबतें जोरै।
सो उपकारी मानि मीत ता प्रीति न तोरै॥ ७२॥

शब्दार्थ—हित नूर=अपनी शोभा के लिये। नूर=(फा०) शोभा, प्रकाश। निरंकुस=(निर+अंकुश) जिस पर कोई अंकुश न हो, जिस पर कोई दबाव न हो अर्थात् स्वतन्त्र, उच्छृंखल। दुरद=(द्विरद, दो दाँत हों जिसके—बहुव्रीहि समास) हाथी। बद=बुरा। फलदल=फलों का समूह।

भावार्थ—अरे निरंकुश, दुष्ट दुःखदायी मदोन्मत्त हाथी! शोभा बढ़ानेवाले इस फूले हुए वृक्ष को जड़ सहित मत तोड़ सुन्दर सुखदायी फलों को देनेवाले इस वृक्ष की उस शोभा को क्या तू नहीं देखता जिससे सारा संसार मुग्ध हो गया है। जो सबसे प्रेम रखता है, उसे परोपकारी समझ कर ऐसा काम न करना चाहिये जिससे उसके प्रति मित्रता और प्रेम करने का मार्ग ही सदा के लिये बंद हो जाय।

तात्पर्य—जो व्यक्ति संसार का भला करता है, जिससे प्रत्येक को लाभ ही पहुँचता है उसका सर्वनाश न करना चाहिए। हो सके तो उससे मित्रता करने और प्रीति जोड़ने में ही श्रेय है।

मूल—बारन ! बारन मति करै ये सारँग सुखदानि।
हे मदमाते अंधमति ह्वैहै तुव छबि हानि॥
ह्वैहै तुव छबि हानि नहीं छति कछु अलिगन की।
करिहैं प्रभा प्रकास बिकच बर बारिज-बन की॥
बरनै दीनदयाल जाय जान्यो नहिं कारन।
बिभौ बिनासि बिसोक बिपिन में बिहरै बारन॥ ७३॥

शब्दार्थ—बारन = (१) हाथी, (२) निवारण करना, रोकना। सारँग = भ्रमर। छति = ( क्षति ) हानि। बिकच = खिला हुआ। बारिज = कमल। बिभौ = ( विभव ) ऐश्वर्य।

भावार्थ—हे मदोन्मत्त मंदबुद्धि हाथी ! मद के लोभ से आए हुए इन सुखदायी भ्रमरों को अपने कपोलों पर बैठने से मना मत करो, ऐसा करने से भौंरों की तो कुछ भी हानि नहीं होगी, किन्तु तुम्हारी ही शोभा नष्ट हो जायगी। भौंरों की क्या हानि, अगर तुम हटा दोगे तो ये सुन्दर खिले हुए कमलों के बन की शोभा बढ़ावेंगे। हे हाथी, तुम अपने ऐश्वर्य के चिह्नस्वरूप इन भौंरों का नाश करके इस बन में सुख से ( विगतशोक होकर ) बिहार कर रहे हो, इसका कोई कारण समझ में नहीं आता।

तात्पर्य—जिनसे अपनी शोभा बढ़ती है, अपना यश फैलता है; उनका तिरस्कार नहीं करना चाहिए।

मूल—आयो हुतो सरोज तजि बड़ी दूर तें भौंर।
दान देन पीछे रह्यो मारि गिरायो ठौर॥

मारि गिरायो ठौर गौर गज ! कछू न कीनो ।
तुम तो कृतघन बने प्रभा तजि अपजस लीनो ॥
बरनै दीनदयाल बूझि बेदन यों गायो ।
सुख यह जग के माहँ समद तें किनको आयो ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—हुतो=था । दान=(१) दान, (२) हाथी का मद । गौर=(अ०) ध्यान । प्रभा=शोभा । समद तें=मतवाले से । बूझि=समझ लो ।

भावार्थ—हे हाथी ! भौंरा कमल को छोड़ कर बड़ी दूर से तुम्हारे आश्रय में आया था, पर तुमने उसकी ओर कुछ भी ध्यान न दिया, और अपने मद का दान देना तो दूर रहा तुमने उसको उसी जगह मार डाला । उसके द्वारा तुम्हारी शोभा बढ़ती थी, सो उस शोभा से हीन तो हुए ही और कृतघ्न बनकर अपयश भी कमाया देखो, वेदों ने भी यही गाया है कि इस संसार में मतवाले से सुख किसको मिल सकता है । इस बात को अच्छी प्रकार समझ लो ।

तात्पर्य—बड़ों की शोभा छोटों से ही होती है । अतः अपने भरोसे पर आए हुए किसी व्यक्ति को दुःख देना अपनी महत्ता पर बट्टा लगाना है वृथा घमंड में भरकर अपने आश्रितों को निराश करनेवाले को सुख कभी मिल नहीं सकता ।

मूल—भूपन तें आदर लयो दल को भयो सिँगार ।
अजहूँ तजी न बानि गज सिर पर डारत छार ॥
सिर पर डारत छार झूल डारे मखमल की ।
चल्यो हठीली चाल भयो जग सीमा बल की ॥
बरनै दीनदयाल होत नहिं कछु रूपन तें ।
छुटै न बंस सुभाय पाय आदर भूपन तें ॥ ७५ ॥

शब्दार्थ—दल =सेना । दल को भयो सिँगार=चतुरंगिणी सेना में हाथियों की सेना सर्वश्रेष्ठ समझी जाती है । बानि=(वर्ण) आदत । छार=

धूल । झूल = पाखर । मखमल = एक प्रकार का बहुमूल्य कपड़ा । भयो जग सीमा बल की = संसार में बल की सीमा माने जाने लगे, संसार में सबसे बड़े बली माने गये । रूपन = रूपों से, सिंगार बनाव से ।

भावार्थ—हे हाथी, राजाओं ने तुम्हारा सम्मान किया, और चतुरंगिणी सेना से तुम आभूषण भी माने गये, तुम्हारे ऊपर मखमल की झूल भी डाली गई, खूब शान से मस्तानी चाल भी चलने लगे, संसार में सबसे बलवान् भी तुम गिने गये, इतना सब कुछ हुआ, पर तुमने अपने सिर पर (अपनी ही सूँड़ से) धूल डालने की आदत तब भी नहीं छोड़ी । ठीक है, केवल रूप से कुछ नहीं होता । अपना वंश-परंपरागत स्वभाव राजाओं से आदर पाने पर भी नहीं छूट सकता ।

तात्पर्य—वंशक्रमागत सहज प्रकृति किसी प्रकार नहीं छूटती ।

(तुरंग)

मूल—घोरे नीकी चाल चल जातें होय बखान ।
छाँड़ि ऐब दै आड़ को पछलत्तहु जनि ठान ॥
पछलत्तहु जनि ठान सान सों कदम दीजिये ।
बहकि चलै मति राह सीख सिर मानि लीजिये ॥
बरनै दीनदयाल समर तें भागि न भोरे ।
मालिक के सँग घाय खाय बनिहै हे घोरे ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—तुरंग = (त्वरा = वेग + ग = गमन करने वाला) शीघ्रगामी, घोड़ा । (विहग शब्द की भाँति इसके भी तीन रूप होते हैं "तुरग, तुरंग, तुरंगम" । इसी प्रकार "भुजग, भुजंग, भुजंगम" होते हैं ।) बखान = प्रशंसा, बड़ाई । ऐब = (अ०) अवगुण । आड़ को = अड़ने का । पछलत्तहु जनि

ठान=पीछे की टाँगों को उठा कर दुलती भी मत झाड़ो। सान (शान) सों= अकड़ कर, सिर ऊँचा करके। बहकता=राह से कुराह चलना। समर=युद्ध। घाय=(घात) घाव। बनि है=शोभा है। भोरे=भूल कर भी।

भावार्थ—हे घोड़े! ऐसी अच्छी चाल चलो जिससे लोग तुम्हारी चाल की प्रशंसा करें। अपने अड़ने की बुरी आदत छोड़ दो, दुलत्ती भी मत झाड़ा करो, खूब अकड़ कर (सिर ऊँचा करके) चलो, पर राह छोड़ कर मत चलो। मेरी इन सब शिक्षाओं को शिरोधार्य करो। हे घोड़े! युद्ध भूमि से तो कभी भूल करके भी मत भागना। अपने स्वामी के साथ चोट खाकर मरने में ही तुम्हारा गौरव है, तुम्हारी शोभा है।

तात्पर्य—वीर पुरुष अपने मन को पथच्युत होने से रोकते हैं और अपने अवगुणों को दूर कर देते हैं। यही कारण है कि वे किसी से नहीं डरते, किसी के सम्मुख अपना सिर नीचा नहीं करते। सबके सामने गौरव से सिर उठा कर चलते हैं। जिससे लड़ना होता है सम्मुख लड़ते हैं, पीछे से वार नहीं करते। युद्ध-भूमि में कभी पीठ नहीं दिखाते, और अपने स्वामी के कार्य के लिये अपने प्राणों का निछावर करना ही अपना परम पवित्र कर्तव्य समझते हैं, इसी में अपनी शोभा समझते हैं।

(कुरङ्ग)

मूल—धावै कहा कुरंग ए नहिं हैं तोय तरंग।<br>
ए तो घोर निदाघ की रवि-किरनैं बहु रंग॥<br>
रवि-किरनैं बहु रंग देश मारू यह जानो।<br>
इतै न छाया कहीं नहीं विश्राम ठिकानो॥<br>
बरनै दीनदयाल मुधा जल प्यास न जावै।<br>
हे कुरंग तजि गंग कहा मारू जल धावै॥ ७७॥

शब्दार्थ—देशमारू =मरुस्थल, रेगिस्तान, । मुधा=व्यर्थ, कृत्रिम । मारू-जल=मृगतृष्णा का जल ।

भावार्थ—हे हरिन ! जिन्हें तू जल समझ रहा है ये जल की तरंगें नहीं हैं । इनके पीछे दौड़ कर क्यों नाहक हैरान होता है ? ये तो प्रचंड ग्रीष्म के सूर्य की अनेक रंग की किरणें हैं ( मृगतृष्णा का जल है । ) इस देश का मरुस्थल समझो । यहाँ न कहीं छाया मिलेगी, न कहीं विश्राम करने को उपयुक्त स्थान ही मिलेगा । हे कुरंग गंगा के जल को छोड़कर मृगतृष्णा के पीछे क्या भटकता है ! यह वास्तविक जल नहीं है, केवल देखने ही भर को है, इससे प्यास नहीं बुझ सकती ।

तात्पर्य—मनुष्य सुख और आनंद की प्राप्ति में सांसारिक विषय वासनाओं का अवलंबन लेता है । पर उसकी तृष्णा बुझती नहीं, प्रत्युत और भी बढ़ती ही जाती है । विषय-वासना की लिप्सा उसके मन को कृत्रिम आनंद का लोभ दिखलाकर अपनी ओर खींचती है सही, पर इससे उसकी तृप्ति नहीं होती, उसके चित्त को विश्राम नहीं मिलता । सच्चा सुख, वास्तविक आनन्द सांसारिक पदार्थों के त्याग एवं परमात्मा की उपासना से ही मिल सकता है ।

( कस्तूरी मृग )

मूल—तेरे ही बिच वस्तु वह जाको जगत सुगंध ।
खोजत कहा कुरंग तू ! अंबक आछत अंध ॥
अंबक आछत अंध कहा दिसि दिसि भरमै है ।
अपनी दिसि अवलोक तबै वाको सुख पैहै ॥
बरनै दीनदयाल मिलै नहिं बाहर हेरे ।
अन्तर्मुख ह्वै ढूँढ़ सुगंध सबै घट तेरे ॥ ७८ ॥

शब्दार्थ—जगत=प्रकट है। अंबक आछत अंध=( मुहावरा ) आँखें होते हुए भी अंधे हो, प्रत्यक्ष वस्तु को भी नहीं देखते। अंबक=( सं० ) नेत्र। आछत=( सं० अस्ति ) होते हुए भी। हेरे=ढूँढ़ने पर भी। अंतर्मुख ह्वै= अन्त:करण में। घट=शरीर।

भावार्थ—हे मृग ( कस्तूरीमृग ), जिसकी सुगन्ध तुमको जान पड़ती है वह वस्तु ( कहीं दूर नहीं है ) तुम्हीं में है। तुम खोजते क्या हो ! आँख के रहते हुए भी अन्धे की तरह उसकी खोज में इधर उधर क्या भटकते हो ! ज़रा अपने शरीर की ओर देखो, तभी तुमको ( सुगंधित द्रव्य अपने ही में जानकर ) सच्चा सुख मिलेगा। बाहर इधर उधर खोजने से तुम्हें उस सुगन्धित द्रव्य का पता नहीं लग सकता, ज़रा अपनी ही ओर आँख उठाकर देखो, तुम्हारे अंग अंग में वह सुगन्धित पदार्थ वर्तमान है।

तात्पर्य—अरे मनुष्य ! सच्चिदानन्द परब्रह्म की खोज में इधर उधर क्या भटकता फिरता है ? तू उस सर्व-व्यापी को भी नहीं देख सकता। परमात्मा को बाहर यत्र तत्र खोजने की आवश्यकता नहीं वह अपने ही अन्तकरण में वर्तमान है ! अतः अपने ही मन में परमात्मा का चिंतवन कर।

विशेष—कस्तूरी-मृग काश्मीर में प्रचुरता से पाया जाया है। 'कस्तूरी' इसी मृग की नाभि से निकाली जाती है। कहा जाता है कि मृग कस्तूरी की सुगन्ध से मुग्ध हो उसकी खोज में इधर उधर भटकता फिरता है। उसको यह नहीं मालूम होता कि कस्तूरी उसी की नाभि में है।

( जंबुक )

मूल—कैसो आयो काल यह गरजन लगे शृगाल।
गाल बजाय कुटिल कहैं कहा केहरी माल ॥

कहा केहरी माल ससन के बीच बकैं हैं ।
पीछे निंदैं नीच मीच को नाहिं तकैं हैं ॥
बरनै दीनदयाल कठिन दिन आयो ऐसो ।
ये बद इद मद करैं जंबुकन के गन कैसो ॥७६॥

शब्दार्थ—काल=समय । शृगाल=जंबुक, सियार, गीदड़ । कुटिल=दुष्ट । माल=वस्तु । ससन=( शशन ) खरगोशों । मीच=( सं० मृत्यु, प्रा० मिच्चु ) मौत । तकैं हैं=ताकते, देखते हैं । बद=बुरे, खोटे । इद मद करैं=बहुत घमंड करते हैं ।

भावार्थ—यह कैसा उलटा समय आ गया है ! गीदड़ भी अब गरजने लगे हैं । ये दुष्ट गाल बजा कर कहते हैं कि हमारे सामने सिंह भी क्या वस्तु है ? ये नीच यह नहीं देखते कि इनकी मौत निकट है, किन्तु खरगोशों के बीच दम भरते हैं और सिंहों की निन्दा करते हैं । देखो तो, यह समय ही विपरीत आ गया है कि ये दुष्ट गीदड़ भी अब घमंड में भर कर बहकने लग गए हैं ।

तात्पर्य—क्षुद्र प्रकृति के निर्बल मनुष्य शक्तिमंतों का बिगाड़ तो कुछ सकते नहीं, सामने देखते ही उनकी नानी मर जाती है, पर पीठ पीछे अपने ही समान लोगों में बड़ी डींगें मारते हैं कि वे हमारा क्या कर लेंगे । पीठ पीछे निन्दा करना ही उनका काम है ।

( सूकर )

मूल—सुनि रे सूकर नीचतर कहा करै अभिमान ।
जीत्यो मैं यों बकत क्यों अति मृगपति बलवान ॥
अति मृगपति बलवान जगत जानै तिहि बल को ।
तू मलीन मतिहीन सदा सेवै मलथल को ॥

बरनै दीनदयाल आपने बल को गुनि रे।
कहाँ प्रबल मृगराज कहाँ लघु सूकर सुनि रे ॥ ८० ॥

शब्दार्थ—नीचतर=नीच से भी नीच। मृगपति=सिंह।

भावार्थ—अरे अधम सुअर ! सुन, तू इतना इतराता क्यों है ? "मैंने सिंह को भी जीत लिया" ऐसा कहकर व्यर्थ क्यों डींग मारता है। सिंह को जीतना कोई साधारण काम नहीं है। वह बड़ा बलवान् जन्तु है। सारा संसार उसकी सामर्थ्य से परिचित है। तू तो अशुद्ध एवं निर्बुद्धि है और सदा गन्दे स्थलों पर निवास करता है। अरे नीच सुअर ! ज़रा अपने बल का विचार तो कर, कहाँ प्रबल बलशाली सिंह और कहाँ तू तुच्छ सुअर, तेरी और सिंह की क्या बराबरी।

तात्पर्य—( अपनी जितेंद्रियता आदि की व्यर्थ डींग मारनेवाले नीच लोगों पर यह अन्योक्ति घटित होती है। ) अरे नीच, तू अपनी जितेन्द्रियता पर क्यों व्यर्थ इतराता है। इन्द्रियों को वश में करना कोई आसान काम नहीं है। सारा संसार—बड़े बड़े योगीश्वर—इस बात से परिचित हैं। जब बड़े बड़े महात्मा, तपस्वी, मुनिजन तक अपने को संयत नहीं रख सके तो महा-पापी, निर्बुद्धि, और दुष्कर्मों में ही लिप्त तेरी सामर्थ्य क्या कि तू इंद्रियविजयी हो सके !

## ( शशक )

मूल—बाँके सर नाके धरे करे भयानक भेख।
किते छिप्यो तून ओट मैं, ससे ! खोलि दृग देख ॥
ससे खोलि दृग देख भाग आनँद घन बन में।
ना तो तोकों सही हन्यो चाहत कोउ छन में ॥
बरनै दीनदयाल कहा ह्वैहै दृग ढाँके।
डर छुटिहै नहिं व्याध लिये सर आवत बाँके ॥ ८१ ॥

शब्दार्थ— बाँके=तीक्ष्ण। नाके=कोने। बाँके सर नाके घरे=अपने तेज़ बाणों से तुझको घेरे हुए। ससे=हे शशक! न तो=(न तु) नहीं तो। सही=सचमुच।

भावार्थ—हे शशक! तृण (घास) की आड़ में क्या छिपा बैठा है. ज़रा आँख खोलकर सामने तो देख। अपने तीक्ष्ण बाणों को संधान कर यह विकराल मूर्ति व्याधा तुझे घेरे हुए है। अपना भला चाहता है तो किसी आनंद-पूर्ण घने बन में भग जा (जहाँ किसीका भय नहीं है)। नहीं तो सचमुच कोई व्याधा तुझको क्षण भर में मारना ही चाहता है। अरे शशक; आँखे मूँद लेने से क्या होगा! व्याधा (बहेलिया) तो तीक्ष्ण बाण लिये तुझे मारने के लिये आता ही है, इस प्रकार देखी अनदेखी करने से तेरा डर नहीं छूट जायगा।

तात्पर्य—(अपने को अमर समझकर सुखभोग में ही लिप्त रहनेवाले व्यक्ति को चेतावनी है।) अरे मनुष्य, तू यह जानते हुए भी कि तेरी मौत निकट है इस प्रकार अजान बन कर क्यों बैठा है! अब भी समय है। जा शीघ्र 'सच्चिदानंद' की शरण ले। इस प्रकार अनजान बनने से तो तू अमर हो नहीं सकता। मृत्यु तुझे घेरे है। वह अपना काम करेगी ही।

(दोहा)

यह अन्योक्ति-सुकल्पद्रुम साखा दुतिय बखानि।
बिरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि ॥ ८२ ॥

इति श्रीकाशीनिवासी दीनदयालगिरि-विरचिते
अन्योक्ति—कल्पद्रुम—ग्रन्थे
द्वितीया शाखा समाप्ता

---

# तीसरी शाखा

---

## मनुष्य ज़ाति विशेष

### ( ब्राह्मण )

मूल—हे पांडे यहि बात को को समझै या ठाँव ।
इतै न कोऊ है सुधी यह ग्वारन को गाँव ॥
यह ग्वारन को गाँव नाँव नहिं सूधे बोलैं ।
बसैं पसुन के संग अंग ऐंड़े करि डोलैं ॥
बरनै दीनदयाल छाँछ भरि लीजै भांडे ।
कहा कहौ इतिहास सुनै को इत हे पांडे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—पांडे =( पाण्डेय ) पंडितजी, ( सदसद्विवेकिनी बुद्धि को 'पंडा' कहते हैं । जिसमें भले बुरे का विवेक हो वह 'पाण्डेय' या 'पंडित' है ।) ठाँव =( स्थान ) जगह । इतै = यहाँ । सुधी =( सु = अच्छी + धी = बुद्धि ) बुद्धिमान् । अंग ऐंड़े करि = अकड़ कर । भाँडे =( सं० भाण्ड ) बर्तन में ।

भावार्थ—हे पंडित जी ! यह तो अहीरों की बस्ती है, बुद्धिमान् तो यहाँ कोई है ही नहीं । ये ग्वाले लोग पशुओं ( मूर्खों ) के साथ रहते हैं, बड़ी शान से अकड़ अकड़ कर चलते हैं, और सीधे मुँह बात भी नहीं करते । इसलिए आप यहाँ कथा पुराण क्या बाँचते हो ! कोई सुने भी तो ! आपकी विद्वत्ता को समझनेवाला पंडित यहाँ कोई नहीं है । हाँ, यहाँ आप छाँछ जितनी चाहें ले सकते हैं ( पर गुणों की क़दर यहाँ नहीं होने की ) ।

तात्पर्य—विद्वान् या कलावान को चाहिए कि अपने गुणों को मूर्खों के समाज में न दिखलाकर किसी गुणग्राही सज्जन के सम्मुख प्रकाश करे।

अलंकार—अन्योक्ति।

( क्षत्रिय )

मूल—पैहौ कीरति जगत में पीछे धरौ न पाँव।
छत्रीकुल के तिलक है महासमर या ठाँव॥
महासमर या ठाँव चलैं सर, कुंत, कृपानैं।
रहे वीरगण गाजि पीर उर में नहिं आनैं॥
बरनै दीनदयाल हरखि जौ तेग चलैहौ।
ह्वैहौ जीते उसी मरे सुरलोकहिं पैहौ॥ २॥

शब्दार्थ—सर=( शर ) बाण। कुंत=भाला, बरछी। कृपाण=तलवार। गाजि रहे हैं=गर्ज रहे हैं, ललकार रहे हैं। तेग=( अरबी 'तेग' ) तलवार।

भावार्थ—हे क्षत्रिय शिरोमणि! यहाँ भीषण युद्ध हो रहा है, बाणों, भालों और तलवारों के असंख्य प्रहार चारों ओर से हो रहे हैं, वीरगण अपने मन से भय को दूर कर ( निर्भय होकर ) एक दूसरे को ललकार रहे हैं और पीड़ा को कुछ ध्यान ही में नहीं लाते। दीनदयालजी कहते हैं कि यदि प्रसन्न चित्त से ( उत्साहपूर्वक ) युद्ध करोगे तो जीतने पर यश प्राप्त करोगे। अगर मर गये ( तो भी कोई चिन्ता नहीं ) तुम्हें स्वर्गलोक मिलेगा।

तात्पर्य—सत्कार्य में कभी पीछे न हटना चाहिए। जीजान से प्रयत्न करने पर यदि सफलता मिल गई तो अच्छा ही है, न भी मिली तो दुःख की कोई बात नहीं। अपने मन में कर्तव्य पालन करने का सन्तोष तो होगा।

( वैश्य )

मूल—बारे को तू बनिक है सौदा लै इहि हाट।
चौमुख बनो बजार है बहु दुकान को ठाट ॥
बहु दुकान को ठाट कोऊ साँची कोऊ झूठी।
आछी भाँति बिचारि वस्तु लै बड़ी अनूठी ॥
बरनै दीनदयाल खोउ धन वृथा न प्यारे।
घर आवैगो काम इतै सब लूटनवारे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—बारे को=बचपन से ही। बनिक=( वणिक् ) बनिया, व्यापारी। हाट=( हट्ट ) बाजार। चौमुख=( चतुर्मुख ) चारों दिशाओं में, चौक। अनूठी=अनोखी, अद्भुत।

भावार्थ—हे वैश्य, तू खानदानी बनिया है ( अपने काम में दक्ष और अनुभवी है ), अतः इस बाज़ार में सौदा कर ले। देख, चौमुखा बाज़ार लगी हुई है, और बहुत सी दूकानें सजी हुई हैं, किसी दूकान का माल खरा है, किसी का खोटा। अतः हे प्यारे, खूब सोच विचार कर कोई बड़ी अनुपम वस्तु ले, और निस्सार वस्तुओं में व्यर्थ धन मत खर्च कर यहाँ तो सब लूटने वाले हैं ( अतः अपने धन को सुरक्षित रख )। ( सौदा करने के उपरांत ) यदि धन बच भी गया तो घर जाने पर काम आवेगा।

तात्पर्य—संसार एक बाज़ार है, समय धन है, और सद्सत्कर्म ही इस हाट के विक्रय्य पदार्थ हैं अपने समय का एक पल भी व्यर्थ न खोकर किसी सत्कार्य में—परमात्मा के भजन में—लगाना चाहिए। काम, क्रोध, लोभ, मोह आदि इस ससाररूपी हाट के लुटेरे हैं और मनुष्यों के चित्त को सत्कार्य-रूपी अनुपम वस्तु से हटा कर असत्कर्मरूपी बुरी वस्तु की ओर आकृष्ट करते

हैं। इसलिए विवेकी पुरुष का कर्तव्य है कि इन लुटेरों से अपने समयरूपी धन की रक्षा करे और इहलोक परलोक दोनों में सुयश प्राप्त करे।

मूल—भारी भार भरयो बनिक तरिबो सिन्धु अपार।
तरी जरजरी फँसि परी खेवनिहार गँवार॥
खेवनिहार गँवार ताहि पर पौन झकोरै।
रुकी भँवर में आय उपाय चले न करोरै॥
बरनै दीनदयाल सुमिरि अब तू गिरधारी।
आरत जन के काज कला जिन निज संभारी॥ ४॥

शब्दार्थ—भार = बोझ। तरी = नैया, छोटी नाव। जरजरी = (जर्जरी) पुरानी। खेवनिहार = खेनेवाला; मल्लाह। पौन = (पवन) वायु। भँवर = पानी का चक्करदार बहाव। निज जिन कला सँभारी = जिन्होंने अपनी कला प्रकट की, अवतार धारण किया। आरत = (आर्त) दुःखी।

भावार्थ—हे वणिक, तुम्हें अपार समुद्र तैरना है, नैया है तुम्हारी बहुत पुरानी, उस पर बेअंदाज़ बोझ लाद दिया है, माँझी भी महा मूर्ख है, तिसपर भी आँधी के झोंके से डगमगाती हुई भँवर में आकर रुक गई है और करोड़ों उपाय करने पर भी भँवर से उसका निकलना असंभव है। बस अब केवल एक ही उपाय रह गया है। वह यह कि अब तुम भक्तों के कष्टों को दूर करने के निमित्त अवतार धारण करनेवाले भगवान् का स्मरण कर लो, (तुम्हारा कष्ट अवश्य दूर होगा)।

तात्पर्य—सांसारिक मोहमाया में फँसे हुए व्यक्ति के प्रति कवि का कथन है कि अभी तुम्हें अपार भवसागर को तैरना है, वृद्धावस्था सिर पर सवार है, पापों का बोझ अपने ऊपर लादे हुए हो, काम क्रोधादि तुम्हारे चित्त को और

भी चलायमान कर रहे हैं, तिसपर तुम्हारा पथप्रदर्शक भी महा मूर्ख है, अब तुम मायाजाल में इस प्रकार फँस गये हो कि अनेक प्रयत्न करने पर भी तुम्हारा इससे उद्धार पाना कठिन है। बस, अब ईश्वर का स्मरण करने के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं रहा, अतः भक्त-भय-भंजन भगवान् का भजन कर लो।

( माली )

मूल—माली तेरे बाग में चंदन लगो विसाल।
ताप करै किन दूरि तू खोजत कितै बिहाल॥
खोजत कितै बिहाल तिहूँ गुन यामैं देखो।
कटु अरु सीत सुगंध भली विधि करो परेखो॥
बरनै दीनदयाल भूलि भरमै कित खाली।
जाको बरनै बेद सोई यह चंदन माली॥ ५॥

शब्दार्थ—चंदन=चंदन वृक्ष। विसाल=बड़ा। ताप=गर्मी, दुःख। किन=क्यों नहीं। कितै=किधर। बिहाल=व्याकुल होकर। तिहूँ=तीनों। परेखो करो=( परीक्षा ) जाँच करो। भरमै=भ्रमता है, भटकता है।

भावार्थ—हे माली, तू शीतलता की खोज में व्याकुल होकर। कहाँ मारा मारा फिर रहा है? तेरे ही बगीचे में बड़ा भारी चंदन का वृक्ष लगा हुआ है, उससे तू अपने तापजन्य दुःख को दूर क्यों नहीं कर लेता? अच्छे प्रकार विचारपूर्वक देखेगा तो तुझको मालूम होगा कि इस ( चंदन ) में ताप दूर करने के लिये तीनों उपयुक्त गुण—कड़वापन, शीतलता और सुगंध—वर्तमान हैं। तू व्यर्थ ही कहाँ भटकता फिरता है, यह वही चंदन-वृक्ष है जिसकी प्रशंसा बेदों में गाई गई है।

विशेष—चंदन में कटुता, शीतलता और सुगंध ये तीन गुण होते हैं, और आयुर्वेद के अनुसार ताप ( गर्मी ) से होनेवाले रोगों के लिये वही ओषधि लाभप्रद हो सकती है जिसमें उक्त तीनों गुण वर्तमान हों।

तात्पर्य—परमात्मा प्रत्येक व्यक्ति के अन्तःकरण में वर्तमान है। उसकी खोज में दर दर भटकने की आवश्यकता नहीं। उस त्रिगुणात्मक ( सत्व-रज-तमो गुण से युक्त) परमात्मा का अपने ही मन में ध्यान करो। इससे तीनों प्रकार के ( दैहिक, दैविक, भौतिक ) ताप दूर हो जाएँगे।

मूल—आली चंदन की न क्यों पाली माली कूर।
मतवाली मति तो भई सींचत बेरि, बबूर ॥
सींचत बेरि, बबूर दुखद कंटक हैं ताके।
सेवत क्यों नहिं अंध गंध मुदकर बर जाके ॥
बरनै दीनदयाल सबै श्रम जैहै खाली।
पालत है किन ताप-समन चंदन की आली ॥ ६ ॥

शब्दार्थ—आली=पंक्ति, क़तार। कूर=नीच। मुदकर=आनन्द देने वाले। खाली=व्यर्थ, निष्फल। ताप-समन=गर्मी शांत करनेवाले।

भावार्थ—हे नीच माली, तू चन्दन के वृक्षों की क़तार क्यों नहीं पालता? जान पड़ता है कि दुःखदायी कँटीले बेर और बबूर वृक्ष सींचते सींचते तेरी बुद्धि मतवाली होगई है। अरे अंधे, उस चन्दन के वृक्ष की सेवा क्यों नहीं करता जिस की सुगंध आह्लादकर है।

तेरा बेर और बबूर सींचने का सारा परिश्रम निष्फल जायगा, अतः ताप को नाश करनेवाले चन्दन के वृक्षों को क्यों नहीं सेता।

तात्पर्य—प्रत्येक कार्य को उसके हानि लाभ पर विचार करके आरंभ करना चाहिए, जिस कार्य का परिणाम हितकर हो उसी में श्रम करना श्रेयस्कर है।

मूल—माली नींब रसाल सँग लाय करी अनरीत।
काग आम, पिक नींब पै बैठारे विपरीत ॥
बैठारे बिपरीत रीति तू कछू न बूझै।
स्याम स्याम सब एक नहीं ऐगुन गुन सूझै ॥
बरनै दीनदयाल कौन यह तेरी चाली।
कोकिल तें करि ऊँच काग को मानत माली ॥ ७ ॥

शब्दार्थ—रसाल = आम। अनरीति = (अरीति) अनुचित। पिक = कोकिल। विपरीत = विरुद्ध। ऐगुन = अवगुण।

भावार्थ—हे माली, पहिले तो तुमने आम और नीम के वृक्ष एक साथ लगा कर ही अनुचित किया (दोनों को अलग अलग लगाना चाहिए था), फिर आम के वृक्ष पर कौए को, तथा नीम के पेड़ पर कोकिल को बैठा कर और भी उलटा काम किया। (उचित तो यह था कि कोकिल को आम पर बैठाते और काग को नीम पर) तुमको गुण और अवगुण की पहिचान नहीं है। किससे कैसा व्यवहार करना चाहिए यह भी तुम नहीं जानते। काले काले सभी एकसे नहीं होते। हे माली, यह तुम्हारा कैसा बर्ताव है जो तुम कौए को कोकिल से बढ़कर मानते हो।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति ऐसे लोगों पर है जिनके लेखे "सब धान बाइस पसेरी" है। जो विद्वान् और मूर्ख को एकसा समझते हैं—विद्वानों का कोई विशेष सम्मान नहीं करते।

( कुलाल )

मूल—कैसो मदमें है भरो याकी करो पिछान ।
यहि कुलाल को देखिये अहो प्रपंच-निधान ॥
अहो प्रपंच-निधान रंच काहू नहिं मानै ।
आपै बने विरंचि समो बहु रचना ठानै ॥
बरनै दीनदयाल समै अब आयो ऐसो ।
विधि की समता करै कुलाल कूर यह कैसो ॥ ८ ॥

शब्दार्थ—मद=घमंड । पिछान=पहिचान । कुलाल=कुम्हार । प्रपंच-निधान=( १ ) ब्रह्मा, जो पृथ्वी, तेज, वायु और आकाश इन पाँचों तत्वों से सारी सृष्टि ( प्रपंच ) रचता है, ( २ ) कुंभकार, जो उक्त पाँच तत्वों से ही नाना प्रकार के पदार्थों की सृष्टि करता है । रंच=थोड़ा भी । आपै=स्वयं ही । समता=बराबरी ।

भावार्थ—यह कुम्हार किस प्रकार घमंड से भरा है, ज़रा इसकी परख तो करो । इसे देखो ओह ! पंचतत्वों के सहारे कैसी कैसी रचना करता है । बड़ा रचनाकार है, किसी को कुछ समझता ही नहीं है । आप स्वयं ब्रह्मा समान बना हुआ बहुत प्रकार के भाँड़े बनाता है । दीनदयाल कहते हैं कि अब ऐसा समय ही आगया है । ( देखो ) यह कुम्हार कैसी नीच प्रकृति का है कि ब्रह्मा की बराबरी करता है ।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति मन पर घटती है, जो अनेक प्रकार के संकल्प विकल्प किया करता है ।

( दरजी )

मूल—दरजी सीवत तोहि गे दिन बहु बरनै कौन ।
कोन बीच बसि क्या करै अंधकार इहि भौन ॥

अंधकार इहि भौन आय कै छाय रह्यो है।
टूटि गई है सुई सूत अरुझाय रह्यो है॥
बरनै दीनदयाल लोग सब अपने गरजी।
जामा जीरन भयो कहा अब सीवै दरजी॥ ६ ॥

शब्दार्थ—कोन=(कोण) कोना। भौन=(भवन) घर। गरजी=स्वार्थी, मतलबी। जामा=(फा०) कपड़ा। जीरन=(जीर्ण) पुराना।

भावार्थ—हे दरजी, कपड़ा सीते सीते तेरी न जाने कितनी अवस्था बीत गई। इस घर में तो अंधकार फैला हुआ है, सुई टूट गई है, सूत उलझ गया है, तू यहाँ कोने में बैठा हुआ क्या कर रहा है? हे दरजी, यह कपड़ा तो पुराना हो चुका है अब तू इसे क्या सीता है? हाँ, ठीक है, सारा संसार स्वार्थी है। अपनी गरज की धुन में लाभ हानि सूझते ही नहीं।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति मोह में फंसे हुए मनुष्य पर घटती है जो वृद्ध होने पर भी ईश्वर-भजन में न लगकर सांसारिक व्यवहारों में ही उलझा रहता है।

(रजक)

मूल—एरे मेरे धोबिया तोसों भाखत टेरि।
ऐसी धोनी धोय जो मैलो होय न फेरि॥
मैलो होइ न फेरि चीर इहि तीर न आवै।
साबुन लाउ विचार मैल जातें छुटि जावै॥
बरनै दीनदयाल रंग चढ़िहै चहुँ फेरे।
जो तू दैहै धोय भले जल उज्जल एरे॥ १० ॥

शब्दार्थ—चीर=वस्त्र। तीर=तट (तालाब या नदी के तट पर) साबुन=(अरबी) कपड़ा साफ करने का मसाला। लाउ=लगाओ। चहुँ फेरे=चारों ओर।

भावार्थ—अरे धोबी, तुझसे मैं पुकार के कहता हूँ कि कपड़े इस प्रकार धो जो फिर मैले न हों, और उनको (धोने के लिये) फिर तालाब (या नदी) के तट पर न लाना पड़े। देख, .खूब विचार कर (ठीक अंदाज से) साबुन लगाना, जिससे कपड़ों का मैल छूट जाय। अगर तू इन कपड़ों को साफ़ जल से धो देगा तो इनमें रंग अच्छी तरह से चढ़ेगा।

तात्पर्य—यदि अपने अंतःकरण को निष्कपट और पवित्र बना लोगे तो जन्म न लेना पड़ेगा, स्वच्छात्मा होने पर ही ईश्वर-कृपा का रंग चढ़ेगा और तुम मुक्त हो जाओगे।

### (नट)

मूल—धारत नट बहु स्वाँग हौ कला अनेक प्रवीन।
कबहूँ करी न वह कला जहाँ कला सब लीन ॥
जहाँ कला सब लीन कला सफला है सोई।
और कला जग चला जथा चपला घन होई ॥
बरनै दीनदयाल भागि जनि आगि निहारत।
धरे सती को स्वाँग कहा पग पीछे धारत ॥ ११ ॥

शब्दार्थ—प्रवीन = (प्रवीण) चतुर। वह कला = ईश्वर-भजन। जहाँ कला सब लीन = जिस कला में सभी कलाओं का समावेश हो जाता है। चला = चंचला नाशवान, क्षणस्थायी। चपला = बिजली।

भावार्थ—अरे नट, तुम अनेक प्रकार के स्वाँग रचते हो, और नाट्यकला में दक्ष हो। किंतु तुमने कभी वह कला (ईश्वर भजन) नहीं की जिसमें सभी कलाओं का अन्तर्भाव हो जाता है। क्योंकि कला तो वही फलदायिनी है, और सब कलाएँ ऐसी ही क्षणस्थायी (अतएव निष्फल) हैं जैसे बादल में

बिजली ! अगर तुमने सती का स्वाँग ( वेष ) रचा हो तो पीछे क्यों हटते हो ? आग को देख कर भागो मत ।

तात्पर्य—इस संसार में जन्म लेकर मनुष्य को अनेक कर्म करने के साथ साथ कुछ हरिभजन भी अवश्य करना चाहिए। बिना ईश्वर के भजन के अन्य सब कर्म निष्फल हैं। यह संसार कर्मभूमि है। अतः मनुष्यदेह धारण करके कर्तव्य पालन करने से हटना सरासर अनुचित है ।

मूल—राजा ह्याँ है आँधरों मूक बधिर अज्ञान।
सभा सबै तैसी भरी ताने कहा बितान ॥
ताने कहा बितान अरे नट बुद्धि बिहीने।
लखै सराहै कौन सुनैगो, द्रग-श्रुति-हीने ॥
बरनै दीनदयाल सुनाट्य कला सुर बाजा।
ह्वैहैं बन के फूल, भूल मति तू गुनि राजा ॥ १२ ॥

शब्दार्थ— ह्याँ=( यहाँ ) इस सभा में। बितान=चँदोवा। द्रग=आँख। श्रुति=कान। सुर=( स्वर ) षड्ज, ऋषभ, गांधार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद, संगीत के सप्त स्वर ( सा, रे, ग, म, प, ध, नि )। बाजा=( सं० वाद्य )। बन के फूल ह्वैहैं=निरर्थक हो जाएँगे, किसी के काम न आएँगे। ( जैसे बन में फूल खिलते हैं किंतु गुणग्राहक के अभाव में वे किसी के काम नहीं आते और योंही गिरकर सूख जाते हैं वैसे ही ये सब नाट्यकला आदि भी इन मूर्खों की सभा में व्यर्थ ही जाएँगे, कोई इनको पूछेगा भी नहीं )। गुनि राजा=राजा समझ कर।

भावार्थ—अरे निर्बुद्धि नट, यहाँ राजा अंधा, गूंगा और बहिरा है, और सारी सभा ऐसे ही लोगों से भरी है, अतः तू अपनी कला-कुशलता

प्रदर्शित करने के लिए यहाँ चँदोवा क्यों तान रहा है? यहाँ तो सब आँख कान से रहित हैं, कौन देखेगा, कौन सुनकर तेरी कला की प्रशंसा करेगा? तू इसे राजा समझ करके ही भूल मत जा (यह राजा है तो क्या, गुणग्राही तो नहीं है) गुणग्राहियों के अभाव में तेरी यह सब सुन्दर अभिनय-कुशलता, गाना बजाना आदि व्यर्थ ही जाएँगे (कोई इनकी सराहना नहीं करेगा)।

तात्पर्य—गुणग्राहकता से अनभिज्ञ एवं अरसिक व्यक्ति कितना ही धनी क्यों न हो उसके सामने अपने गुण प्रकट करना निष्फल है।

दारुनटी (कठपुतली)

मूल—तेरी है कछु गति नहीं दारु चीर को मेल।
करे कपट पट ओट मैं वह नट सबही खेल ॥
वह नट सबही खेल खेलि फिरि दूर रहै है।
द्वै बिन बनै प्रपंच कहो को क्रूर कहै है ॥
बरनै दीनदयाल कला वापै बहुतेरी।
जो जो चाहै नाच कढ़ै सो-सो गति तेरी ॥ १३ ॥

**शब्दार्थ**—दारु=(सं०) लकड़ी। चीर=वस्त्र। पट=पर्दा, (माया)। ओट=आड़। वह नट=सूत्रधार, जो कठपुतलियों को डोरे से बाँध कर पर्दे की ओट से उन्हें नाना प्रकार के नाच नचाता है, (ईश्वर जो इस संसार-रूपी नाट्यशाला का सूत्रधार है) द्वै बिन=दो के बिना अर्थात् (१) कठपुतली और सूत्रधार के बिना, (२) जीव और ईश्वर अथवा प्रकृति और पुरुष के बिना। प्रपंच=(१) कठपुतलियों का नाच, (२) पंच तत्त्वों से निर्मित यह सृष्टि, पांचभौतिक सृष्टि। क्रूर=(सं० क्रुद्ध) मूर्ख, मंदबुद्धि। वापै=उस (१) सूत्रधार या, (२) ईश्वर के पास।

भावार्थ—अरी कठपुतली, तू तो लकड़ी और वस्त्र से निर्मित एक खिलौना मात्र है, तुझमें यह सब नाच नाचने की कहाँ सामर्थ्य ? पर्दे की आड़ में स्थित सूत्रधार ही अनेक प्रकार के कपट करता हुआ तुझे ये सब खेल खिला रहा है। तुझे अच्छे प्रकार नाच नचाकर वह स्वयं अलग हो जायगा। ऐसा कौन मूर्ख होगा जो यह कहे कि कठपुतलियों का नाच बिना सूत्रधार और कठपुतलियों के संपन्न हो सकता है ? (अर्थात् कठपुतलियाँ बिना किसी की सहायता के स्वयं नाचती हैं, ऐसा कहना अज्ञता के सिवाय और क्या कहा जा सकता है)। सूत्रधार अनेक कलाएँ जानता है। वह जिस जिस प्रकार से चाहेगा उसी प्रकार से तुझे नाच नचावेगा।

तात्पर्य—समस्त सृष्टि द्वंद्वमय है। बिना जीव और ईश्वर के (किंवा प्रकृति और पुरुष के) यह विश्वप्रपंच चल ही नहीं सकता। इनमें से जीव पांचभौतिक पुतला मात्र है। बिना ईश्वर की सहायता के उसमें कुछ करने की सामर्थ्य नहीं है। ईश्वर स्वयं निर्लिप्त रहते हुए माया के पर्दे से आच्छन्न हो जीव को नाना प्रकार से नचाता है। अकेला जीव कुछ नहीं कर सकता।

## (नटी)

मूल—नीकी विधि चलि री नटी अति सूछम इह राह।
राम राम मुख, ध्यान पद ह्वैहै तबै निबाह॥
ह्वैहै तबै निबाह सबै गो-गोचर अपने।
बस करिकै चलि सूध नहीं चित चालै सपने॥
बरनै दीनदयाल डिगे फिरि खोज न जी की।
ये सब देखनिहार न दैहैं उपमा नीकी॥ १४॥

शब्दार्थ—नीकी विधि=अच्छे प्रकार, सावधानी से। सूछम=( सूक्ष्म ) पतली। इह राह=यह (रस्सी का) मार्ग (वह रस्सी जिस पर चढ़ कर नट लोग नाच करते हैं )। गो=इंद्रिय। गोचर=इंद्रियों के विषय। डिगे=रस्सी से पैर फिसलने से। फिर खोज न जी की=फिर प्राणों का पता न चलेगा, अर्थात् तुम मर जाओगी। न दैहैं उपमा नीकी=अच्छी उपमा न देंगे, निन्दा करेंगे।

भावार्थ—अरी नटी, इस अत्यन्त सूक्ष्म रस्सी के मार्ग में खूब सावधान होकर चल। मुख से तो ईश्वर का नाम ले, और अपने पैरों पर ध्यान रख, तभी काम बनेगा। सभी इंद्रियों ( ५ ज्ञानेन्द्रियों और ५ कर्मेन्द्रियों ) और उनके ( रूप, रस आदि ) विषयों को अपने वश में करके सीधी होकर चल, और स्वप्न में भी अपने चित को चलायमान न कर। अगर कहीं तनिक भी चूकने से तेरा पैर फिसल पड़ा तो फिर प्राणों की खैर नहीं। ( प्राणों से तो हाथ धोना ही पड़ेगा, साथ ही ) दर्शक-समुदाय भी तेरे कर्तव्यों की प्रशंसा न करेगा।

तात्पर्य—कर्मपथ बड़ा विकट है। जितेंद्रीय होकर और परमात्मा का नाम लेकर बड़ी सावधानी से अपने कर्तव्य की ओर अग्रसर होने से ही सफलता प्राप्त हो सकती है अन्यथा नहीं। जहाँ चित तनिक भी चलायमान हुआ तहाँ अपने को कर्तव्यच्युत ही समझो। कर्तव्यभ्रष्ट व्यक्ति को इस संसार में अमित लांछना एवं निंदा सहनी पड़ती है।

( ग्वालिनी )

मूल—बारि बिलोवै, डारि दधि अरि आँधरी ग्वारि।<br>
ह्वैहै श्रम तेरो वृथा नहिं पैहै घृत हारि॥<br>
नहिं पैहै घृत हारि हँसैंगी सखी सयानी।<br>
तू अपने मन मान रही घर की ठकुरानी॥

बरनै दीनदयाल कहा दिन योंही खोवै ।
पछतैहै री अन्त कंत ढिग बारि बिलोवै ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—बारि=जल। बिलोवै=मथती है। हारि=थकने पर भी, हैरान होकर भी । सयानी=( सज्ञानी ) चतुर । ठकुरानी=मालकिन, स्वामिनी । कंत ढिग=अपने पति के पास जाने पर ।

भावार्थ—अरी अंधी ग्वालिन ! तू दही को छोड़कर पानी को क्या मथ रही है ? तेरा परिश्रम व्यर्थ ही जायगा, मथते मथते थक जाओगी तब भी तुमको घी नहीं मिलेगा, तुम्हारी हैरानी को देख कर चतुर सखियाँ तुम पर हँसेंगी । तू अपने को ही घर की स्वामिनी समझे बैठी है । इस प्रकार जल मथ मथ कर सारा दिन योंही ( व्यर्थ ही ) नष्ट कर रही है । पर जब अपने पति के पास जायगी ( और वह तुझसे पूछेगा कि आज दिन भर क्या किया ) तब अन्त में तुम्हें अपने बेकार परिश्रम के लिये पछताना पड़ेगा । ( इसलिये अभी चेत जा ) ।

तात्पर्य—शरीर अपने वश का नहीं है । न जाने कब उसका नाश हो जाय । इसलिये जबतक प्राण है तब तक ईश्वर-भजन, परोपकारादि सत्कर्मों में ही अपने जीवन का सदुपयोग करना समीचीन है । व्यर्थ हास-विलाप में ही समय नष्ट करने से जीवन सफल हो नहीं सकता । सारांश यह कि नरदेह पाकर यदि सुकर्म न किया तो मृत्यु के अनंतर परमात्मा के सामने अपने कृतकर्मों के लिये पछताना पड़ेगा ।

विशेष—इस अन्योक्ति द्वारा कवि ने केवल द्वैतवाद के सिद्धांत ही को पुष्ट नहीं किया है, किन्तु अज्ञानता के वश करणीय और लाभदायक कर्तव्य की उपेक्षा कर अनुचित एवं निष्फल अथवा परिणाम-दु:खद कार्यों की ओर झुकने वाले व्यक्ति को चेतावनी भी दी है । यही सच्चा रहस्यवाद है ।

( किरातिनी )

मूल—गुंजन को बन देखिकै मुकुतन दीनी त्यागि।
अरी अबूझ किरातिनी धिक धिक तेरी लागि ॥
धिक धिक तेरी लागि न ऐगुन गुन पहिचानै।
ऊपर ही के रंग ठगी मति मूढ़ न जानै ॥
बरनै दीनदयाल परीं यह तो सब कुंजन।
कौड़ी याको मोल लाल लखि भूलि न गुंजन ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—गुंजा=घुँघुची। मुकुतन=मोती। अबूझ=( अबोध ) बेसमझ। किरातिनी=भिल्लिनी। लागि=लगन, प्रेम। ऐगुन=अवगुण।

भावार्थ—अरी बेसमझ किरातिनी, तूने गुंजों का वन देखकर मोतियों को छोड़ दिया। तेरे इस प्रेम को धिक्कार है। हे मन्दमति! तू गुण अवगुण कुछ नहीं पहिचानती, केवल इसके बाहरी (लाल) रंग को ही देखकर तेरी बुद्धि छली गई है। मूर्खा! तुझे क्या यह ज्ञात नहीं है कि ये तो सब कुंजों में गिरी पड़ी मिल सकती हैं और इनको कोई कौड़ी के मोल भी नहीं खरीदता? अत: केवल इनकी लालिमा ही देखकर मत भूल जा।

तात्पर्य—यह अन्योक्ति उन व्यक्तियों के प्रति कही गई है जो बाह्य सौंदर्य को देखकर ही ठगे जाते हैं। यह ठगा जाना वस्तुओं और मित्रों दोनों के संग्रह के संबंध में लागू हो सकता है। सारांश यह कि वास्तविक गुणों की परख किये बिना न तो कृत्रिम पदार्थों का संग्रह ही करना उचित है, न केवल वेषभूषा से ही बिना उसके हृदय की थाह लगाये किसी व्यक्ति को सज्जन समझकर मित्र ही बनाना उपयुक्त है। ऐसे कृत्रिम पदार्थों और पाखंडी मनुष्यों का कोई मूल्य नहीं होता, क्योंकि इनकी कमी नहीं है।

( पनिहारिन )

मूल—पनिहारी इहि सर परे लरति रही सब पाँह।
रीतो घट लै घर चली उतै मारिहै नाह॥
उतै मारिहै नाह काह तिहि उत्तर दैहै।
रोय रोय पति खोय फेरि सर पै फिरि ऐहै॥
बरनै दीनदयाल इतै हँसिहैं सब नारी।
ख्वारी दुहुँ दिसि परी अरी ग्वारी पनिहारी॥ १७॥

शब्दार्थ—पाँह=( सं० प्रति ) से। रीतो=( सं० रिक्त ) खाली। नाह=( नाथ ) स्वामी। पति खोय= प्रतिष्ठा खोकर। ख्वारी=( फा० ) बरबादी, सर्वनाश। ग्वारी=गँवारी।

भावार्थ—अरी गँवार पनिहारी! इस तालाब में आकर सबसे लड़ती रही, और जल भी नहीं भरा। खाली घड़ा लेकर घर लौट रही हो। वहाँ जब तुम्हारा पति तुमको मारेगा ( और पूछेगा कि जल क्यों नहीं लाई ) तो तुम उसको क्या उत्तर दोगी। आखिर रो धोकर अपनी इज़्ज़त मिट्टी में मिलाकर फिर इस तालाब को लौट आना पड़ेगा। यहाँ आने पर सब स्त्रियाँ भी तुम पर हँसेंगी और तुमको घर और बाहर दोनों ओर से लज्जित होना पड़ेगा।

तात्पर्य—इस संसार में जन्म लेकर अपने जीवन को दुराचार में लगाने-वाले व्यक्ति के प्रति कवि की चेतावनी है कि रे मूर्ख, जीवन भर तू दुष्कर्म में लगा रहा, और एक भी सत्कर्म नहीं किया। मरने पर जब तू परमपिता परमात्मा के पास खाली हाथ जायगा, तो उसे अपने कर्मों के लिए क्या उत्तर देगा! आखिर तुझे अपने दुष्कर्मों का दंड भोगना पड़ेगा और पुनः इस संसार में जन्म लेना पड़ेगा। इस संसार में भी तुझको बहुत बदनामी उठानी

पड़ेगी। लोग तेरे दुराचरण के लिए तेरी निन्दा करेंगे। इस प्रकार तेरे इहलोक और परलोक दोनों बिगड़ जाएँगे।

( तमोलिनी )

मूल—बौरी दौरी में धरे बिन सींचे मति भूल।
फेरे क्यों न तमोलिनी! सूखे सड़े तमूल॥
सूखे सड़े तमूल बहुरि पाछे पछितैहै।
ऐहैं गाहक लैन कहा तब ताको दैहै॥
बरनै दीनदयाल चूक जनि तू इहि ठौरी।
आछी भाँति सुधारि वस्तु अपनी रखि बौरी॥ १८॥

शब्दार्थ—तमोलिनी = (ताम्बूलिनी) पानवाली। दौरी = टोकरी। तमूल = (ताम्बूल) पान। गाहक = (ग्राहक) खरीददार। बौरी = बावली, पगली, नासमझ।

भावार्थ—अरी पगली तमोलिनी, दौरी में रक्खे हुए ये पान सूख रहे हैं और सड़ रहे हैं, इनको बिना सींचे मत छोड़, तू इनको फेरती क्यों नहीं है? (फेरने और सींचने से पान सूखने और सड़ने नहीं पाते) तेरी असावधानी से यदि ये नष्ट हो जाएँगे तो तू पीछे पछताएगी। जब कोई ग्राहक पान खरीदने आएगा तो तू उसे क्या देगी? हे बावरी, अपनी वस्तु को अच्छे प्रकार सुधार कर सुरक्षित रख। इस काम में असावधानी न कर।

तात्पर्य—सदुपयोग ही गुणों का उत्कर्ष बढ़ाता है।

( किसान )

मूल—आछी भाँति सुधारि कै खेत किसान बिजोय।
न तु पाछे पछिताय गो समै गयो जब खोय॥
समै गयो जब खोय नहीं फिर खेती ह्वैहै।
लैहै हाकिम पोत कहा तब ताको दैहै॥

बरनै दीनदयाल चाल तजि तू अब पाछी।
सोउ न, शालि सम्हालि बिहंगन ते बिधि आछी ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—बिजोय=( बीज वप ) बीज बो। न तु=नहीं तो। हाकिम=( अ० ) अधिकारी। पोत=कर, रकम, लगान। पाछी चाल=अपना पिछला अकर्मण्य स्वभाव। शालि=धान, अनाज। बिहंग=पक्षी।

भावार्थ—हे किसान, खेत को अच्छे प्रकार सुधार कर अभी बीज बो दो, नहीं तो पीछे पछताओगे; क्योंकि बीज बोने का अनुकूल समय नष्ट हो जाने पर फिर खेती नहीं हो सकेगी। ( तुम्हारी खेती हो चाहे न हो ) हाकिम लगान लेने आएगा तो उसे क्या दोगे ? अतः ( यदि अपना भला चाहते हो तो ) अपने पिछले आलसी स्वभाव को छोड़ दो, सोओ मत ( अकर्मण्य मत बनो ) और पक्षियों से धान के खेत की अच्छे प्रकार ( सावधानी से ) चौकसी करो।

तात्पर्य—अपने समय का सदुपयोग करो। अकर्मण्यता तथा आलस्य में समय को मत गँवाओ। अनुकूल समय के बीत जाने से फिर कार्यसिद्धि में सफलता नहीं प्राप्त होगी। सावधान, कुसंगति तुम्हारे समय का सर्वनाश न करने पावे।

( गढ़धनी )

मूल—साथी पाथी मे सबै गढ़ी ढहै चहुँ फेरि।
आनि बनी अरि की अनी धनी खोलि दृग हेरि॥
धनी खोलि दृग हेरि धवल धुज आय बिराजे।
बोलन लगे नकीब डंक अब तो तिहुँ बाजे॥
बरनै दीनदयाल साजि अब अपनो हाथी।
हरि को टेर सहाय, गये सब तेरे साथी॥ २० ॥

शब्दार्थ—पाथी मे=चले गये। सबै=सबही। गढ़ी=( यह शरीर ) छोटा किला। आनि बनी-सज कर आ गई। अनी=सेना। धवलधुज=सफेद झंडा ( यहाँ सफेद बाल )। नकीब=( अ० ) बंदीजन। डंक=डंका।

भावार्थ—हे गढ़पति ( जीवात्मा ), तेरे सब साथी चले गये, तेरी गढ़ी ( शरीर ) चारों ओर से ध्वस्त हो रही है। शत्रुओं की सेना ने तुझे घेर लिया है। हे धनी, आँख खोल कर देख। ( सजग हो जा )। सफेद झंडे आ गये, बंदीजन बोलने लगे, तीनों डंके बजने लगे ( कूच की तैयारी हो गई )। दीनदयाल कहते हैं कि अब तू भी अपना हाथी साज और मदद के लिए ईश्वर को पुकार, तेरे साथी सब चले गये।

तात्पर्य—शरीर की नश्वरता बतला कर ईश्वर-भजन का उपदेश।

( चौपर खेलारी )

मूल—अहे खेलारी चूक मति पंजा बिखै सम्हाल।
परो दाव तेरो खरो करि लै सारी लाल॥
करि लै सारी लाल लाल निज चाल न छूटै।
सनमुख ह्वै मुख राखि देखु जुग कहूँ न फूटै॥
बरनै दीनदयाल जीति बाजी इहि बारी।
हारो मूढ़न संग बार बहु अहे खेलारी॥ २१॥

शब्दार्थ—पंजा=पाँच वाला दाँव ( पंच इन्द्रिय )। सारी=गोट। लाल करना=पका लेना। चौपड़ के खेल में जब कोई खिलाड़ी चालें चलकर अपनी सब गोटियों को एक नियत स्थान तक पहुँचा देता है तब कहा जाता है कि गोटें लाल हो चुकीं वा पक गई। जुग=जोड़ा। दो गोटों का एकत्र रहना ( इस दशा में गोटें मारी नहीं जा सकतीं )।

भावार्थ—हे खेलाड़ी ! अब की बार तू अपने पाँचवाले दाँव को सँभाल (पंच इंद्रियों को वश में रख) तेरा अच्छा दाँव पड़ा है, इस समय अपनी गोटें लाल कर ले। अपनी चाल मत छोड़। आगे बढ़ता जा, देख जोड़ा न फूटने पावे। दीनदयालु कहते हैं कि अब की बार बाजी को जीत ले, क्योंकि कई बार मूर्खों के साथ पड़कर तू बाजी हार चुका है।

तात्पर्य—जीव के प्रति उपदेश है कि बहुत दिन चौरासी में भटका, अब नरजन्म पाकर सब इंद्रियों को वश में करके ऐसी चाल चल कि मुक्ति प्राप्त हो।

( चंग उड़ायक )

मूल—काँचे गुन छाँड़ै नहीं अरे उड़ायक कूर।
जैहै कर तें टूटि कै उड़ी गुड़ी कहुँ दूर॥
उड़ी गुड़ी कहुँ दूर लूटि लरिका सब लैहैं।
तो को जानि गँवार हँसी करतारी दैहैं॥
बरनै दीनदयाल माँजु गुन को बिन जाँचे।
ह्वैहै गुनी प्रवीन छाँड़ि जनि तू गुन काँचै॥ २२॥

शब्दार्थ—काँचे=कच्चा, बिना माँजे हुए। गुन=(१) पतंग की डोरी, (२) गुण। उड़ायक=उड़ानेवाला। कूर=(सं० कुट्ट) मूर्ख। (अन्वय—गुणी करतें टूटि कै कहुँ दूर उड़ी जैहै)। गुड़ी=पतङ्ग, गुड्डी चंग। करतारी दैहैं=ताली पीटेंगे, थपोड़ियाँ बजाएंगे। गुन को माँजु=पतंग की डोरी को मज़बूत करने के लिए काँच के चूर्ण और भात से माँजते हैं,* जिससे दूसरे की पतंग की डोरी आसानी से कट जाय। प्रवीण=चतुर।

---

* इस क्रिया को 'मांझा देना' कहते हैं।

भावार्थ—अरे मूर्ख पतंग उड़ानेवाले, पतंग की डोरी को कच्चा ( बिना माँजे हुए ) मत छोड़; नहीं तो पतंग तेरे हाथ से टूट कर कहीं दूर उड़ जायगी, सब लड़के उसे लूट लेंगे, और तुझे मूर्ख समझ कर हंसते हुए तालियाँ पीटेंगे। देख, यदि तू बिना बिचारे ( आगा पीछा किये ) डोरी को माँज लेगा तो चतुर पतंग-बाज़ों में गिना जायगा। अतः डोरी को कच्चा मत रहने दे।

तात्पर्य—बिना पूर्ण निपुणता प्राप्त किये किसी काम में आगे बढ़ने से स्वयं हानि तो उठानी ही पड़ती है साथ ही लोगों का उपहासास्पद भी होना पड़ता है। अतः पुनः पुनः अभ्यास कर अपने गुण में दाक्षिण्य प्राप्त करना ही श्रेयस्कर है।

( जौहरी )

मूल—मैली थैली लखि न तू भ्रमै प्रेम करि खोल।
अहे जौहरी ! है खरी यामें मनि अनमोल॥
या में मनि अनमोल तोल करि ताको लीजै।
कीजै कछू न खोटि कोटि धन तापै दीजै॥
बरनै दीनदयाल जथा मजनू मन लैली।
तैसे ही अनुरागि, त्यागि मति मैली थैली॥ २३॥

शब्दार्थ—जौहरी=रत्नों का व्यापारी। भ्रमै=सन्देह में मत पड़। खरी=सच्ची। अनमोल=अमूल्य। खोटि=दोष। अनुरागि=प्रेमकर ( 'अनुराग' संज्ञा से 'अनुरागना' क्रिया बना ली है। ऐसी क्रियाओं को "नामधातु" कहते है )। यथा मजनू मन लैली=जैसे मजनू के मन में लैली के प्रति अपूर्व प्रेम उत्पन्न हो गया था।

भावार्थ—अरे जौहरी ! इस थैली को मैली देखकर तू इस भ्रम में न पड़ कि इस थैली के भीतर कुछ नहीं है । ज़रा प्रेम से खोल तो, इसमें सच्ची अमूल्य मणि है इसका मोल तोल कर ले, व्यर्थ ही इसमें खोटापन मत निकाल और इसको बहुत सा धन देकर खरीद ले । देख, इस थैली को मैली समझ कर छोड़ मत दो, वरन् ऐसा ही प्रेम करे जैसा मजनू ने ( कुरूपा ) लैली के प्रति किया था ।

विशेष—लैली के प्रति मजनू का प्रेम प्रसिद्ध है । ये दोनों अरब देश के प्रेमी और प्रेमिका थे । फारसी साहित्य में इनका बहुत वर्णन है ।

तात्पर्य—किसी पदार्थ की वाह्य आकृति से ही उसकी वास्तविकता नहीं ज्ञात हो सकती । बहुधा "गुदड़ी में छिपे लाल" भी मिल जाते हैं । पर आवश्यकता है सच्ची लगन और विश्वास की ।

मूल—नीकी मुकुतन की लरी पै ह्याँ गाहक नाहिं ।
इत सबरी सबरी भरीं सगरी नगरी माहिं ॥
सगरी नगरी माहिं फिरनहारी कुंजन की ।
कबरी भारनि रचैं आनि अवरी गुंजन की ॥
बरनै दीनदयाल बूझ कैसी तव ही की ।
अहे जौहरी ! जौन कौन पै बरनै नीकी ॥ २४ ॥

शब्दार्थ—लरी=माला । सबरी=सब । सबरी ( सं० शवरी )= भिल्लिनी । सगरी=( सकल ) सारी । कबरी=( सं० ) केश-रचना, चोटी । अवरी=( अवली ) पंक्ति । बूझ=( बोध ) समझ, ज्ञान । ही= हृदय ।

भावार्थ—हे जौहरी ! तेरी मुक्तामाला सच्ची है, पर यहाँ ग्राहक कोई नहीं है। इस नगरी में तो सब की सब कुंजों में फिरनेवाली (गँवार) भिल्लिनियाँ ही हैं, वे घुँघची की माला से अपनी माँग सँवारती हैं (तेरे इन मोतियों के मूल्य को क्या पहिचानें)। हे जौहरी, तेरी बुद्धि कैसी है? तू जिनके सामने इन मोतियों की प्रशंसा कर रहा है वे कौन हैं, ज़रा विचार तो कर!

तात्पर्य—रत्नों की परख जौहरी ही कर सकता है। अतः किसी गुणवान् को ऐसे व्यक्तियों के पास जाना ही नहीं चाहिए, जो या तो गुणों को पहिचानते ही नहीं अथवा पहिचानते हुए भी उनकी कद्र नहीं करते। सच्चे गुणग्राही ही गुणवानों का मान करते हैं।

(सौदागर)

मूल—सौदागर तू समुझि कै सौदा करि इहि हाट।
जैहै उठि दिन दोय मैं पछितैहै फिरि बाट॥
पछितैहै फिरि बाट वस्तु कछु भली न लीनी।
योंही लंपट होय खोय सब संपति दीनी॥
बरनै दीनदयाल कौन विधि ह्वैहै आदर।
गये आपने देस बिना सौदा सौदागर॥ २५॥

शब्दार्थ—लंपट=व्यभिचारी, कुकर्मी। बाट=(सं०) मार्ग।

भावार्थ—हे सौदागर ! जब तक यह बाज़ार लगा है तबतक खूब सोच विचार कर सौदा कर ले, नहीं तो दो एक दिन में यह बाज़ार उठ जायगा और तू मार्ग में चलते चलते मन में पछताएगा कि मैं कुछ नहीं ख़रीद सका ? देखो, तुम जितना धन सौदा करने के लिये लाये थे वह सब संपत्ति

तुमने व्यसनी बनकर योंही गंवादी और एक भी भली वस्तु न खरीद पाये। हे सौदागर, बिना सौदा लिये अपने देश को लौटोगे तो वहाँ तुम्हारा आदर कैसे होगा ?

तात्पर्य—जीवन क्षणभंगुर है। अतः जबतक शरीर में प्राण हैं तबतक इससे कुछ न कुछ परमार्थ एवम् पुरुषार्थ कर लेना ही श्रेयस्कर है। अमूल्य जीवन को विषयवासना में ही गँवा देने से अन्तकाल में सिवाय पछताने के कि "हाय ! हमसे इस जीवन में एक भी सत्कर्म न बन पड़ा" और कुछ वश न चलेगा।

## ( चित्रकार )

मूल—क्या है भूलत लखि इन्हें अहे चितेरे चेत।
ये तो अपने ऐन में रचे आपने हेत॥
रचे आपने हेत चराचर चित्रहिं तूने।
डरै भ्रमै मति मीत तोहि बिन ये सब सूने॥
बरनै दीनदयाल चरित अति अचरज या है।
रँगे आपने रंग तिनै लखि भूलत क्या है ?॥ २६॥

शब्दार्थ—चितेरे=चित्रकार। चेत=सावधान हो। ऐन=( सं०अयन ) घर। चराचर=स्थावर-जंगम, जड़ चैतन्य। सूने=( शून्य ) निस्सार।

भावार्थ—अरे चित्रकार ! सावधान हो। इन चित्रों को देख कर तू भूलता क्या है ? इन सब चर-अचर पदार्थों के चित्रों को तूने ही अपने विनोद के लिए अपनी चित्रशाला में चित्रित किया है। हे मित्र ! इनको देखकर भय या शंका क्यों करता है ? तेरे बिना तो ये सब चित्र निस्सार हैं।

हे चित्रकार ! हमें तेरे इस चरित्र पर अत्यन्त आश्चर्य होता है। अपनी इच्छानुसार रँगे हुए इन चित्रों को देखकर तू भूलता क्या है।

तात्पर्य—मनुष्य इस संसाररूपी चित्रशाला का स्वयं चित्रकार है। अपने सुख के लिए जब जैसा मन में आता है वैसी सम्बन्ध-रचना किया करता है। समस्त जीवों को अपना सम्बन्धी मान बैठा है। ये सब फ़र्ज़ी चित्रवत् हैं। इनसे कोई सहायता नहीं मिल सकती। इनके बल पर घमंड न करना चाहिए।

( पाहरू )

मूल—सुनिये एहो पाहरू कहीं तिहारे हेत।
औरन को टेरत फिरो निज घर को नहिं चेत ॥
निज घर को नहिं चेत चोर चोरैं धन जावैं।
घर की आग बुझाय सबै बाहिरैं बुझावैं ॥
बरनै दीनदयाल आपने ही चित गुनिये।
बित ह्वै जैहै, लोग हँसैंगे सिगरे सुनिये ॥ २७ ॥

शब्दार्थ—टेरत फिरौ=चिल्लाते फिरते हो; 'जागते रहो' की आवाज़ लगाते फिरते हो। गुनिये=विचार कीजिये। बित=( सं० वित्त ) धन। जैहै=नष्ट होगा, चोरी हो जायगा। सिगरे=( सकल ) सब।

भावार्थ—अरे चौकीदार, ज़रा सुन तो ले, तेरी ही भलाई की बात कहता हूँ। देख, तू औरों को सावधान करने के लिये, 'जागते रहो' की रट लगाता रहता है, पर तुझे अपने घर की कुछ खबर नहीं है। चोर तेरी सम्पत्ति को चुराये लिए जा रहे हैं। अपने ही मन में तनिक विचार कर ले। लोग पहिले अपने घर की आग बुझाते हैं तब बाहर की आग बुझाने दौड़ते हैं। सुन,

यदि तू इस उपदेश को न मानेगा तो तेरा धन तो नष्ट होगा ही, सब लोग तेरी मूर्खता पर हँसेंगे भी।

तात्पर्य—जनता पर उपदेश की अपेक्षा आचरण का विशेष प्रभाव पड़ता है। पहिले अपना सुधार करलो तब दूसरे को सुधारने का प्रयत्न करो।

( छैल )

मूल—ए जू छैल छबील मन तुमै कहौं समुझाय।
यह काजर की ओबरी निकरो अंग बचाय॥
निकरो अंग बचाय चातुरी तो जग जागै।
सिर पै चादर सेत बीच जो दाग न लागै॥
बरनै दीनदयाल बोध यह बुधन दए जू।
को न कुसंगति पाय कुलीन मलीन भए जू॥ २८॥

शब्दार्थ—छैल=( छबि+इल्ल ) सुन्दर पुरुष। काजर की ओबरी= काजल की कोठरी, कलंक की जगह। जागै=प्रसिद्ध होगी। दाग= धब्बा, कलंक। बोध=ज्ञान। बुधन=पंडितों ने। कुलीन=सद्वंशजात।

भावार्थ—हे छैल-छबीले मन, मैं तुम्हें समझाकर कहता हूँ कि यह संसार काजल की कोठरी है, अपने अंगों को बचाकर निकल आओ। तुम सिर पर सफेद चादर डाले हो। अगर तुम इस कोठरी से साफ बचकर निकल आये और तुम्हारी चादर में ज़रा भी धब्बा न लगा तो संसार में तुम्हारे चातुर्य की ख्याति हो जायगी। क्योंकि बुद्धिमान् लोग यह उपदेश सदा से देते आये हैं कि "कुसंगति में पड़कर कौन कुलीन व्यक्ति ऐसा है जो कलंकित न हुआ है।"

तात्पर्य—( यह अन्योक्ति किसी ऐसे यशस्वी पुरुष से कही गई है जिसको समय के फेर से कुसंगति के बीच में रहना पड़ रहा है ) अरे मन, देख तुझे इस समय कुसंगति में रहना पड़ रहा है, पर तू यशस्वी है यदि तू कुसंगति में रहते हुए भी कलंक से साफ बच जाय तो अवश्य सराहनीय है। पर सावधान, ज़रा भी विचलित हुआ तो तेरे निर्मल यश में धब्बा लग जायगा।

विशेष—यह अन्योक्ति निम्न प्रकार से भी घटाई जा सकती है :—विषय-वासनाओं के बीच रहते हुए भी उनसे निर्लिप्त रहना ज़रा टेढ़ी खीर है। एकान्त अरण्य में, संसार से दूर रहते हुए अपने मन को विषय-वासना से अलग रखना कोई कठिन काम नहीं, पर प्रशंसनीय तो वही व्यक्ति कहा जा सकता है जो संसार में रहते हुए भी संसार से निर्लिप्त रहे। पापियों के बीच में रहते हुए भी पाप से निर्मुक्त रहे। पर ऐसे व्यक्ति संसार में हैं कितने ?

( बजंत्री )

मूल—अहे बजंत्री हरिन-भ्रम कहा बजावै बीन।
या ठठेर-मंजारिका सुर सुनि मोहैगी न ॥
सुर सुनि मोहैगी न सुने इन ठक-ठक बाजैं।
कितैं थकै करि कला अजौं नहिं आवति लाजै ॥
बरनै दीनदयाल कहा याके ढिग तंत्री।
ह्याँ ते होय निरास जाय घर अहे बजंत्री ॥ २६ ॥

शब्दार्थ—बजंत्री=( वाद्य+यंत्र ) बाजा बजानेवाला। ठठेर-मंजारिका=( मार्जारिका ) ठठेरे की बिल्ली। अजौं=(अद्यापि) अब भी। तंत्री=बीणा।

भावार्थ—अरे बजानेवाले, तू हरिण के भ्रम से इस ( बिल्ली ) के सामने वीणा क्या बजाता है ? यह तो ठठेरे की बिल्ली है और इसके कानों को ठठेरे की ही ठक-ठक सुनने का अभ्यास सा हो गया है, अतएव यह तेरी वीणा के मधुर स्वर सुनकर मुग्ध नहीं होगी। तू अनेक उपाय कर थक गया ( पर इसपर कुछ भी प्रभाव न पड़ा ) इतने पर भी तुझे इसके सामने वीणा बजाते लाज नहीं आती। अरे बजंत्री, इसके सामने तेरी इस वीणा का क्या मूल्य ? अतः अपना भला चाहता हो तो यहाँ से निराश होकर घर चले जा।

तात्पर्य—अरसिक एवं पाषाणहृदय व्यक्ति किसी कला पर मुग्ध हो नहीं सकते। अतः ऐसों के सम्मुख अपनी कला प्रदर्शित करना केवल श्रममात्र है।

( मृदंग )

मूल—सारंगी हित त्यागि कित रह्यो मृदंग दुराय।
करिहै सिर पै थाप लै धिग धिग तू सिख पाय॥
धिग धिग तू सिख पाय तबै कछु मधुर बोलिहै।
सुघर बजंत्री जबहिं पिंड गहि पटहि खोलिहै॥
बरनै दीनदयाल ढूँढ़ि गुर सुर मिलि संगी।
मिलो तहाँ चलि जहाँ बीन बाजत सारंगी॥ ३०॥

**शब्दार्थ**—सारंगी=( १ ) तार का एक वाद्य विशेष, ( २ ) शारंग धनुर्द्धारी विष्णु ( शारङ्गी )। हित=प्रेम। मृदंग=(१) ढोल के आकार का एक चर्मवाद्य, पखावज, ( २ ) मिट्टी के पुतले ( मृत=मिट्टी+अंग ), अर्थात् मनुष्य। दुराय रह्यो=छिप रहे। थाप=चोट। धिग धिग=तबले या मृदंग की ध्वनि विशेष जो उसपर थाप पड़ने से निकलती है। सुघर=कुशल, दक्ष। पिंड=तबले या मृदंग के चमड़ों के बीच का भाग जो काला होता है, और

जिस पर थाप पड़ती है। पटहिं = चमड़े की बद्धी ( तबले की )। गुर = गुरु, उस्ताद। सुर = स्वर।

भावार्थ—हे मृदंग ! तू सारंगी का साथ छोड़कर कहाँ छिप रहा है। ( हे मिट्टी के पुतले ! भगवान् से प्रेम छोड़कर कहाँ अपनी शक्ति को छिपाये हुए है )। जब सिर पर थाप पड़ेगी तब चोट खाकर धिग् धिग् शब्द निकालेगा। ( जब संसार की चोटें खायेगा, तब अपने को धिक्कार देगा )। जब कोई सुघर बजानेवाला तेरे पिंड को पकड़कर बद्धी ढीली करेगा और ठोंकेगा तब तू कुछ मधुर बोलेगा। ( जब कोई उत्तम गुरु तुझे भजन की शिक्षा देकर ठीक करेगा तब तू हरिनाम उच्चारण करेगा )। दीनदयाल कहते हैं कि किसी गुरु को ढूँढ़ और उसके स्वर में स्वर मिला कर उसका संगी है जा और वहाँ जाकर मिल जा जहाँ बीणा और सारंगी बज रहे हों ( गुरु करके भगवान् के भजनानंदी भक्तों में मिल जा )।

अलंकार—श्लेष से पुष्ट अन्योक्ति।

( शंख )

मूल—जनमे हो बर कुल विषै जग गुन गने असंख।
बजे बिजै बहुवार पै रहे संख के संख॥
रहे संख के संख खंख तुम हौ भीतर तें।
कहा करो अभिमान धरयो हरिजौ निज कर तें॥
बरनै दीनदयाल बिमल छवि छाई तन में।
ऊँच नीच मुख लगो कहा भो बर कुल जनमे॥ २१॥

शब्दार्थ—बर कुल = उत्तम कुल। विषै = ( विषये ) में। बिजै = विजय प्रकट करने के लिये। संख के संख रहे = ( कहावत ) जड़ ही रहे, निरे मूर्ख

ही बने रहे। खंख = खोखले। मुखलगना = ( १ ) बजाने के निमित्त मुख से स्पर्श होना। ( २ ) कहावत बहस करना।

भावार्थ—हे शंख, तुम सत्कुल ( समुद्र ) में उत्पन्न हुए हो, संसार में तुम्हारे गुणों की भी कमी नहीं है। अनेक बार विजय प्राप्ति के समय बजाये भी गये हो, पर हो तुम अब भी निरे मूर्ख। ( बाहर से भले ही स्वच्छ एवं सुचिक्कण होओ; पर ) भीतर से तो तुम खोखले ही हो। भगवान् विष्णु ने तुमको अपने हाथों में लिया इस बात का वृथा घमंड क्या करते हो ? यद्यपि तुम्हारा शरीर स्वच्छ और सुन्दर है और तुम सद्वंश में पैदा भी हुए हो, पर इससे क्या ? तुम तो ऊँच नीच सबके मुख में लगते हो, ( छोटे बड़े सभी तुमको मुख में लगाकर बजाते हैं )।

तात्पर्य—सत्कुल में जन्म लेने, संसार में ख्याति प्राप्त करने, सुन्दर आकृति होने एवं बड़ों का कृपापात्र होने से ही कोई वास्तविक बड़ा आदमी नहीं हो सकता। बड़ा आदमी बनने के लिये केवल बाह्य आकृति से ही कुछ नहीं होता। इसके लिये आवश्यकता है निष्कपट एवं पवित्र हृदय की, और नम्रता एवं सहिष्णुता की। छोटे बड़े सबसे लड़ बैठनेवाला व्यक्ति बड़ा कहे जाने के सवर्था अयोग्य है !

( पाषाण )

मूल—मूरुख हृदय कठोर लखि हारे करि करि मान।
तातें मज्जत जल विषे अहो सलज्ज पषान ॥
अहो सलज्ज पषान बड़ी तुममें गरुआई।
जोरे तें जुरि जात अहैं ये द्वै अधिकाई ॥
बरनै दीनदयाल कितौ करिये वह पूरुख।
जुरै न लाये हेत होत अतिसै जो मूरुख ॥ ३२ ॥

शब्दार्थ—मज्जत = डूबा जाता है। गरुआई = भारीपन।

अन्वय—कितौ करिये वह पूरुख जो अतिसै मूरुख होत, हेत लाये न जुरे। अतिसै = ( अतिशय ) अत्यन्त।

भावार्थ—अहो, पाषाण की सलज्जता तो देखो। मूर्खों का हृदय मुझसे भी कठोर है इस बात का विचार कर जब वह कठोरता में मूर्खों की समता न कर सका तो आत्म गौरव की रक्षा के लिए पानी में डूब गया। परन्तु हे पाषाण, इसमें लज्जा की कोई बात नहीं। तुममें मूर्ख से ये दो बातें विशेष हैं, एक तो यह कि तुम उससे भारी हो, दूसरे यह कि जोड़ने से जुड़ भी सकते हो। किन्तु जो मनुष्य वज्रमूर्ख होता है; आप कितने ही उपाय क्यों न करो वह प्रेम से समझाने बुझाने पर भी नहीं जुड़ सकता ( किसी से मेल नहीं रखता )।

तात्पर्य—मूर्ख पत्थर से भी कठोर और निर्लज्ज होता है।

( बाण )

मूल—हे सर परबस नहिं करो कुटिल धनुष सों संग।
सूधे हो, कहँ फेंकिहैं, टुटि जाहिंगे अंग॥
टूटि जाहिंगे अंग संग तासों निबहै नहिं।
गुन पै राचे कहा कोटि रचना याके महिं॥
बरनै दीनदयाल कहाँ कारिख कहँ केसर।
तैसेइ है संग बंक सूधे को हे सर॥ ३३॥

शब्दार्थ—सर = ( शर ) बाण। परबस = पराधीन होकर। गुन = ( १ ) धनुष की प्रत्यंचा, ( २ ) दिखौआ गुण। राचे कहा = क्या अनुराग करता है। कोटि = ( १ ) धनुष के दोनों सिरे, जिन पर प्रत्यंचा बाँधी जाती है, ( २ ) करोड़ों। कोटि रचना याके महिं = ( १ ) इस प्रत्यंचा में धनुष की

कोटियाँ बाँधी गई हैं, ( २ ) इसके मन में अनेक प्रकार के छल प्रपंच हैं। काग्खि=काजल। बंक=टेढ़े, कुटिल।

भावार्थ—हे बाण, तुम स्वयं सीधे हो अतः पराधीन होकर इस टेढ़े धनुष का साथ मत करो। इसके साथ तुम्हारी मित्रता निभ नहीं सकती। अगर यह कहीं तुमको फेंक देगा तो तुम टूट जाओगे। तुम इस प्रत्यंचा की सुन्दरता पर क्या रीझे हो? इससे तो धनुष के सिरे बाँधे गये हैं। हे बाण, कहाँ काजल और कहाँ केसर। क्या इन दोनों का कभी साथ हो सकता है? ऐसे ही कुटिल और सीधे पुरुष का भी साथ समझो।

तात्पर्य—दुर्जन और सज्जन का साथ कभी निभ नहीं सकता। बहुधा दुर्जन लोग अपने बाहरी सौजन्य से भोले भाले सज्जनों को छल लेते हैं। सीधे सादे लोग उनके वास्तविक स्वभाव से अपरिचित होकर वंचित हो जाते हैं। दुष्ट लोग भोले भाले लोगों को जाल में फँसा देते हैं, और आप उनसे अलग रहकर निर्दोष के निर्दोष ही रह जाते हैं। सारांश यह कि दुर्जनों की संगति से सज्जनों को हानि उठा ही पड़ेगी।

( अंग विशेष—तत्र रसना )

मूल—रसना ए तो दसन हैं सुनि द्विज नाम न मोहि।
इन्हैं न पंडित मानिये खंडित करिहैं तोहि॥
खंडित करिहैं तोहि रहो निज रूप बचाये।
तोतें बहुत कठोर जोर इन चने चबाये॥
बरनै दीनदयाल समुझि इनके संग बसना।
ऊपर उज्ज्वल रूप देखि मत मोहै रसना॥ ३४॥

शब्दार्थ—रसना = जिह्वा। दसन = (दशन) दाँत। द्विज = (१) दाँत, (दाँत दो बार निकलते हैं), (२) ब्राह्मण (एक जन्म माता के गर्भ से और दूसरा संस्कार द्वारा)।

भावार्थ—हे जिह्वे, द्विज नाम सुनकर मोहित मत हो जा। इन्हें पंडित (द्विज) मत मान, ये तो दाँत (द्विज) हैं, तुझे खंड खंड कर डालेंगे, इनसे अपने को बचाये रह। इन्होंने तुझसे भी बहुत कठोर चने चबा डाले हैं (फिर तुझे काटते क्या देर लगती है)। अतः हे जिह्वे, इनके उज्ज्वल रूप को देख कर धोखे में मत आ, और इनके साथ मत बस।

(नयन)

मूल—सपनेहूँ ब्रजराज छवि लखो न तुम हे नैन।
तातें भटके फिरत हौ लहौ कहूँ नहिं चैन॥
लहौ कहूँ नहिं चैन रूप जग के सेमल से।
छले गये नहिं कौन सुमन सुक केते छल से॥
बरनै दीनदयाल गुनौ तुम अंतर अपने।
ढके पलक के खलक रूप ह्वैहैं सब सपने॥ ३५॥

शब्दार्थ—ब्रजराज = श्रीकृष्ण। चैन = (सं० शयन) आराम, सुख आनंद। सेमल से = सेमल के पुष्प की तरह केवल देखने में ही सुन्दर। गुनौ = बिचार करो। अंतर अपने = अपने मन में। ढके पलक के = आँख मुँद जाने पर अर्थात् मर जाने पर। खलक = (अ) संसार। सुमन सुक = अच्छे मन वाले शुक।

भावार्थ—हे नेत्रों, तुमने स्वप्न में भी वृंदावन-विहारी श्रीकृष्ण की छबि नहीं देखी, इसी से तुमको कल नहीं पड़ती और तुम सुन्दर छवि देखने की लालसा

से मारे मारे फिरते हो। देखो सांसारिक वस्तुओं का सौंदर्य सेमर के फूल की भाँति केवल देखने भर को होता है उसमें कुछ तत्व नहीं होता है इस क्षण-भंगुर सौंदर्य के कारण न जाने कितने शुद्ध हृदय शुक छले गये हैं। यदि अपने मन में विचारो तो अपनी आँखें मुँद जाने पर (मर जाने पर) ये सब सांसारिक सौंदर्य स्वप्नवत् हो जाएँगे।

तात्पर्य—संसार निस्सार है, इसके क्षणस्थायी सौंदर्य पर मुग्ध होना महामूर्खता है। सांसारिक पदार्थ सब असत्य हैं। सत्य है केवल परमेश्वर। अतः उसी के सौंदय का ध्यान करना श्रेयस्कर है। आँखों का फल तभी मिलता है जब ईश्वर का दर्शन हो जाय।

(श्रवण)

मूल—खोए दिन बहु श्रवण हे सुनत वृथा बकवाद।
सुने न हरिहर मधुर जस जासु सुधा सम स्वाद॥
जासु सुधा सम स्वाद अमर पद देत सुने ते।
थके धीर गुन गाय छके रस पाय न केते॥
बरनै दीनदयाल काल तुम बादि बिगोए।
अजहूँ सुनि करि प्यार कहा दिन डारत खोए॥ ३६॥

शब्दार्थ—श्रवण=(श्रवण) कान। बादि=(सं०) व्यर्थ। बिगोए=(विगोपन) बिगाड़ा, खोया।

भावार्थ—हे श्रवण, तुमने बहुत समय व्यर्थ बकवाद सुनने में ही बिता दिया, और अमृत के समान स्वादिष्ट एवं सुनने से अमर-पद देने वाले श्रुतिप्रिय हरिहर-यश न सुना। कितने ही धीर पुरुष न जाने हरि-हर गुणगान करते हार मान गये, कितने ही सुनने मात्र से उस सुधा रस को

पीकर तृप्त हो गये । पर तुमने इतना समय व्यर्थ गँवा दिया । अब भी हरिहर-यश सुन लो भगवान् से प्रेम कर लो, समय क्यों नष्ट किये जा रहे हो ।

तात्पर्य—व्यर्थ गप्पाष्टक सुनने में अपने समय को न गँवाकर भगवद्भजन एवं सदुपदेश सुनकर अपने समय का सदुपयोग करना चाहिए। परमात्मा ने कान निरर्थक बातें सुनने के लिये नहीं बनाये हैं । कानों का फल 'हरिहर यश' सुनना ही है ।

( दोहा )

यह अन्योक्ति सुकल्पद्रुम साखा तृतीय बखानि ।
बिरची दीनदयालगिरि कवि द्विजवर सुखदानि ।। ३७ ।।

इति श्रीकाशीवासी दीनदयाल गिरि बिरचिते
अन्योक्ति-कल्पद्रुम-ग्रंथे
तृतीय शाखा समाप्तः ।

# चौथी शाखा

## ( कैवर्तक )

### ( सिंहावलोकन )

मूल—तारे तुम बहु पथिन कौ या नद-धार अपार ।
पार करो इहि दीन कौ पावन खेवनिहार ॥
पावन खेवनिहार तजौ जनि क्रूर कुबरनै ।
बरनै नहीं सुजान, प्रेम लखि लेहु सुबरनै ॥
बरनै दीनदयाल नाव-गुन हाथ तिहारे ।
हारे कौ सब भाँति सुबनिहै पार उतारे ॥ १ ॥

शब्दार्थ—कैवर्तक = केवट । सिंहावलोकन = ऐसी रचना को कहते हैं, जिसमें यह नियम रखा जाता है कि प्रत्येक लाइन का अंतिम शब्द वा दो तीन अक्षर आगे आनेवाली लाइन के आदि में अवश्य आवें, और अंतिम लाइन का अंतिम शब्द प्रथम लाइन के आदि में हो । पथिन = मुसाफिरों । क्रूर = पापी, निकम्मा । कुबरन = नीच जाति का । बरनैं नहीं सुजान = सुजान लोग बड़ाई नहीं करेंगे । बरनै नहीं ..........सुबरनैं = यदि तुम केवल प्रेमी और कुलीन को ही अपनी नौका में सवार कराओगे ( क्रूर और नीच को न लोगे ) तो सुजान लोग तुम्हारी बड़ाई न करेंगे । बरनै = कहता है ( पाँचवीं लाइन में ) नाव-गुन = नौका की रस्सी । हारे कौ = थके हुए पथिक को । हारे कौ सब भाँति = सब प्रकार से थके हुए को ।

( भाव )—हे भगवन्! चौरासी में भटकते भटकते मैं थक गया हूँ, मुझे भवसरिता से पार करो, मेरी अकर्मण्यता और नीच कुलोद्भवता के कारण संकोच न करो, नहीं तो तुम्हारे बिरुद में फर्क आ जायगा।

( पथिक )

( सिंहावलोकन )

मूल—मारे जैहो पथिक हे! या पथ हैं बटपार।
पार होन पैहो नहीं मारि डारिहै वार॥
मारि डारिहै वार भजौ ये फिरैं अनेरै।
नेरै तुमको कोपि तकैं ज्यों बाज बटेरै॥
टेरै दीनदयाल सुनौ हित हेत तिहारे।
हारे परिहौ सखे! राखि धन कहे हमारे॥ २॥

शब्दार्थ—बटपार=( बाट+पार ) राह में लूट लेनेवाले, डाकू। वार= इसी ओर। भजौ=भागो। अनेरै=( सं० अनय+रत ) अन्यायी, दुष्ट, अत्याचारी। हित हेत तिहारे=तेरी भलाई के लिये। हारे परिहौ=नुकसान में रहोगे, हानि उठानी पड़ेगी। राखि=रक्षा करो, रखाओ। नेरै=निकट ही हैं। कोपि तकैं=क्रुद्ध हो होकर ताक रहे हैं।

( नोट )—यहाँ पथिक=जीवात्मा; पथ=संसार। बटपार=काम क्रोध, मोहादि। पार=मोक्ष। वार= संसार। धन=ईश्वरांश होने का आत्मगौरव। इसी प्रकार आगे के छंदों में भी समझना होगा।

भावार्थ—सरल ही है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मूल—राही खड़े असोक क्यों ? बकुल ध्यान इहि बेल ।
है डकैत छाया तजो, लख्यो न याको* खेल ॥
लख्यो न याको खेल सिरसि पाकर बर चौटैं ।
कोऊ नहिं सहकार अकेला लगिहौ लोटैं ॥
बरनै दीनदयाल जटे इन* जटी न काही ।
जाहु चले या बेर कदम गहि पति लै राही ॥ ३ ॥

शब्दार्थ—राही = पथिक । असोक = निश्चिन्त । बकुल ध्यान = बगले का सा ध्यान लगाये हुए । बेल = ( बेला ) समय । छाया = पेड़ की छांह । सिरसि = (शिरसि ) सिर में । बर चोटैं = कड़ी चोटैं । सहकार = सहायक । जटे = ठगे । जटी = जटाधारी । या बेर = इस समय । कदम गहि = कदम बढ़ाते हुए, लम्बे डगों से । पति = प्रतिष्ठा ।

भावार्थ—हे पथिक ! तुम इस समय यहाँ निश्चिन्त क्यों खड़े हो । यह बकुलध्यानी ( जिसे तुम जटाधारी साधु समझते हो ) डाकू है, इसके पास छाया में खड़े हो सो छाया को छोड़ो, तुमने अभी इसका खेल नहीं देखा । इसके हाथों सिर में चोट खाकर तुम भूमि पर लोटने लगोगे, क्योंकि कोई तुम्हारा सहायक नहीं है, तुम अकेले ही हो । दीनदयाल कहते हैं कि ऐसे जटा-धारियों ने किसको नहीं छला । हे पथिक ! इस समय अपनी प्रतिष्ठा लिए हुए कदम बढ़ाए चले जाओ ।

( नोट )—इस छन्द में पेड़ों के नाम से मुद्रालंकार है । इसी कारण अशोक, बकुल ( मौलसिरी ) बेल, कैत, छाया, सिरस, पाकर, बर, सहकार

*( नोट ) इस छन्द में एकवचन 'याको' और बहुवचन में 'इन' भी चिन्तनीय हैं ।

( आम ) केला, जटी, ( जटामांसी ), काही, बेर, कदम, तिल और राही, ( लाही ) इत्यादि शब्द प्रयुक्त हैं।

( उपदेश )—जीवात्मा के प्रति उपदेश है कि सांसारिक छलमय पदार्थों पर श्रद्धा-भक्ति रखना अच्छा नहीं, इनसे दूर ही रहना अच्छा है।

मूल—सोई देस बिचारि कै चलिये पथी सुचेत।
जामे जस आनंद की कबिबर उपमा देत॥
कबिबर उपमा देत रंक भूपति सम जामैं।
आवागमन न होय रहै मुद मंगल तामैं॥
बरनै दीनदयाल जहाँ सुख सोक न होई।
एहो पथी प्रबीन देस को जैये सोई॥ ४॥

शब्दार्थ—पथी=मुसाफिर, यात्री। सुचेत=अच्छी समझवाला। उपमा देत=बखान करते हैं। सम=समान, एक से। आवागमन न होय=वहाँ से फिर कोई कहीं जाता नहीं।

भावार्थ—सरल ही है। 'पथी' से तात्पर्य जीव और 'देस' से तात्पर्य है निर्वाण पद।

( नोट )—छायावादी वा रहस्यवादी कवि देखें कि रहस्यवादी कविता ऐसी होती है।

अलंकार—प्रस्तुतांकुर।

मूल—कोई संगी नहिं उतै है इत ही को संग।
पथी लेहु मिलि ताहि तैं सब सों सहित उमंग॥
सब सों सहित उमंग बैठि तरनी के माहीं।
नदिया नाव संयोग फेरि यह मिलिहै नाहीं॥
बरनै दीनदयाल पार पुनि भेंट न होई।
अपनी अपनी गैल पथी जैहैं सब कोई॥ ५॥

शब्दार्थ—संगी = साथ रहनेवाला। उतै = उस देश में (मृत्यु के बाद)। इत = यह संसार। पथी = जीवधारी लोग। तरनी = नाव। तरनी के माहीं = नाव में। नदिया नाव संजोग = यात्रियों का ऐसा मिलन जैसा नदी उतरते समय नाव पर हो जाता है, क्षणिक मिलन। गैल = राह। पथी = यात्री।

भावार्थ—सरल ही है।

अलंकार—प्रस्तुतांकुर।

(नोट)—जीवों के प्रति उपदेश है कि इस संसार में जीवितावस्था भर सब से हिल-मिल कर रहो।

मूल—ग्राहैं* प्रबल अगाध जल यामें तीछन धार।
पथी पार जो तू चहै खेवनिहार पुकार॥
खेवनिहार पुकार वार नहिं कोऊ साथी।
और न चलै उपाव नाव बिन एहो पाथी॥
बरनै दीनदयाल नहीं अब बूड़ै थाहैं।
रहें महा मुख बाय ग्रसन को भारी ग्राहैं॥ ६॥

शब्दार्थ—पथी = यात्री (यहाँ कोई जीव)। खेवनिहार = केवट (यहाँ ईश्वर)। वार = इसी ओर का तट। थाह = उथला जल।

भावार्थ—सरल ही है।

(उपदेश)—यह कि हे जीव, इस संसार में अनेक प्रबल बाधाएँ हैं, अतः मुक्ति चाहते हो तो, ईश्वर का नाम पुकारो।

अलंकार—प्रस्तुतांकुर।

---

* (नोट)—यहाँ 'ग्राहैं' शब्द का प्रयोग स्त्रीलिंगत्व प्रकट करता है, जो ग़लत है। ऐसी ग़लतियाँ इस पुस्तक में अनेक हैं।

मूल—१राही सोवत इत किते चोर लगैं चहुँ पास।
तो निज धन के लेन को गिनैं नीद की स्वास॥
गिनैं नींद की स्वास बास बसि तेरे डेरे।
लिये जात बनि मीत माल ये साँझ सवेरें॥
बरनै दीनदयाल न चीन्हत है तू ताही।
जाग! जाग रे! जाग! इतै कित सोवत राही॥ ७॥

शब्दार्थ—इतै=यहाँ। कित=(सं० कुत्र) कहाँ। पास=(सं० पार्श्व) ओर। निज=खास। गिनैं नींद की स्वास=निद्रा आने के समय का इन्तजार कर रहे हैं (कि कब यह नींद में बेखबर हो, कब हम चोरी करना आरम्भ करें)। बास बसि=बसेरा लेकर। माल=धन। चीन्हत है=पहचानता है। ताही=उसको। जाग जाग रे जाग=सावधान हो जा।

भावार्थ—सरल है।

(उपदेश)—किसी जीव को काम क्रोध लोभादि (चोरों) से सावधान रहने के लिये चेतावनी है।

मूल—संबल जल इत लै पथी आगे नहीं निबाह।
दूर देस चलिबो महा मरूथल की राह॥
मरूथल की राह संग कोऊ नहिं तेरे।
सजग होय धन राख लगैं पथ चोर घनेरे॥
बरनै दीनदयाल कठिन बचिबो है कंबल।
सखे! परैगी जानि उतै, इत लै जल संबल॥ ८॥

---

१ (नोट)—सावधानी से देखो कि पहली लाइन में 'चोर लगैं, बहुवचन में है, चौथी लाइन में 'ये' बहुवचन में है, पाँचवीं लाइन में 'ताही' एकवचन में है। ये भाषा के दोष हैं। पर इस पुस्तक में ऐसे दोष बहुतायत से पाये जाते हैं।

शब्दार्थ—संबल=कलेवा, राह का भोजन। मरूथल=(सं० मरुस्थल), बलुवा मैदान (रेगिस्तान)। सजग=होशियार। घनेरे=बहुत से।

भावार्थ—सरल ही है।

( नोट )—सच्ची रहस्यवादमय कविता यह है।

मूल—जैए गैल सुछैल बनि पथी सुपंथ बिचारि।
भ्रमौ न ठगिनी मारि है तुम्हैं ठगौरी डारि॥
तुम्हैं ठगौरी डारि छीनि सबही धन लैहै।
महा-अंध बनकूप बीच या नीच छुपै है॥
बरनै दीनदयाल लाल! निज माल बचैए।
अहै ठगन को पुंज कुंज इत गुनि कै जैए॥ ९॥

शब्दार्थ—गैल=राह। छैल=चिकनिया, शौकीन ( यहाँ ) सजग होशियार। ठगिनी=ठग स्त्री, ( यहाँ वासना )। ठगौरी=मोहिनी, जादू! महा-अंध बनकूप=जंगल का बड़ा अंधकूप ( जल रहित गिरा पड़ा कुँआ )। छुपै है=छिप जायगा। पुंज=समूह। गुनिकै=समझ बूझ कर।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—सपने पथी सराय परि कहा रचत है राज।
भोर भये छुटिहैं यहू तोहि सराय समाज॥
तोहि सराय समाज छुटि साथी सब जैहैं।
भठिहारी सों नेह करै मति तैं पछितैहैं॥
बरनै दीनदयाल सोचि नीके चित अपने।
मनोराज पथ बीच कौन सुख पायो सपने॥ १०॥

शब्दार्थ—सराय=( फा० ) यात्रियों के ठहरने का स्थान। राज मनो-राज=( मनमानी अभिलाषाएँ ) भठिहारी=सराय में रहकर यात्रियों को भोजनादि का प्रबन्ध करनेवाली स्त्री ( यहाँ विषयवासना )।

भावार्थ—सरल ही है।

( मालिनी छन्द )

मूल—सुनहु पथिक भारी कुन्ज लागी दवारी।
जहँ तहँ मृग भागे देखिये जात आगे॥
फिरत कित भुलाने पाँय हैं पिराने।
सुगम सुपथ जाहू बूझिए क्यों न काहू॥ ११॥

शब्दार्थ—दवारी=(सं० दावाग्नि) बाँस की रगड़ से लगी हुई जंगल की अग्नि। पिराने=पीड़ा होना। बूझिए क्यों न काहू=किसी से पूछ क्यों नहीं लेते।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—बहुत दिवस बीते गैल में तोहि मीते।
मुख रुख कुम्हिलाने बैठिले या ठिकाने॥
अहह! सँग न साथी दूर है देस पाथी।
बिलम नहिं भलो जू सम्बलै लै चलो जू॥ १२॥

शब्दार्थ—मीते=हे मित्र। मुख रुख कुम्हिलाने=मुख की आभा मलीन हो गई है। ठिकाना=अच्छा स्थान। अहह=आश्चर्य की बात है। पाथी=यात्री। बिलम=( सं० विलम्ब ) देरी।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—बहुत बिवि दुकानैं हैं लगी तू न जानै।
बनिक बहुविधा के सोहते रूप जाके॥

निपुन निरखि लीजै बस्तु मैं चित्त दीजै ।
पथिक नहिं ठगावै, देखि तू रैनि आवै ॥ १३ ॥

शब्दार्थ—बनिक=व्यापारी । बहु बिधा=बहुत तरह के । निपुन=निपुणता से ।

भावार्थ—सुगम है ।

( उपदेश )—जीव को संसार के व्यापारों से सावधान करना ही तात्पर्य है ।

( नोट )—'जाके' एकवचन लिखकर फिर वही गलती की गई है ।

मूल—निपट निसि अंधेरी नाहिं सूझै हथेरी ।
बहु बिधि ठग घेरे मीत कोऊ न तेरे ॥
पथिक इत न सोवै भूलि बित्तै न खोवै ।
जगत रहि सुचेतै हौं कहौं तोहि हेतै ॥ १४ ॥

शब्दार्थ—निपट=अत्यन्त । मीत=मित्र । बित्त=धन । जगत रहि सुचेतै=संसार में सावधान होकर रहो । हेतैं=भलाई के लिये ।

मूल—अभिनव घनस्यामैं ध्याउ आभा सु-जामैं ।
बिसद बकुलमाला सोभती है बिसाला ॥
द्विजगन हरषवैं ध्यान कै मोद पावैं ।
पथिक नयन दीजै ताप को साँत कीजै ॥ १५ ॥

शब्दार्थ—अभिनव=अति नवीन, ताज़े, नये । घनस्याम=( १ ) बादल, ( २ ) कृष्ण । आभा=कांति । सु=सुन्दर । बिसद=सफेद । बकुलमाला=( १ ) मौलसिरी का बाग ( २ ) मौलसिरी की माला । बिसाला=लम्बी । द्विजगन=( १ ) मोर चातकादि पक्षी ( २ ) ब्राह्मणगण । ताप को साँत

कीजै=( १ ) राह चलने की गरमी मिटा लो, ( २ ) मेरी कामपीड़ा को शांत कर दो !

भावार्थ—( १ ) हे पथिक ! ( संसारी जीव ), नवलकिशोर कृष्ण का ध्यान कर जिनकी सुन्दर कांति बादलवत् श्याम है, और जिनके गले में मौलसिरी की सफेद और लम्बी माला शोभा देती है। इस रूप को देखकर ब्राह्मणगण हर्षित होते हैं और ध्यान करके आनन्द पाते हैं। हे पथिक ! तुम भी उसी मूर्ति के दर्शन करके अपने संसारी दुःखों की गरमी को शान्त करो। ( २ )—( कोई स्वयं दूती किसी पथिक के प्रति कहती है )। हे पथिक ! नवीन उठे हुए बादलों ( पयोधरों ) को तो देखो कैसी सुन्दर आभा है और यहाँ मौलसिरी का बाग भी शोभित है ( घनी ओट है )। मयूर चातकादि पक्षीगण हर्षित हो रहे हैं। अपने अपने जोड़े का ध्यान करके आनन्दित होते हैं ( जोड़ी सहित बिहार करते हैं )। हे पथिक ! ऐसे समय मेरी ओर देखो और मेरे ( वा अपने ) कामताप को शान्त करो।

( अलंकार )—प्रस्तुतांकुर।

( कुंडलिया )

मूल—बीती सोवत रैनि सब होन चहै अब भोर।
पथी चेत कर पंथ को चिरियन लायो सोर ॥
चिरियन लायो सोर देखि चहुँ ओर घोर बन।
चोर लगैं बरजोर सखे यदि ठौर राखि धन ॥
बरनै दीनदयाल न गाफिल ह्वै, इत भीती।
साथी पाथी भये जाग अजहूँ निसि बीती ॥ १६ ॥

शब्दार्थ—सोर लायो=शोर करने लगी हैं। राखि धन=अपने धन की रक्षा करो। गाफिल=( अरबी ) असावधान। भीतौ=डर, भय। पाथी भये=चल पड़े, चले गये।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—हारे भूली गैल में गे अति पायँ पिराय।
सुनो पथी अब तो रह्यो थोरो सो दिन आय॥
थोरो सो दिन आय रहे हैं संग न साथी।
या बन है चहुँ ओर घोर मतवारे हाथी॥
बरनैं दीनदयाल ग्राम सामीप तिहारे।
सूधे पथ को जाहु भूलि भरमौ कित हारे॥ १७॥

शब्दार्थ—हारे=थके हुए। पायँ पिराय गे=पैरों में पीड़ा होने लगी। ग्राम=गाँव, ठहरने का स्थान। सामीप=समीप, निकट।

भावार्थ—सुगम ही है।

( उपदेश )—जीवात्मा को उपदेश है कि संसार के छोड़, अब ईश्वर-भजन में लग।

( अलंकार )—प्रस्तुतांकुर।

मूल—चारौं दिसि सूझै नहीं यह नव-धार अपार।
नाव जर्जरी भार बहु खेवनिहार गँवार॥
खेवनिहार गँवार ताहि पर है मतवारो।
लिए भौंर में जाय जहाँ जल जंतु अखारो॥
बरनै दीनदयाल पथी बहु पौन प्रचारो।
पाहि पाहि रघुबीर नाम धरि धीर उचारो॥ १८॥

शब्दार्थ—नद=( यहाँ ) संसाररूपी नद। जर्जरी=पुरानी। नाव=( यहाँ ) वृद्ध शरीर। भार=बोझा ( यहाँ ) वासनाओं का समूह।

खेवनिहार=( यहाँ ) मन। जलजन्तु=मगर घड़ियालादि । अखारो=समूह। बहु पौन प्रचारो=हवा भी खूब ज़ोर से चलती है। उचारो=बोलो, रटो।

भावार्थ—सुगम ही है।

मूल—देखो पथी उघारि कै नीके नैंन विवेक।
अचरजमय इहि बाग में राजत है तरु एक॥
राजत है तरु एक मूल ऊरध अध साखा।
द्वै खग तहाँ अचाह एक, इक बहुफल चाखा॥
बरनैं दीनदयाल खाय सो निबल बिसेखो।
जो न खाय सो पीन रहै अति अद्भुत देखो॥ १६॥

शब्दार्थ—बाग=सृष्टि। तरु=संसार रूपी वृक्ष। मूल ऊधर=जड़, ब्रह्मा, सत्यलोक में रहते हैं। अध साखा=साखारूपी मनुष्य नीचे भूलोक में हैं। ( मिलाओ—ऊर्ध्वमूलमधः शाखं अश्वत्थः प्राहुरव्ययम्—गीता )। द्वै खग=( मिलाओ—द्वा सुपर्णा सयुजा सखायाः—श्रुति ) जीवात्मा, परमात्मा। अचाह=निरीह ( परमात्मा ) निबल=कमजोर। पीन=पुष्ट, मोटा ताज़ा।

भावार्थ—हे पथिक ( जीव ), विवेक के नेत्र खोल कर अच्छी तरह से देखो, इस सृष्टि में एक अद्भुत वृक्ष शोभा देता है। वह ऐसा है कि उसकी जड़ ऊपर है, और शाखाएं नीचे हैं। उसपर दो पक्षी हैं, एक कुछ नहीं खाता और दूसरा बहुत से फल खाता है। दीनदयाल कहते हैं कि जो बहुत खाता है वह विशेष दुर्बल है, और जो नहीं खाता वह हृष्ट-पुष्ट है।

( अलंकार )—रूपकातिशयोक्ति।

मूल—देखो पथी अचंभ यह जमुना तट धरि ध्यान।
महि मैं विहरैं कंज द्वै करैं मंजु अलि गान॥

करैं मंजु अलि गान नील खंभा तहँ दो पर।
पिक ध्वनि दामिनि बीच तहाँ सर हँस मनोहर ॥
बरनै दीनदयाल संख पै सोम बिसेखो।
ता ऊपर अहि-तनै ताहि पर बरही देखो ॥ २० ॥

शब्दार्थ—अचंभ=( सं० असंभव ) अद्भुत वस्तु। कंज द्वै=( दो कमल ) चरण। अलि=( भौंरे ) नूपुर। नील खंभा=नीले रंग की जंघा। पिक=कोयल ( किंकणी )। दामिनि—( बिजली ) पीतांबर। सर=( कुंड ) नाभी। हँस=मोतीमाला। संख=ग्रीवा। सोम=( चंद्र ) मुखमंडल। अहि-तनै=( सर्प के बच्चे ) बाल। बहरी=( मोर ) मोर के पंखों का मुकुट।

नोट— इसमें अन्योक्ति तो कुछ भी नहीं, केवल रूपकातिशयोक्ति अलंकार द्वारा श्रीकृष्ण का नखशिख रूप वर्णन है। 'पथी' शब्द से किसी जन का ध्यान करने का उपदेश मात्र है। इसी को चाहे तो अन्योक्ति कह लीजिये।

मूल—या बन में करि केहरी कूप गभीर अपार।
द्वै पहर की ओट ते बसत एक बटपार ॥
बसत एक बटपार उभै धनु सर संधाने।
ता पीछे इक स्याम नागिनी चाहत खाने ॥
बरनै दीनदयाल इनै लखि डरिये मन में।
पथी सुपंथ बिहाय भूलि जनि जा या बन में ॥ २१ ॥

शब्दार्थ—बन=( स्त्री )। करि=( हाथी ) चाल। केहरी=( सिंह ) कटि। कूप=( नाभि )। पहार=( कुच ) बटपार=( डाकू ) सुन्दर मुख। उभै धनु=दोनों भृकुटी। सर=( बाण ) कटाक्ष। स्याम नागिनी=बेणी। खाना=डसना। बिहाय=छोड़ कर।

( उपदेश )— स्त्रीरूपी वन में अनेक भयंकर और बिनाशक बाधाएँ हैं ; हे जीव तू इस बन में भूलकर भी मत जा। यही उपदेश है।

( नोट )—स्त्री को 'बन' मानकर रूपकातिशयोक्ति कही गई गई है।

मूल—फूल है सुखमामई नई लहलही जोति।
छई ललित पल्लवनि तें लखि दुति दूनी होति॥
लखि दुति दूनी होती चपल अलि या पै हो हैं।
लगे गुच्छ द्वै बीच वहै जन को मन मोहैं॥
बरनैं दीनदयाल पथिक हे कित मति भूली।
या ती मारक महाछली विषबल्ली फूली॥ २२॥

शब्दार्थ—सुखमामई=अत्यंत सुन्दर। लहलही=ताज़ी, टटकी। छई=हुई, आच्छादित। पल्लव=यहाँ हाथ, पैर, ओठ इत्यादि। चपल=चंचल। अलि=( भौंरे ) यहाँ 'नेत्र'। गुच्छ=( यहाँ ) स्तनद्वय।

( नोट )—स्त्री को विषवेलि मान कर उससे बचने का उपदेश है।

अलंकार—रूपकातिशयोक्ति।

मूल—मोहै चंपक छबिन तें पथिक न यहि आराम।
कुंदकली अवली भली लसत बिंब बसु जाम॥
लसत बिंब बसु जाम कीर खंजन संग मिलिकै।
सजै भौंर तित लोल बोल बिलसैं कोकिल के॥
बरनै दीनदयाल बाग यह पथ को सोहै।
पाथी भौन है दूरि, देख! बीचहि मति मोहै॥ २३॥

शब्दार्थ— चंपक छबि=चंपे का सा वर्ण। आराम=बाग़। कुंदकली=दाँत। बिम्ब=( बिंबाफल ) ओठ। बसु=आठ। जाम=पहर। कीर=( शुक ) नासा। खंजन=नेत्र। भौंर=( यहाँ ) केश। कोकिल=बाणी।

( उपदेश )— यह कि स्त्री की छबि पर आसक्त न हो, परलोक का ध्यान रखो।

( नोट )—इसमें स्त्री को 'बन' मानकर रूपकातिशयोक्ति कही गई है।

मूल—चारों दिस लहरी चलैं बिलसै बनज बिसाल।
चपल मीन गति ललित अति तापर सजै सिवाल॥
तापर सजै सिवाल हंस अवली सित सोहै।
कोक जुगल रमनीय निरखि सर मैं मति मोहै॥
बरनै दीनदयाल मकरपति यामें भारो।
त्रास मानि हे पथी! ग्रास करिहै लखि चारो॥ २४॥

शब्दार्थ—लहरी=सौंदर्य की तरंगें। बनज=( कमल ) यहाँ मुखमंडल। मीन=नेत्र। सिवाल=केशपाश। हंसअवली=मुक्ता-माला। सित=सफेद। कोक=कुच। सर में मति मोहै=( १ ) नाभि में मति मोहित होती है, ( २ ) इस सरोवर पर मोहित न होना, सावधान! मकरपति=( १ ) मगर, ( २ ) कामदेव। ग्रास करि है=ग्रस लेगा, पकड़ लेगा! चारो=( अपना ) भोजन।

( नोट )—स्त्री को सरोवर मानकर अतिशयोक्ति कही गई है।

( सूचना )—अन्तिम चार उक्तियों में कवि ने 'कविचातुरी' का कमाल दिखलाया है। दीनदयाल जी संन्यासी थे, वैराग उनकी प्रकृति में समाया था। पर कवि होने के कारण रसिकता को नहीं त्याग सके। नारी-निंदा नहीं

कर सके। सँभल कर और अलंकारों का आश्रय लेकर अपने पद के अनुसार स्त्री पर आसक्त न होने का सुन्दर और उपकारी उपदेश दे ही डाला। ऐसी ही कविताओं से कवि की प्रकृति, उसकी चातुरी और अलंकार शास्त्र की उपयोगिता समझी जा सकती है।

## अथ शान्त-शृङ्गार-संगम

मूल—भूलै जोवन के न मद अरी बावरी बाम।
यह नैहर दिन चारि को अन्त कंत सों काम॥
अंत कंत सों काम तंत सब ही तजि दे री।
जाते रीझै नाह नेह नव तातें कै री॥
बरनै दीनदयाल भूप भूषन अनुकूलै।
चलि पिय गेह सनेह साजि, लखि देह न भूलै॥ २५॥

शब्दार्थ—नैहर = (सं० ज्ञातिगृह = ज्ञातघर। नाइघर = नैहर) पितृगृह। तंत = प्रबन्ध, (यहाँ) खेलकूद। कै = कर। भूप = भूषित कर, पहिन ले। बाम = (यहाँ) मानव-मति जीवात्मा।

भावार्थ—सरल ही है।

(नोट)—यहाँ से लेकर कुंडलिया नं० ३९ तक जीवात्मा के प्रति कवि का उपदेश है कि ईश्वर के यहाँ चलना है, संसार में मन न लगा। अच्छे काम करके वहाँ चलने की तैयारी कर।

मूल—गौने को दिन निकट अब होन चहै पिय मेल।
अजहूँ छुट्यौ न तोहि री गुड़ियन की यह खेल॥
गुड़ियन को यह खेल खेलि सब समय बिगारे।
सिखे नहीं गुन कछू पिया मन मोहनवारे॥
बरनै दीनदयाल सीख पैहै पिय भौने।
ये री भूषन साजि भटू! दिन आवत गौने॥ २६॥

शब्दार्थ—गौना = द्विरागमन। गुड़ियन का खेल = (यहाँ) सांसारिक व्यवहार। बिगारे = विनष्ट किया। सीख पैहै = दंड पावेगी, पीटी जायगी। भौने = भवन में। भट्टू = बधू।

भावार्थ—सहल ही है।

मूल—तू मत सोवै री परी कहौं तोहि मैं टेरि।
सजि सुभ भूषन बसन अब पिया मिलन की बेरि॥
पिया मिलन की बेरि छाँड़ि अजहूँ लरिकापन।
सूधे द्रग सों हेरि, फेरि मुख ना, दै तन मन॥
बरनै दीनदयाल छमैगो चूकन हू पति।
जागि चरन में लागि सभागिनि सोवै तू मति॥ २७॥

शब्दार्थ—बेरि = बेला। चूकन हू = दोषों को भी। पति = ईश्वर। सभागिनि = सोहागिन, सौभाग्यवती।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—पिय ते बिछुरे तोहि री बिते बहुत हैं रोज।
पिय पिय पपिहा जड़ रटै तू न करै पिय खोज॥
तू न करै पिय खोज कितै दुरमति में भूली।
होन लगे सित केस कौन मद में अब फूली॥
बरनै दीनदयाल सुमिरि अजहूँ तेहि हिय तें।
है सब तेरी चूक नहीं कछु तेरे पिय तें॥ २८॥

शब्दार्थ—बिते = व्यतीत हुए। रोज़ = (फा०) दिन। जड़ = अज्ञान। कितै = कहाँ। सित = सफेद।

भावार्थ—सरल है।

मूल—औरी पिय सों सब तिया मिलीं महल में जाय।
तू बौरी पौंरी धरे बाहर ही पछिताय॥

बाहर ही पछिताय रही अपनी करनी तें।
अली लगी अति देर चली कौनी सरनी तें॥
बरनै दीनदयाल चूक तेरी यहि ठौरी।
अब तो लगे कपाट भई यह बेला औरी॥ २९॥

शब्दार्थ—औरी=अन्यान्य। महल=रंगसारी। पौरी धरे=द्वार पर। सरनी=(सं० सरण) पद्धति, मार्ग। ठौरी=स्थान। कपाट=किवाड़। बेला=वक्त।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—मोहै नाहिं निहारि तू एरी नारि गँवारि।
ये दूती हैं जार की तोहि बिगारनि-हारि॥
तोहि बिगारनि-हारि कहैं मधुरी मृदु बातें।
तैं सुनिकै ललचाइ लखै नहिं इनकी घातें॥
करिहैं दीनदयाल कंत सों तोहिं बिछोहै।
अंत धरम बिनसाय कलंक लगाय बिमोहै॥ ३०॥

शब्दार्थ—जार=परपति। घातें=युक्तियाँ। बिछोह=वियोग।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—पति के ढिग जनि जार पै मार नयन के बान।
जानत सब व्यभिचार तव गुनत न नाह सुजान॥
गुनत न नाह सुजान कृपामय मानि अपानी।
बाँह गहे की लाज बिचारत स्वामि सुज्ञानी॥
बरनै दीननयाल बैन सुनि एरी मति के।
है अपजस अघ अंत किये छल सनमुख पति के॥ ३१॥

शब्दार्थ—व्यभिचार=परपति सम्बन्ध। गुनत न=चित्त में नहीं देता। मानि अपानी=अपनी (स्त्री) समझ कर। मति के=समझदारी के। अपजस=बदनामी।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—स्वामी सुन्दर सीलजुत अपनो गुनी कुलीन।
ताहि त्यागि पर नाह सठ सेवत कहा मलीन॥
सेवत कहा मलीन हीनमति कुलटा बोरी।
सुधासिंधु तजि मुधा फिरै मृगजल को दौरी॥
बरनैं दीनदयाल अरी ह्वै है बदनामी।
जार गँवारहि भजे तजे बर अपनो स्वामी॥ ३२॥

शब्दार्थ—नाह=(नाथ) पति। कुलटा=परपति-गामिनी स्त्री। मुधा=व्यर्थ। मृगजल=मृगतृष्णा का जल। बदनामी=अपजस। जार=यार, उपपति। वर=श्रेष्ट, उत्तम।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—औरै सब जग के पुरुष अपने पति पर वार।
जैसो तैसो निज भलो दुहुँ कुल तारनिहार॥
दुहुँ कुल तारनिहार सुजस गति तोसों लहिये।
इतर संग भय होय खोय कीरति दुख सहिये॥
बरनै दीनदयाल सील लाजहु या ठौरै।
राखि राखि री राखि छाँड़ि जग के पति औरै॥ ३३॥

शब्दार्थ—वार=वारने कर दे, निछावर कर दे। जैसो तैसो=जैसा हो वैसा ही। गति=मुक्ति। इतर=अन्य।

भावार्थ—सरल है।

मूल—तेरे ही अनुकूल पति कित बिनवै प्रिय बोलि।
घट में खटपट मति करै घूँघट को पट खोलि॥
घूँघट को पट खोलि देखि लालन की सोभा।
परमरम्य बुद्धि गम्य जासु छबि लखि जग लोभा॥

बरनै दीनदयाल कपट तजि रहु पिय नेरे।
विमुख करावनिहार तोहि सनमुख बहुतेरे ॥ ३४ ॥

शब्दार्थ—अनुकूल पति=वह पति जो निज स्त्री पर अति संतुष्ट हो। रम्य=सुन्दर। बुधिगम्य=जो बुद्धि से समझा जा सके।

भावार्थ—सरल। इतना याद कर लो कि यहाँ पति=परमात्मा। घूँघट-पट=माया का आवरण। विमुख करावनिहार=काम क्रोधादि। प्रिय=जीवात्मा है।

मूल—येरी जोबन छनक है सुनि री बाल अजान।
निज नायक अनुकूल तें नहीं चाहिये मान॥
नहीं चाहिये मान देख यह समै सोहाई।
द्विजगन के कल गान स्वाम सुधि देत धराई॥
बरनै दीनदयाल सीख सुनि सुन्दरी मेरी।
बिहरी बिहारी नाह पाहँ तेहि छाहँ अयेरी॥ ३५॥

शब्दार्थ—नायक=पति। सोहाई=शोभा दे रहा है, सुन्दर है। सुधि धधाई देत=याद दिला देता है। सीख=शिक्षा। विहर=बिहार कर। नाह=पति। अये री=(संबोधन है)।

भावार्थ—सरल है।

मूल—बिछुरी तू बहु काल तें पौढ़ी पीतम पाहँ।
कछु बीति निसि नींद में कछु कलहन के माहँ॥
कछु कलहन के माह रही मुख फेरि कठोरी।
पिय हिय लाई नाहिं मोद नहिं पायो बौरी॥
बरनै दीनदयाल रही अब निसि ना किछु री।
तू प्यारे परजंक पौढ़ि अजहूँ लौं बिछूरी॥ ३६॥

शब्दार्थ—पाहँ =( पार्श्व ) निकट । कलह=प्रणय-कलह । हिय लाइ नाहिं=हृदय से नहीं लगाया । किछु=कुछ भी । परजंक=( सं पर्यंक, पल्यंक ) पलंग । पौढ़ि—लेट कर ।

भावार्थ—हे स्त्री तू अपने खाविंद के साथ लेटी हुई भी बहुत देर से वियोगिनी है । कुछ रात्रि तो नींद में बीत गई और कुछ प्रणय-कलह में गुज़र गई । कुछ ही कलह के कारण तू ने मुँह फेर लिया, अतः तू बड़ी कठोर-हृदया जान पड़ती है । इसी से प्रियतम ने भी तुझे हृदय से नहीं लगाया, और इसीसे तुझ बौरी ने कुछ सुख नहीं पाया । दीनदयाल जी कहते हैं कि अब तो कुछ भी रात्रि बाकी नहीं रही, और तू प्रियतम के पलंग पर लेटी हुई भी अब तक वियोगिनी बनी है ।

नोट—यहाँ तक जीवात्मा को स्त्री मानकर और ईश्वर को पति मानकर उससे विमुख न रहने का उपदेश है ।

मूल—कासों पाती हौं लिखौं कापै कहौं संदेस ।
जे जे गे ते नहिं फिरे वहि पीतम के देस ॥
वहि पीतम के देस बड़ो अचरच्च या भासै ।
कहूँ न तम को लेस तहाँ बिनु भानु प्रकासै ॥
बरनै दीनदयाल जहाँ नित मोद-मवासो ।
जन्मादिक दुख द्वंद नहीं चर कहिए कासों ॥ ३७ ॥

शदार्थ—कासों पाती हौं लिखौं=पत्रादि लिखने की सामग्री नहीं है । कापै कहौं सँदेस=किसके द्वारा सँदेसा कहला भेजूँ । गे=गये । मोद-मवासो=मोद के रहने का सुरक्षित स्थान । दुखद्वंद=दुःख देने वाले विरोधी भाव, जैसे—जन्म-मरण, शीत-उष्ण, रात-दिन इत्यादि । नहीं=इसका प्रयोग

देहरी दीपक-न्याय है, अर्थात् पंक्ति के पूर्वार्द्ध और उत्तरार्द्ध दोनों में लगेगा। चर=दूत।

भावार्थ—सरल ही है।

( नोट ) मिलाओ:—

न तद्भासयते सूर्य्यो न शशांको न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम ॥
( गीता० अ० १५ )

( सती )

मूल—पति की संगति री सती लै सुगती यहि आगि।
धरे सिंधौरा कर परै अब दे डगमग त्यागि ॥
अब दे डगमग त्यागि भागि जनि चेति चिता कों।
जरे मरे सिधि पाउ कलंक न लाउ पिता कों ॥
बरनै दीनदयाल बात यह नीकी मति की।
सुजस लोक, परलोक श्रेय, लै संगति पति कौ ॥ ३८ ॥

शब्दार्थ—सुगति=मुक्ति। सिंधौरा=व्याह समय की सिंदूरदानी। ( रीति है कि व्याह समय का सिंधौरा लेकर सती चिता पर बैठती है )। डगमग=विचलित होना। चेति=जला दे, आग लगा दे। श्रेय=कल्याण।

भावार्थ—हे सती, इस आग में पति के साथ जलकर मुक्तिपद प्राप्त कर। जब सिंधौरा हाथ पर रख ही लिया तब अब विचलित होना छोड़ दे। विचलित होना छोड़ दे, भाग मत, चिता को ( अपने सत से ) जला दे। जल कर सिद्धि प्राप्त कर, पिता को कलंक मत लगवा। दीनदयाल कहते हैं कि यही समझदारी की बात है। इससे इस लोक में, सुयश और परलोक में मंगल होगा, अतः पति के साथ सती होकर पतिलोक को जा।

# अथ मोह, विवेकादि वर्णन

( मोह )

मूल—जीवत हौ यहि जगत में देह मरे के अंत।
अहो मोह अति सिद्ध हौ तुम में कला अनंत ॥
तुममें कला अनंत, संत गुनि अचरज भाषत।
सोक अनल के माहँ हृदय बारिज को राखत ॥
बरनै दीनदयाल नेह में नचो नटीवत।
देखि परो पहिँ, ज्ञान दिव्य, लोचन को, जीवत ॥ ३९ ॥

शब्दार्थ—देह मरे के अंत = देह की अंतिम दशा तक। कला = हुनर। मोह = ग़लतफ़हमी ( कुछ का कुछ समझ लेना )।

भावार्थ—हे मोह ! तुम शरीरांत तक जीवित रहते हो, तुम बड़े भारी सिद्ध पुरुष हो, तुम में अनंत हुनर ( सिद्धि ) है, ऐसा हुनर है कि संत लोग उसे समझ समझ कर आश्चर्य ही करते हैं। तुम शोक रूपी अग्नि मेंभी हृदय-रूपी कमल को ( प्रफुल्लित ) रखते हो। दीनदयाल कहते हैं कि तुम नटी के समान नाचते हो, तुम्हारी आँख को जीवन पर्यन्त दिव्य ज्ञान न दिखाई पड़ा। ( अफ़सोस है। )

( काम )

मूल—हर तन धरि कोपाग्नि जग जारत प्रलय कराल।
तुम जारत-जग-जनक मन अतन हँसत बिन काल ॥
अतन हँसत बिन काल ज्वाल ससि-मुखतें व्यापी।
वे लीने कर शूल, फूल सर, तातें तापी ॥
बरनै दीनदयाल जयो तेहि लीला पन करि।
हारि रहे सब भाँति लखत तव बल हर तन धरि ॥ ४० ॥

शब्दार्थ—जग-जनक = शिव ।

भावार्थ—कराल प्रलय के समय, शंकर तो तन धारण करके अपनी कोपाग्नि से संसार को जलाते हैं, पर हे काम ! तुम देहरहित होकर भी हँसते-हँसते ( बिना परिश्रम ) अकाल में ही जगत्पिता शिव का मन जला देते हो। उनके लिये अकाल ही मुखरूपी शशि से अग्नि पैदा हुई, यह देखकर काम हँसता है। वे तो त्रिशूल लिये हुए हैं ( तब संसार को जलाते हैं, पर ) तुम्हारे पुष्पसर उस त्रिशूल से भी अधिकतर संतप्त करनेवाले हैं। दीनदयाल कहते हैं कि उनको तो खेल ही खेल में प्रतिज्ञा करके तुम ने जीत लिया। सब प्रकार से तनधारी शिव तेरे बल को देखकर हार गये ( तुम ऐसे प्रबल हो )।

मूल—ह्याँ मति आओ मार तुम मारे रथी अपार ।
यह हर-ईछन तीसरो तीछन बड़ो विचार ॥
तीछन बड़ो विचार तुम्हैं लै छार करैगो ।
सबही तो परिवार रोय बहु बार मरैगो ॥
बरनै दीनदयाल काम ! ह्वै है तव क्या गति ।
उतै रहौ, कहुँ बहो प्रान लै, आओ ह्याँ मति ॥ ४१ ॥

शब्दार्थ—मार = काम। रथी = बली, योद्धा। हर-ईछन = शिवनेत्र। कहुँ बहौ प्रान लै = प्राण लेकर कहीं भाग जाओ।

भावार्थ—सरल ही है।

( क्रोध )

मूल—जेहि मन तें उदभव भयो जेहि बल जग में सूर ।
तेहि निसि दिन जारत अहो दुसह कोप गति कूर ॥
दुसह कोप गति कूर बड़ो कृतघन जग मों है ।
प्रथम दहत है आप बहुरि दाहत सब को है ॥

बरनै दीनदयाल कोप तू सुनि सब जन तें।
अजस होत जनि दहै भयो उदभव जेहि मन तें ॥ ४२ ॥

शब्दार्थ—उदभव भयो=पैदा हुआ। सूर=शूरवीर। कूर=निर्दय। कृतघन=कृतघ्न।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—भाजत लै भा, लखि तुम्हैं इन नैनन के ईस।
करत महातम, क्रोध तुम ! कौन करे तव रीस ॥
कौन करै तव रीस, एक गुन में जग लावत।
अधर, दसन, भ्रू, नाक, निमिष में सबै नचावत॥
बरनै दीनदयाल घोर घन लौं छन गाजत।
ए हो कोप प्रचंड कौन नहिं तुमतें भाजत ॥ ४३ ॥

शब्दार्थ—भा=ज्योति। नैनन के ईस=सूर्य। रीस=बराबरी। एक गुन में जग लावत=समस्त संसार को एक गुणमय (तम गुणमय=अंधेरा) कर देते हो। लौं=समान। गाजत=गरजते हो। भाजत लै······ईस=क्रुद्ध मनुष्य को कुछ सूझता नहीं।

भावार्थ—सरल ही है।

(लोभ)

मूल—तुमरी लोभ ! कलानि को अचरज कहैं प्रवीन।
ज्यों ज्यों बय ग्रासै जरा त्यों त्यों होत नवीन ॥
त्यों त्यों होत नवीन सकल जन को तुम देखत।
खरे रहो सब तीर न कोऊ तो तन पेखत ॥
बरनै दीनदयाल अखिल महि तो मति घुमरी।
लही न पुरी बराट कला यह चूकति तुमरी ॥ ४४ ॥

शब्दार्थ—बय ग्रासै जरा = जरावस्था आती जाती है। तो तन = तेरी ओर। पेखत – ( सं० प्रेक्षण ) देखता है। घुमरी = घूम आई, चक्कर दिया। पुरी = पूर्ण समूची। बराट = कौड़ी। तीर = निकट।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—अँचयो कुंभज नीरनिधि सो सिध बड़े कहात।
तुम जग जीवन-निधि-निकर सीकर सम चटि जात ॥
सीकर सम चटि जात लोभ तव प्यास न जाई।
तुम अकास, रिषि रेनु, कहा तिन केरि बड़ाई ॥
बरनै दीनदयाल लोक तिहुँ ग्रसि कै पँचयो।
तऊ भूख नहिं प्यास गई, सत सागर अचयो ॥ ४५ ॥

शब्दार्थ—कुंभज = अगस्त्य ऋषि। नीर-निधि = समुद्र। जीवन-निधि = धन। निकर = समूह। सीकर = कण, बूँद। चटि जात = चाट जाते हो। तुम......रेनु = तुम आकाश सम हो और अगस्त्य रेणु-कण के समान है। अचयो = पी गये।

भावार्थ—सरल है।

मूल—आसा की डोरी गरे बाँधि देत दुख षोभ।
चित पितु को बन्दर कियो अहो कलंदर लोभ ॥
अहो कलंदर लोभ छोभ दै नाच नचावत।
जदपि निरादर चोट समुझि अतिसै दुख पावत ॥
बरनैं दीनदयाल लोग सब लखैं तमासा।
भरमावै घर घरहिं तऊ नहिं पूरति आसा ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—षोभ = खोभा, पीड़ा। कलंदर = बन्दर नचानेवाला। तमासा = खेल। पूरति = पूर्ण होती है।

भावार्थ—सरल है।

( दंभ )

मूल—देखो कपटी दंभ को कैसो याको काम।
बेचनहारो बेर को देत दिखाय बदाम॥
देत दिखाय बदाम लिये मखमल की थैली।
बाहर बनी विचित्र वस्तु अन्त अति मैली॥
बरनै दीनदयाल कौन करि सकै परेखो।
ऊँची बैठि दुकान ठगै सिगरो जग देखो॥ ४७॥

( नोट )—अर्थ सरल ही है। दंभ की यही ठीक परिभाषा है।

( अभिमान )

मूल—करनी जम्बुक जून ज्यों, गरजनि सिंह समान।
क्यों न डरै जग लखि तुम्हें अहो बीर अभिमान॥
अहो बीर अभिमान धरा को धीर धरैगो।
कोप करौ न प्रचंड सबै ब्रह्मंड जरैगो॥
बरनैं दीनदयाल गिरा-भट तो मति बरनी।
धरनीधर लौं गई नई यह अद्भुत करनी॥ ४८॥

शब्दार्थ—जम्बुक = सियार। जून = ( जीर्ण ) बुड्ढा। जरैगो = ( ऐसा प्रसिद्ध है कि जब सियार क्रुद्ध होकर चिल्लाता है, तब उसके मुँह से अग्नि की सी ज्वालाएँ निकलती देखी जाती हैं ) भस्म हो जायगा। गिराभट = वाग्वीर, बोलने में शूर। धरनीधर = शेषनाग। लौं = तक।

भावार्थ—हे वीर अभिमान ! तुम्हें देखकर संसार क्यों न डरे, क्योंकि तुम्हारी गरजना तो सिंह के समान है, परन्तु करतूत तो बूढ़े सियार की सी है (महाकायर हो)। हे वीर अभिमान ! तुम्हें देख कर पृथ्वी में कौन धीरज धर सकता है। अतः प्रचंड कोप न करो, नहीं तो समस्त ब्रह्मांड भस्म हो जायगा। दीनदयाल कहते हैं कि तुम्हारी मति तो वाग्वीर ही कही गई है (बोलते बहुत हो, कर कुछ नहीं सकते)। तुम्हारी इस नवीन और अनोखी करनी की चर्चा शेषनाग तक पहुँच गई है—(शेष भी ज्वाला वमन करने वाले और वाग्वीर हैं)।

(विवेक)

मूल—सुनिये बैन विवेक जू हो नृप धीरज धाम।
जौ लगि जीवत काम यह तौ लगि होय न काम ॥
तौ लगि होय न काम बड़ो खल है रिपुदल मैं।
याकी कला अनेक सकल जग जीते छल मैं ॥
बरनैं दीनदयाल विरति सों मिलि हित गुनिये।
भनैं जो मन्त्री साधु सीख साँची सो सुनिये ॥ ४६ ॥

शब्दार्थ—काम = कामवासना। तौ लगि होय न काम = तब तक शान्ति प्राप्त न होगी। विरति = वैराग। हित गुनिये = अपनी भलाई समझो। भनै = कहै। साधु = सज्जन।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—करिये बेगि विवेक जू शान्ति प्रिया को सोध।
सकुल कृतारथ होहुगे उपजत पूत प्रबोध ॥
उपजत पूत प्रबोध बजैगी अनँद-बधाई।
धन्य कहैंगे धीर रहैगी कीरति छाई ॥

बरनै दीनदयाल जगत के जाल न परिये।
मिलि नियमादि सखान शान्ति सों नित हित करिये ॥ ५० ॥

शब्दार्थ—प्रिया = पत्नी। सोध = खोज। प्रबोध = अज्ञान।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—सुनियें भूप विवेक तुम वासुदेव अवतार।
किय मन पितु बसुदेव को बंधन तें उद्धार ॥
बंधन तें उद्धार कियो, कामादि कंस हनि।
जनकहिं दै आनन्द कृतारथ कुलहि किये धनि ॥
बरनै दीनदयाल सुमति सों नित हित गुनिये।
जातें पूत प्रबोध प्रकट ह्वै सो सिख सुनिये ॥ ५१ ॥

शब्दार्थ—वासुदेव = श्रीकृष्ण। नित हित गुनिये = हमेशा प्रेम रखो। ह्वै = (होय) होवे।

भावार्थ—सरल ही है।

(विचार)

मूल—सुनिये बैन विचार तुम या जग होते जौ न।
तो यह जीव मलीन को करत कृतारथ कौन ॥
करत कृतारथ कौन ख्वार इहि मारहि मारत।
को करिकै निरधारहिं सार असार विचारत ॥
बरनै दीनदयाल वहै विधि गुरुगम गुनिये।
जाते होय प्रबोध उदय सो सम्मति सुनिये ॥ ५२ ॥

शब्दार्थ—ख्वार = जलील। ख्वार इहि मारहि मारत = इसे तो काम ही जलील करके मार डालता। निरधार = निर्णय। गुरुगम = (सं० गुरुगम्य) गुरुद्वारा समझने योग्य। प्रबोध = ज्ञान।

भावार्थ—सरल ही है ।

( विराग )

मूल—एहो त्याग मृगेस ! तुम बिन यहि तन-बन राज ।
करत स्यार कामादि अब, ह्वै स्वतंत्र सिरताज ।।
ह्वै स्वतंत्र सिरताज फिरत कूकत कै फूले ।
किन गरजत् घननाद, पराक्रम कित वह भूले ।।
बरनै दीनदयाल त्रास जौलौं नहिं देहौ ।
तौलौं नहिं ये क्रूर कढ़ैंगे हिय तें एहौ ।। ५३ ।।

शब्दार्थ—त्याग = विराग । मृगेस = सिंह । तन-बन = तन रूपी वन में । राज करत = शासन करते हैं । फिरत कूकत, कै फूले = कूकते फिरते हैं वा फूले फिरते हैं । घननाद = बादल की सी गरज से । पराक्रम = बल ।

भावार्थ—सुगम ही है । ( अलंकार ) = रूपक ।

( सन्तोष )

मूल—ए हो तोष कुलोभ तम को तौलों है बास ।
जौलौं नहि रवि रूप तुम प्रगटत हृदय अकास ।।
प्रगटत हृदय अकास लाभ लघु मुद जुगनू के ।
दुख दीनता मलीन उलूक रहैं ढिग ढूके ।।
बरनै दीनदयाल लोभ को कब भय दैहो ।
तुम बिन सुख नहिं रंच मुनो सन्तोष अए हो ।। ५४ ।।

शब्दार्थ—तोष = सन्तोष । तम = अंधकार । मुद = आनन्द । लाभ लघु मुद जुगनू के = जुगनू के प्रकाश से थोड़ा ही लाभ और आनन्द है । रहैं ढिग ढूके = निकट ही घात में दुबके बैठे रहते हैं ।

भावार्थ—सरल ही है ।

( क्षमा )

मूल—बानी कटु सुनि कोप की छमा ! गहौ न गिलान ।
कहा हानि मृगराज की भूँकत जौ लखि स्वान ॥
भूँकत जौ लखि स्वान हारि मानैगो आपै ।
बैठि रहो हे वीर धीर तुम बोलत कापै ॥
बरनै दीनदयाल बात बुध बिमल बखानी ।
कीजै कछू न सोच सठन की सुनि कटु बानी ॥ ५५ ॥

शब्दार्थ—गिलान = ग्लानि । स्वान = कुत्ता । बुध = पंडित ।

भावार्थ—सरल ही है ।

( मन )

मूल—हे मन ये कामादि तव तनय नरक की खानि ।
तुम जानत सुखदानि हैं ये निस दिन दुखदानि ॥
ये निस दिन दुखदानि मीत बनि प्रीत प्रकासैं ।
अन्तर अरि हैं अन्त छीनि तो निज धन नासैं ॥
बरनैं दीनदयाल सङ्ग इनके है छेम न ।
सुत विवेक तें आदि करो तिनतें हित हे मन ॥ ५६ ॥

शब्दार्थ—तनय = पुत्र । अन्तर = भीतर ही भीतर, गुप्त रूप से । विवेक तें आदि = विवेक, विचार, विराग इत्यादि पुत्र ।

भावार्थ—सरल है ।

मूल—हे मन बद मद मार को कछु न करो इतबार ।
ये तो दैतन दैत हैं सुभ गुन भच्छनिहार ॥

सुभ गुन भच्छनिहार कुमति रजनी मैं गाजैं ।
होय प्रबोध प्रभात नहीं तब ते खल राजैं ॥
बरनै दीनदयाल जगत मैं तौलगि छेम न ।
जौलगि नहिं ये कूर कढ़ैंगे हिय तें मन ॥ ५७ ॥

शब्दार्थ—बद=( फा० ) खोटे । इतबार=( अ० ) विश्वास । दैतन दैत हैं=दैत्यों के दैत्य हैं, बड़े बली दैत्य हैं । रजनी=रात्रि । प्रबोध=ज्ञान । राजैं=शोभा पाते हैं । तौलगि=तबतक ।

भावार्थ—सरल ही है ।

( अलंकार )—रूपक ।

( प्रबोध प्रशंसा )

मूल—भारी भूपति जीव यह रह्यौ अखिल को ईस ।
भयो भूल बस कीट सम निज पद परयो न दीस ॥
निज पद परयो न दीस ताहि सुर सीसहिं चाढ़यो ।
हे प्रबोध तुम धन्य जगत-सरि बूड़त काढ़यो ॥
बरनै दीनदयाल वेद हैं तव जसकारी ।
'चिदानन्द सन्दोह' दियो सिंहासन भारी ॥ ५८ ॥

शब्दार्थ—अखिल=सर्व संसार । ईस ( ईश )=मालिक । पद=पदवी स्थान । दीस न परयो=देख न पड़ा । सुर सीसहिं चाढ़यो=देवताओं के सिर पर चढ़ा दिया, सर्वश्रेष्ठ बना दिया । "चाढ़यो" क्रिया का यह रूप हमें ठीक नहीं जँचता ) । जसकारी=यश गानेवाला ।

भावार्थ—यह जीवात्मा सबका मालिक एक बड़ा भारी राजा था । भूल-बस कीड़ा समान हो गया, उसे अपना पद न देख पड़ा । ऐसे तुच्छ को

( हे प्रबोध ! तूने ) सर्वश्रेष्ठ बना दिया। हे प्रबोध ! तुम धन्य हो कि जीव को संसार नदी में डूबने से निकाल लिया। दीनदयाल कहते हैं कि वेद तुम्हारा यश वर्णन करता है, क्योंकि तुमने "चिदानन्दसन्दोह" का भारी पद जीव को दिया है।

नोट—छन्द नं० ३९ से यहाँ तक विवेकादि का वर्णन है। पाठक इसे अच्छी तरह समझ लें। इससे अधिक जानना चाहें तो 'कृष्णकवि' कृत 'प्रबोधचन्द्रोदय नाटक' और 'केशवदास' कृत 'विज्ञानगीता' को देखें।

## फुटकर प्रसंग

( विधि-विडंबना )

मूल—करनी बिधि की देखिये अहो न बरनी जाति।
हरनी के नीके नयन बसै बिपिन दिनराति ॥
बसै बिपिन दिनराति बरन बर बरही कीने।
कारी छबि कलकंठ किये फिर काक अधीने ॥
बरनै दीनदयाल धीर धन ते बिन घरनी।
बल्लभ बीच वियोग, विलोकहु बिधि की करनी ॥ ५९ ॥

शब्दार्थ—बरही = मयूर। कलकंठ = कोयल। धीर = धैर्यवान (बुद्धिमान)। घन ते बिन = बिना धन के ( निर्धन )। बल्लभ = प्रियजन।

भावार्थ—ब्रह्मा की करतूत तो देखो, वर्णन नहीं की जा सकती। अच्छे नेत्रवाली हरणी रात-दिन जंगल में बसती है, मोर का सुन्दर रंग किया है, कोयल को काली बनाकर कौवे के अधीन किया है, बुद्धिमानों को निर्धन बनाया, प्रियजनों का वियोग करा देता है। ब्रह्मा की इस करतूत को ग़ौर से देखो ( और समझो )।

मूल—आये काम न साँकरे रच्छक खरे अपार।
रतनाकर अरु चन्द के हुते सकल हितकार॥
हुते सकल हितकार बिबुध बर बीर बाँकुरे।
और सूलधर ईस गदाधर धीर ठाकुरे॥
बरनै दीनदयाल रहे सब सखा सोहाये।
कुंभजात अरु राहु ग्रसत कोउ काम न आये॥ ६० ॥

शब्दार्थ—साँकरे=संकट। खरे=सच्चे (खोटे नहीं)। रतनाकर=समुद्र। हितकर=शुभैषी। बाँकुरे=बाँके (बिरदवाले)। ईस=शिव। गदाधर=विष्णु। ठाकुर=शक्तिमान। कुंभजात=अगस्त्य मुनि। काम न आये=सहायता न कर सके, बचा न सके, रक्षा न कर सके।

अलंकार—यथासख्य।

मूल—द्वैज दिवस के चन्द को बंदत सबै सप्रीति।
कहत कलंकी पूर ससि अहो कूर जगरीति॥
अहो कूर जग रीति बढ़े पर चौगुन दूषैं।
मिलै कुटिल कबहूँक ताहि महिमा करि भूषैं॥
बरनै दीनदयाल न प्रापति ह्वै दिन-दस के।
सबै करैं बहुमान जथा ससि द्वैज दिवस के॥ ६१ ॥

शब्दार्थ—पूरससि=पूर्णिमा का चन्द्रमा। कूर=निकम्मी। कबहूँक=कभी। भूषैं=भूषित करते हैं। महिमा करि भूषैं=बड़ाई से भूषित करते हैं। न प्रापति...दस के=अच्छी दिन दशा के न प्राप्त होने पर (दीनावस्था में ही)। बरनै......दस के=दीनदयाल जी कहते हैं कि अच्छी दशा के न प्राप्त होने पर भी (कभी कभी छोटे कुटिलों की भी प्रशंसा होती है)।

भावार्थ—सरल ही है।

मूल—जाको खोजत सो मिलै यामैं संसय नाहिं।
बिरचै माखी मधु सुधा भीषन बन के माहिं॥
भीषन बन के माहिं सिंह गजराज बिदारैं।
मुकता मिलैं मराल, मिलिन्द सरोज बिहारैं॥
बरनै दीनदयाल स्वाति जलऊ पपिहा को।
मिलै भली बिधि आय जौन जग खोजत जाको॥ ६२॥

शब्दार्थ—संसय=सन्देह। सुधा=मीठा। मिलिन्द=भौंरा।

भावार्थ—सरल ही है।

( भूप-कूप श्लेष )

मूल—कूपहिं आदर उचित है नहीं गुनिन को हेय।
अन्तर गुन को ग्रहन करि फिरि फिरि जीवन देय॥
फिरि फिरि जीवन देय गुनी गुन बृथा न जावै।
अति गभीर हिय दुहू झुके तें अमृत लखावै॥
बरनै दीनदयाल न देखत रूप कुरूपहिं।
जो घट अरपन करै ताहितें ममता कूपहिं॥ ६३॥

शब्दार्थ—(कूपपक्ष में)—कूप=कुँवा। गुनी=जिसके पास रस्सी हो। नहीं गुनिन को हेय=रस्सीवाले का अनादर कुँवा कर ही नहीं सकता। अन्तर=अपने भीतर। जीवन=जल। अमृत=जल। घट=घड़ा। ममता=अपना समझना। अरपन करै=कुएँ में डाले। (राजा पक्ष में)—कु=पृथ्वी। कूप=(कु+प) पृथ्वीपति, राजा। गुनी=गुणवान व्यक्ति। अंतर=हृदय में। जीवन=जीविका। दुहू=कुँवा और राजा। झुके तें=झुकने से,

अधीन रहने से। अमृत = धन, जो बिना माँगे मिलै। घट = शरीर। अरपन करै = सेवा में लगा दे। ममता = प्रेम। कूपहि = राजा को।

भावार्थ—शब्दार्थ के ज्ञानबल से दोनों अर्थ सरल और बोधगम्य हो जाते हैं।

( सज्जन-ढेंकुल श्लेष )

मूल—गुन को गहि यहि खेत में नमैं सुबंसज होय।
कृसि तन जीवन देत हैं पीछे गुरुता होय॥
पीछे गुरुता होय कूप तें आदर पावैं।
ऊँच कहैं सब कोय अमृत घट पुन्य सोहावैं॥
बरनै दीनदयाल धन्य कहिये जग उनको।
सहि दुख, सुख दैं सबै, सरल अति हैं गहि गुनको॥ ६४॥

शब्दार्थ—( सज्जन पक्ष में )—गुन = गुण। खेत = संसार। नमैं—झुकते हैं। सुबंसज = अच्छे वंश से उत्पन्न। कृसित = दुर्बल, निर्बल। जीवन = जीविका। गुरुता = बड़ाई। कूप = ( कू + प ) राजा, पृथ्वीपति। अमृतघट = अमर शरीर। पुन्य = पवित्र। सरल = सीधे सादे। ( ढेंकुल पक्ष में )— गुन = रस्सी। खेत = जोती हुई ज़मीन। नमैं = झुकते हैं। सुबंसज = अच्छे बाँस का। कृसितन = ( कृषि + तन ) खेती के तन को, खेतों को। जीवन = जल। गुरुता = भार, जो ढेंकुल के पीछे बँधा या चिपका रहता है। कूप = कुँवा। अमृतघट = पानी के घड़े। पुन्य = पवित्र। सरल = सीधा। गुन = रस्सी।

भावार्थ—शब्दाथ बल से सुबोध हो जाता है।

( सूक्ष्मालंकार )

मूल—कासों हनिए कोप को, कापै पैए ज्ञान।
गुरू मौन सैनहिं कह्यौ छिति छ्वैकै, धरि कान॥

छिति छुवैकै धरि कान दसन रवि फेरि लखाये।
देखि केस की ओर सुनैन कपाट लगाये॥
बरनै दीनदयाल सिख्य गुरु की करुना सों।
समुझि लई सब सैन बैन तिन कह्यौ न कासों॥ ६५॥

शब्दार्थ—सैनहिं=इशारे से। छिति=पृथ्वी (जिसका पर्याय 'क्षमा' भी है)। कान=श्रुति (वेद)। दसन लखाये=हँस दिया। रवि=सूर्य (जिसका पर्याय हंस' भी है। हंस विवेको प्रसिद्ध है)। केश=बाल। 'केश' शब्द का अर्थ 'विष्णु' भी है।

भावार्थ—एक शिष्य ने अपने मौनी गुरु से दो प्रश्न किये—(१) क्रोध को किस चीज़ से मारना चाहिए? (२) ज्ञान किससे मिल सकता है? गुरु ने ज़मीन छुई और कान पकड़ा (जिसका अर्थ हुआ क्षमा से और श्रुति अर्थात् वेद से)। पुनः यह विचार कर कि शायद शिष्य इन इशारों को न समझा हो—कुछ हँस दिया और सूर्य की ओर उँगली उठाई, जिसका अर्थ यह हुआ कि (१) हँस देने से और (२) हंस अर्थात् विवेकी बनने से। फिर विचार किया कि शायद अब भी न समझा हो, तब गुरु जी ने केशों की ओर देख कर आँख मूँद ली, जिसका अर्थ यह हुआ कि ईश्वर के ध्यान में मग्न होने से। इसी एक क्रिया से कोप भी शान्त हो जायगा और ज्ञान भी प्राप्त होगा।

नोट—सूक्ष्मालंकार की परिभाषा यों है :—

"सूक्ष्म पर आशय लखे करै क्रिया कछु भाय।" अर्थात् यहाँ इशारों से मन की बात समझाई जाय।

( मुद्रालंकार )

मूल—कोई सा रस नहिं मिलै मदन बान के बीच ।
मीन केतकी कीच फँसि कुंद भई मति नीच ॥
कुंद भई मति नीच निवारी जाइ नहीं है ।
जुही समग्री, स्याम जपा कर नाम सही है ॥
जाती दीनदयाल बिमल बेला सब्बोई ।
ताहि चेत कर बीर धीर बरनैं सब कोई ॥ ६६ ॥

भावार्थ—काम के बाणों के बीच पड़ने से कोई भी रस नहीं मिलता । काम की कीचड़ में फँस कर मति भी मोथरी और नीच हो गई है कुंद और नीच हुई बुद्धि उस ओर से ( काम की ओर जाने से ) रोकी नहीं जा सकती ( नष्ट होने की ) सब सामग्री एकत्र होगइ है, अतः उचित यह है कि श्याम ( कृष्ण ) का अविनाशी नाम जपा कर । दीनदयाल कहते हैं कि यह सब निर्मल ( अच्छी ) बेला ( समय ) गुज़री जा रही है । हे वीर ! उसकी खबर कर, जिससे सब लोग तुझको धीर पुरुष कहके तेरी प्रशंसा करें ।

नोट—मुद्रालंकार उसे कहते हैं जहाँ प्रस्तुत अर्थों के प्रकाशन में ऐसे शब्दों का प्रयोग किया जाय जिससे एक सम्बन्ध के अन्य शब्द भी निकल सकते हों । यहाँ जो अर्थ लिखा गया है वह प्रस्तुत विषय है । पर इसमें ऐसे शब्दों का प्रयोग है जो पुष्पवाची हैं ।

( देखिये )—कोई = कुमुदिनी । सारस = कमल । मदनबान = एक प्रकार का बेला । केतकी । कुंद । निवारी । जाई । जूही । जपा = गुड़हर । करना । जाती = चमेली । बेला । शब्बो । करवीर । बरनै = बरना ( बरुना ) । बकोई = ( बकौरी ) बकावली ।

( पुनः )

मूल—सो नाहीं नर सुघर है जो न भजै श्रीरंग।
पारावार अपार जग बूड़त भौंर कुसंग॥
बूड़त भौंर कुसंग ठौर तामहिँ नहिं पावै।
सीसहु देत डुबाय भलो हाथहु न उठावै॥
बरनै दीनदयाल रूप हरि को तिहि माहीं।
ध्यान धरै दृढ़ नाव जानि, बूड़त सो नाहीं॥

नोट—प्रस्तुत अर्थ तो सरल ही है। यहाँ मुद्रा द्वारा धातुओं के नाम प्रकट होते; यथा—सोना रंग=राँगा। पारा। संग=( पत्थर ) तामहिं= तामा ( ताम्र )। सीसा। लोहा। रूप = रूपा ( चाँदी )। हरि=सोना। इसी प्रकार की रचना में मुद्रा अलंकार माना जाता है।

( व्याजस्तुति )

मूल—कासी हाँसी मुनि करैं सुनि करनी तव एक।
दासी तपसी एक सी दै गति बिना विवेक॥
दै गति बिना विवेक, एक या और कुचाली।
अरपै कोऊ कोटि तिन्हैं लै करो कपाली॥
बरनैं दीनदयाल काय तिहुँ तिनकी नासी।
परे सरन जे आय कहा यह कीन्हीं कासी॥ ६८॥

शब्दार्थ—कपाली=( १ ) खोपड़ी लेकर भिक्षा माँगनेवाला, (२) शिव। काय तिहुँ=तीनों शरीर, अर्थात्, स्थूल, लिङ्ग, सूक्ष्म। काय...नासी=मुक्त कर देती हो ( तीनों शरीर नाश कर देती हो )।

भावार्थ—सुगम ही है।

नोट—व्याजस्तुति की परिभाषा यों है :—

"देखत तो निन्दा लगै समुझे अस्तुति होय"।

मूल—सुरधुनि बंकित क्यों चलै चकित सुकबि यहि हेत।
अहो होत लज्जित नहीं खलन ईस-पद देत॥
खलन ईस-पद देत नहीं परिनाम बिचारै।
बाँधै गहि लै जटा न वे उपकार निहारै॥
बरनै दीनदयाल परी सव तो सिर पै सुनि।
करी अकरनी जौन भोग ताको री सुरधुनि॥ ६९॥

शब्दार्थ—सुरधुनि = गंगा। बंकित = टेढ़ी, बाँकी। ईसपददेत = शिव बना देती है। परिनाम = अंतिम फल। सव = (सं० शव) मुर्दों की लाशें।

भावार्थ—सुगम है। व्याजस्तुति भी सरलता से समझी जाती है।

## प्रेम-पंचक

(सवैया)

मूल—छल वंचक हीन चलै पथ याहि, प्रतीति सुसंबल चाहनो है;
तहँ संकट वायु, वियोग लुवैं, दिल को दुखदाव में दाहनो है॥
नद सोक, विषाद कुग्राह ग्रसैं, खर धारहिं तो अवगाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनै अति अंत निबाहनो है॥ ७०॥

शब्दार्थ—वंचक = ठग। छल—वंचक—हीन = जिसके साथ छलरूपी ठग न लगा हो। संबल = राहखर्च। चाहनो है = ज़रूरत है। दाव = दावाग्नि। खर = तेज़। आवगाहनो है = पार करना है। हित = प्रेम। अंत = ओर तक, अंत तक।

भावार्थ—सरल ही है ।

अलंकार—रूपक ।

मूल—सजि सेज सुवारि बबूलन की तहँ मीत मतंग सोवावनो है ।
अरु नीर रखै, सिकता घट में, मकरीपट सिंह बझावनो है ॥
सुगमै वरु वारिधि पैरिबो है, पय ऊपर तारिबो पाहनो है ।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है ॥ ७१ ॥

शब्दार्थ—वारबबूला = पानी के बुलबुले । सोवावनो = लेटाना, पौढ़ाना । सिकता = बालू । मकरीपट = मकड़ी का जाला । बझाना = फँसाना । सुगम = सरल । पय = जल ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—रसना अहि की गहिबो सुगमै बन कंटक गौन उबाहनो है ।
गिरि तें गिरिबो, भिरिबो गज तें, तिरिबो बड़वागि को थाहनो है ॥
रन एक अनेकन तें जु लरै तिमि ताहि न सूर सराहनो है ।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है ॥ ७२ ॥

शब्दार्थ—रसना = जीभ । सुगमै = यह शब्द देहरी दीपकन्याय से प्रयुक्त है, दोनों ओर लगेगा । गौन = गमन । उबाहनो = नंगे पैर । बन ...... है = कँटीले जंगल में नंगे पैर चलना सहज बात है । तिमि ...... सराहनो है = उस सूर की वैसी प्रशंसा न हो सकेगी जैसी उस सूरवीर की होगी जो अंत दम तक प्रेम का निर्वाह कर दे ।

भावार्थ—सरल ही है ।

मूल—पच्छलत्त तुरीन की हैं सुगमै, नव नाहर को हठि गाहनो है ।
बिष-नीर की पीर को धीर सहै चढ़ि सीर सरीरहि दाहनो है ॥

मरुकूप के बीच फँसे सुगमै, बरु मीच तें बैर बिसाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है, कठिनो अति अंत निबाहनो है ॥ ७३ ॥

शब्दार्थ—पछलत्त=पिछली लातें। तुरी=घोड़ा। गाहनो=पकड़ना। चीर=चीड़ की लकड़ी। मरुकूप=मरुस्थल का कुँवा। बिसाहना=खरीदना, मोल लेना। हित=प्रेम।

भावार्थ—सरल है।

मूल—खल निन्दक सूकर भै जहँ है, गरजै गजमत्त उराहनो है।
कुलकानि अपार पहार जहाँ गुरु लोग सँकोच कुपाहनो है ॥
जल भौंर भरी बिपदा की सरी तहँ पंक कलंकहि गाहनो है।
हित दीनदयालु महामृदु है कठिनो अति अंत निबाहनो है ॥ ७४ ॥

शब्दार्थ—भै=भय (डर)। उराहनो=उपालंभ। कुलकानि=वंश-मर्यादा। कुपाहन=नुकीला पत्थर। सरी=(सरि) नदी। गाहनो=डूब कर थहाना।

भावार्थ—सुगम है। अलंकार—रूपक।

(दोहा)

पंचक यह है प्रेम को रंचक चित जो देइ।
छल बंचक बंचै न तेहि दीनदयाल जु सेइ ॥ ७५ ॥

(ग्रंथान्ते मंगलम्)

मूल—मेटनहारे बिघन के बिघन बिनायक नाम।
रिधि सिधि विद्या उदर तें लंबोदर अभिराम ॥
लंबोदर अभिराम सकल सुभ गुन उर धारे।
और गहन के हेत देत मनु दंत पसारे ॥

बरनै दीनदयाल भरयौं अजहूँ लौं पेट न।

बक्र तुन्ड करि काह चहत ब्रह्मॉंड समेटन ॥ ७६ ॥

शब्दार्थ—तें=इस कारण से। और गहन के हेत=और अधिक लेने की इच्छा से। बक्र=टेढ़ी। तुंड=सूंड़। बक्र तुंडकरि=अपनी सूँड़ को टेढ़ी करके। काह=क्या। समेटन=एकत्र कर लेना।

भावार्थ—सरल ही है।

( दोहा )

मूल—यह अन्योक्ति सुकल्पद्रुम साखा वेद बखानि।

बिरची दीनदयाल गिरि कवि द्विजवर सुखदानि ॥ ७७ ॥

शब्दार्थ—वेद=चौथी। द्विजवर=श्रेष्ठ पक्षी।

भावार्थ—अन्योक्ति कल्पद्रुम की यह चौथी शाखा दीनदयालगिरि ने रच दी। यह शाखा कविरूपी श्रेष्ठ पक्षियों को सुख देनेवाली है।

मूल—कुंडलिया, सुघनाक्षरी, सुखद सुदोहा वृत्त।

हरै सवैया मालिनी मिलि पंचामृत चित्त ॥ ७८ ॥

मूल—यह कल्पद्रुम ग्रंथ में मधुर छंद सुचि पंच।

पंचामृत हिय पान करि जड़ता रहै न रंच ॥ ७९ ॥

( नोट )—ये दोनों दोहे सरल ही हैं।

( ग्रंथ-प्रणयन-काल )

मूल—कर छिति निधि ससि साल में माघ मास सित पच्छ।

तिथि बसंतयुत पंचमी रविवासर सुभ स्वच्छ ॥ ८० ॥

शब्दार्थ—कर=दो ( २ )। छिति=भूमि अर्थात् ( १ ) निधि=नव ( ९ ) ससि=चंद्र अर्थात् ( १ )। ( अंकानां वामतो गतिः ) संवत् १९१२ माघ सुदी बसंत-पंचमी, रविवार को ग्रंथ संपूर्ण हुआ।

( दोहा )

सोभित तिहि औसर बिषे बसि कासी सुखधाम ।
बिरच्यो दीनदयाल गिरि कल्पद्रुम अभिराम ॥ ८१ ॥

मूल—अभिमत फल दातार यह विविधि अर्थ को देत ।
जौ धुनि गुनि कवि मुदित मन पढ़ि हैं प्रेम समेत ॥ ८२ ॥
उपालंभ अरु नीति युत प्रीति रसहु सुविराग ।
विविधि भाँति सुमनस ! लसैं यामें सुमन सराग ॥ ८३ ॥

शब्दार्थ—उपालंभ = ओरहना । प्रीतिरस = शृंगार रस । विराग = शांत-रस । सुमनस = हे सुन्दर मन वाले पाठकगण । सुमन = फूल । सराग = रंग सहित, रंगवाले ।

मूल—सोभित अतिमति थल सु यह सुमन सहित सब काल ।
अरप्यो दीनदयालगिरि बनमालिहिँ सु-रसाल ॥ ८४ ॥

शब्दार्थ—यह = यह कल्पद्रुम ग्रन्थ । बनमाली = श्रीकृष्णजी । रसाल = रसपूर्ण ।

इति श्रीकाशीवासी दीनदयालगिरि
विरचिते अन्योक्ति-कल्द्रुम-ग्रन्थे
चतुर्थी शाखा समाप्त

# परिशिष्ट

## ( क )—परिचय ( कवि का )

बाबा दीनदयालगिरि का जन्म शुक्रवार वसंत पंचमी सम्वत् १८५९ विक्रमीय में काशी के गायघाट महल्ले में रहनेवाले एक पाठक कुल में हुआ था। जिस समय इनका जन्म हुआ उस समय इनके माता-पिता बड़ी विपन्नावस्था में थे। जब ये ५, ६ वर्ष के हुए तब इनके माता-पिता इन्हें अपने परम्परागत गुरु-घराने के महन्त कुशागिरि जी के हाथों में सौंप कर चल बसे। महन्त कुशागिरि पंचकोशी की यात्रा में पड़नेवाले 'देहली-विनायक' के अधिकारी थे। रामेश्वर मन्दिर और आदिकेशव ( राजघाट ) में भी इनका हिस्सा था, तथा काशी में भी कई मठ थे। ये प्रायः काशी में ही अपने गायघाटवाले मठ में रहा करते थे। उन्होंने बच्चे को पाला-पोसा और पढ़ाया-लिखाया। जब ये संस्कृत और हिन्दी पढ़ चुके तब वैराग्य की ओर इनका झुकाव देखकर उन्होंने इन्हें २० वर्ष की अवस्था में अपना शिष्य बना लिया। दीनदयालु नाम भी बचपन में उन्होंने रक्खा था, अब इन्हें दीनदयालुगिरि भी उन्होंने बना दिया।

महन्त कुशागिरि ने इनके पश्चात् दो और चेले किये। एक शिवअमरगिरि ( एकान्त ) और दूसरे रामदयालुगिरि। जब महन्त कुशागिरि जी परमपद को प्राप्त हुए तब शिष्यों में झमेला खड़ा हो गया और मुकदमेबाज़ी शुरू

हुई। महन्त जी के पश्चात् उनका कर्ज़ा बहुत पटाना रह गया था, इस कारण जो जमीन जायदाद थी वह महाजनों ने नीलाम करा ली। यह ज़िमीदारी काशी के गोकुलदास विट्ठलदास गुजरातियों के घराने के अधिकार में बताई जाती है। इतने पर भी जब झगड़ा शान्त न हुआ, तब ये तीर्थाटन के लिए निकल पड़े और वहाँ से आकर देहली-विनायक के निकट मटौज़ा गाँववाले मठ में रहने लगे। इनकी वह अवस्था अमेठी के महाराज से न देखी गई, उन्होंने इन्हें अपने यहाँ चलने के लिए कहा पर इन्होंने पराधीनता को दुःखद कह कर उनके अनुरोध को टाल दिया।

दीनदयालगिरिजी काशी आने पर गायघाटवाले मठ में ही ठहरते थे। ये गेरुए रंग की कत्तनीदार पगड़ी बाँधते थे और घोड़े पर चढ़कर निकलते थे। भारतेन्दु बाबू हरिश्चंद्र के पिता बाबू गोपालचंद्रजी से इनका बड़ा स्नेह था और ये प्रायः उनकी बैठक में आया करते थे। श्लेष और यमक से भरी हुई लच्छेदार भाषा के ये इतने प्रेमी थे कि बोलचाल में भी उससे नहीं चूकते थे। ये संस्कृत, हिन्दी और फ़ारसी-अरबी आदि भाषाएँ जानते थे। संस्कृत के तो अगाध पंडित थे। इनके यहाँ सुकवि 'सरदार' गोस्वामी 'दंपतिकिशोर' और 'राधारमण' ऐसे लोग पढ़ते थे। इनके अतिरिक्त और भी कितने ही शिष्य इनके यहाँ अध्ययन करते थे। ये शिष्यों को हिन्दी भी पढ़ाते थे।

एक तो इनकी आर्थिक-दशा खराब थी ही, दूसरे ये दानी भी परलेसिरे के थे, इसी कारण ये सदा द्रव्य के कारण शारीरिक कष्ट सहते रहे। महाराज काशिराज इन्हें बहुत मानते थे। राजा-महाराजा तो इनके दर्शन को बराबर ही आया करते थे। एक बार रीवाँ-नरेश कविवर महाराज रघुराजसिंह जू इनसे

मिलने आए और इनकी उदारता, अतिथि-सत्कार एवं विद्वत्ता से मुग्ध होकर उन्होंने इनकी प्रशंसा में दो दोहे कहे :—

हौ दयाल तुम दीन पर, श्री गिरि दीनदयाल।
बाँछा जौं लों करा नर, तो लों होत निहाल ॥
सुकवि जहाँ लगि जगत में भए होहिगे और।
करि विचार मैं दीख अब, तुम सब के सिरमौर ॥

राजा-महाराजा इनकी गुप्तरूपेण आर्थिक-सहायता किया करते थे। इसलिए इन्हें अर्थ-संकोच से अधिक शारीरिक संकट भी नहीं सहना पड़ा।

काशी पर इनका अटल स्नेह था। ये काशी को छोड़ अन्यत्र नहीं जाना चाहते थे। जब इनकी तबियत खराब हुई और उसे इन्होंने अपना अंतिम समय समझ लिया तब गायघाटवाले मठ से मणिकर्णिकाघाट के छप्पन-विनायकवाले मंदिर में आकर रहने लगे। अंत समय में निर्जला एकादशी संवत् १६१५ विक्रमीय के दिन गंगा तट पर उन्होंने परमपद-लाभ किया।

( इनके ग्रंथ )

इनके बनाये हुए पाँच ग्रंथ प्रकाशित हैं। ( १ ) दृष्टांत-तरंगिणी ( २ ) अनुराग-बाग, ( ३ ) वैराग्य-दिनेश, ( ४ ) अन्योक्तिमाला और ( ५ ) अन्योक्ति-कल्पद्रुम। इनके अतिरिक्त एक बागबहार नामक इनका बहुत ही सुन्दर ग्रंथ था जिसे एक शिष्य लेकर चलता बना। उसका आज तक कोई पता नहीं। ( १ ) दृष्टांततरंगिणी इन्होंने सं० १८७९ विक्रमीय में समाप्त की। इसमें नीति कहकर उसके दृष्टांत दर्शाए गए हैं। पूरी पुस्तक दोहों में ही है। इससे कुछ दोहे संस्कृत पंचतंत्र के श्लोकों के अनुवाद हैं या उनके आधार पर बनाए गए हैं। ( २ ) अनुरागबाद संवत् १८८८ में बना। इसमें कृष्ण-

वियोग व षट्ऋतु आदि शृंगारिक विषयों का वर्णन है और बहुत ही उत्तम है। इसमें कुछ कविताएँ नायिका-भेद संबंधी भी हैं, पर वे प्रेम की सच्ची व्यंजना के ही लिए जान पड़ती हैं। वे इनकी प्रवृत्ति की परिचायिका नहीं हैं। इस 'बाग' में श्लेश की छटा अद्वितीय है। (३) वैराग्यदिनेश का प्रणयन सं०१९०६ में हुआ था। इसमें इनकी वैराग्यविषयक कविताएँ संग्रहीत हैं। देवताओं की वंदना और कुछ फुटकर समस्यापूर्तियाँ आदि इसमें आई हैं। 'काशीपंचरत्न', 'विश्वनाथ-नवरत्न' आदि कविताएँ—जिन्हें कुछ लोगों ने स्वतंत्र पुस्तकें माना है—इसी के अंतर्गत हैं। इसकी कविताएं भी उत्तम हैं। (४) अन्योक्तिमाला में अन्योतियाँ कही गई हैं। इसमें निर्माण-काल नहीं दिया गया है। ये सभी अन्योक्तियाँ अन्योक्ति-कल्पद्रुम में आ गई हैं। हो सकता है कि उन्होंने पहले अन्योक्ति-माला बनाई हो और पीछे से कुछ और अन्योक्तियाँ बन जाने पर उसका नामकरण अन्योक्ति कल्पद्रुम कर दिया हो। इनके समय में ही "अन्योक्ति-कल्पद्रुम" लीथो में छप गया था, इससे यही बात जचती है। इनके शिष्य या मित्र ने इनकी अन्योक्तियों का संग्रह करके उसको "अन्योक्ति-कल्पद्रुम का रूप दिया हो, यह बात ठीक नही जान पड़ती। (५) अन्योक्ति कल्पद्रुम इनकी अंतिम रचना है और इसका निर्माण-काल इसमें सं० १९१२ दिया हुआ है। संवत १९१३ में में अनुरागबाग के साथ साथ अन्योक्ति-कल्पद्रुम की अन्योक्तियाँ इन्हीं के जीवन काल में इनके मित्र श्रीयुत देवीप्रसाद मिश्र दौड़ ने लीथों में छपवाई थीं। इससे इनका विचार अन्योक्तियों को किस क्रम से रखने का था यह भी ज्ञात हो जाता है, और पता चलता है कि यह वृक्ष पहले "अनुराग-बाग़" में लगा था, पीछे वहाँ से उखाड़ कर और काट छाँट करके अलग कर लिया गया। चाहे जो कुछ हो, इन्हें अन्योक्तियों

से अद्वितीय अनुराग था और इन्होंने उसका जो कल्पद्रुम बनाया वह भी खूब हरा-भरा है। अन्योक्ति के ये ज़बर्दस्त लेखक थे इसमें संदेह नहीं।

इनका स्वभाव सरल था। ये विनोद-प्रिय थे। प्रत्युत्पन्न मतित्व ( हाज़िर-जवाबी ) में बड़े निपुण थे। इनमें सदाचार आदर्श था और वैराग्य तो इनका नस-नस में भरा था। इन्होंने वैराग्य-विषयक जितनी कविताएँ लिखी हैं वे इनके शुद्ध अंतःकरण का प्रतिबिम्ब हैं। इनकी कविता में माधुर्य और प्रसाद परिपूर्ण है। इन्होंने हास्य, करुण तथा शांतादि कोमल रसों में ही कविता की है और शृंगार-रस पर इन्होंने बहुत थोड़ा प्रकाश डाला है। वह भी शुद्ध-प्रेम प्रकट करने के अभिप्राय से। इनकी कविता से इनका पूरा पांडित्य प्रकट होता है। ये हिन्दी के उत्तम कवियों की श्रेणी में हैं। इनकी कविताओं के आधार पर इन्हें महाकवि मानना अनुचित न होगा।

कहा जाता है कि मटौली गाँव के मठ की एक दीवार पर इनका चित्र भी बना हुआ था पर अब वह दीवार गिर गई है, खँडहर पड़ा हुआ है। इनके मित्रों में पं० देवीप्रसादजी मिश्र गौड़ ( गो० दंपतिकिशोरजी के श्वसुर ) और बूआजी घाटिआ बताए जाते हैं। जिस समय दीनदयालजी भारत-गगन से अस्त हो गए उसी समय भारतेंदु का उदय हुआ था और इनके बाद ही हिन्दी के क्षेत्र में युगांतर उपस्थित हो गया। कम से कम गद्य-वाटिका का तो रूप ही पलट गया। बाबा दीनदयाल-गिरिजी हिन्दी-साहित्य के एक दिव्य रत्न थे। वे हिन्दी के घर को सूना करते हुए भी अपना अमर प्रकाश छोड़ गए। इति शम्।*

---

*यह जीवन-वृत्त चार लेखों के आधार पर लिखा गया है—( १ ) बाबू श्यामसुन्दरदास-संपादित दीनदयालगिरि-ग्रंथावली की भूमिका, ( २ ) श्री-

## ( ख )—पिंगल

रसात्मक वाक्य-रचना को "काव्य*" कहते हैं। प्रत्येक भाषा में काव्य-रचना दो प्रकार के वाक्यों द्वारा हो सकती है—( १ ) गद्य ( २ ) पद्य। इन्हीं द्विधा वाक्यों के कारण काव्य की दो श्रेणियाँ की गई हैं; ( १ ) गद्य-काव्य, और ( २ ) पद्य-काव्य। काव्य की एक तीसरी श्रेणी भी है जिसमें गद्य एवं पद्य दोनों का मेल रहता है। उसे "चम्पू †-काव्य" या "मिश्र-काव्य" कहते हैं।

मात्रा एवं वर्ण तथा गति प्रवाहादि से अनियमित, किन्तु व्याकरण से व्यवस्थित शब्द-योजना को "गद्य" कहते हैं। साधारण बोलचाल में अधिकतर गद्य का ही उपयोग होता है। इसके विपरीत मात्रा एवं वर्णों की संख्या अथवा उनके क्रम से नियमित तथा विराम, गति, प्रवाहादि से व्यवस्थित शब्द-योजना को "पद्य" कहते हैं। इसमें व्याकरणानुसार शब्द-क्रम में हेर फेर भी हो जाय तो दोष नहीं माना जाता। जैसे—

"हेरे अंध उलूक तू, दुरौ दरी में नीच।<br>
तेरे जान नहीं उदै, भये भानु नभ बीच॥"

---

विश्वनाथप्रसाद मिश्र 'मुकुन्द' लिखित 'बाबा दीनदयालगिरि का जीवन-चरित, ( सम्मेलनपत्रिका भाग १२, अंक ६, पृ० २५३ ), ( ३ ) बाबू ब्रजरत्नदास-लिखित 'दीनदयालगिरि, ( सम्मे० पत्रिका भा० १२, अं० १०, पृ० ४४७ ) ( ४ ) बाबू रामदास-गौड़-लिखित "गोस्वामी दीनदयालुगिरि"। एतदर्थ हम इन लेखकों के विशेष अनुगृहीत हैं।—संपादक।

*वाक्यं रसात्मकं काव्यम्। ( साहित्यदर्पण )

†गद्यपद्यम वाक्यं चम्पूरित्यभिधीयते ( साहित्यदर्पण )

यह पद्य-बद्ध रचना है। इसका गद्य रूप यों होगा—

"हेरे नीच अंध उलूक! तेरे जान (अभी) भानु नभ बीच उदै नहीं भये, (अतएव) तू दरी में दुरौ।"

"छंद' शब्द "पद्य" का समानार्थ-वाची है। यह शब्द भी 'पद्य' की ही भाँति प्रचलित है। इसी कारण जिस शास्त्र में पद्य-रचना के नियमों तथा लक्षणों एवं उदाहरणों के साथ पद्य के भेदोपभेदों का सविस्तर वर्णन हो उसे "छंद-शास्त्र" कहते हैं। छंद शास्त्र के आदि प्रवर्त्तक शेषावतार महर्षि पिंगल माने जाते हैं। अतएव छंद-शास्त्र का नामांतर "पिंगल" भी है।

छंद शास्त्र काव्य का एक मुख्य अंग है। हमारे पूज्यपाद ऋषि महार्षियों ने इस शास्त्र को यहाँ तक महत्ता दी है कि यह वेद* के "षडंगों" में गिना जाता है। वास्तव में पद्य-रचना की विशेषताओं को दृष्टि में रख कर देखा जाय तो इसमें कोई अत्युक्ति या अनौचित्य नहीं है। पद्य में पद-योजना लयपूर्ण होने के कारण श्रुतिप्रिय एवं मनोहर होती है। इसमें संक्षेप में बहुत सी बातों का समावेश किया जा सकता है। उक्त दोनों कारणों से पद्य की सबसे मुख्य विशेषता यह है कि पद्य-बद्ध रचना के पढ़ने में मन अधिक लगता है और किसी भी विषय को कंठस्थ करने में सुविधा रहती है। इसी कारण हम संस्कृत में पद्य की इतनी प्रचुरता देखते हैं कि श्रुति, स्मृति, शास्त्र, पुराण सभी छंदोबद्ध हैं। यदि हिन्दी का साहित्य पद्यबद्ध न होता तो आज दिन गोस्वामी तुलसीदास, महात्मा सूरदास, कबीर साहब आदि अनेक महाकवियों का नाम ही कोई न

---

*वेद के षडंग—

शिक्षा, कल्पो, व्याकरणं, निरुक्तं, छन्द, ज्यौतिषम् ॥

जानता। छंदों के संपुट में बन्द रहने के ही कारण इनकी कविता जनता के जिह्वाग्र में सुरक्षित रह सकी। हस्तलिखित तथा मुद्रित प्रतियाँ नष्ट हो गईं, समय के प्रवाह में बह गईं, छीन ली गईं, पर कर्ण-परंपरागत काव्यरचना अभी तक ज्यों की त्यों चली आ रही है। इसीलिए हमारे यहाँ प्राचीन-साहित्य में गद्य-रचना का एक प्रकार से अभाव ही है। जो कुछ है भी वह नगण्य। अतएव "छंद-शास्त्र" काव्य का एक प्रधान अंग है इसमें संदेह नहीं।

मात्रा भेद से "वर्ण" या अक्षर दो प्रकार के होते हैं; 'ह्रस्व' एवं 'दीर्घ'। वर्ण के उच्चारण में जो समय लगता है उसे "मात्रा" कहते हैं। अ, इ, उ, ऋ, तथा इनसे युक्त व्यंजनों के उच्चारण में जो समय लगता है उसकी एक मात्रा मानी जाती है; और आ, ई, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ, तथा इनसे युक्त व्यंजनों के उच्चारण में जो समय लगता है उसकी दो मात्राएँ मानी जाती हैं, क्योंकि इनके उच्चारण में एक मात्रिक अक्षरों की अपेक्षा दुगुना समय लगता है। एक-मात्रिक अक्षरों को "ह्रस्ववर्ण" और द्विमात्रिक को "दीर्घवर्ण" कहते हैं। 'ह्रस्व' और 'दीर्घ' को पिंगल-शास्त्र में "लघु" और "गुरु" कहते हैं। 'लघु' वर्ण का चिह्न एक खड़ी पाई ( । ) और 'गुरु' वर्ण का चिह्न वक्ररेखा ( ऽ ) है। संक्षेप में लघु के लिये 'ल' और गुरु के लिये 'ग' भी लिखा जाता है। लघु गुरु के विषय में निम्नलिखित नियमों को ध्यान में रखना चाहिए।

१—लघु-वर्ण एकमात्रिक और दीर्घ-वर्ण द्विमात्रिक होते हैं। जैसे 'रमापति' शब्द में 'र', 'प', और 'ति' ह्रस्व या लघु होने के कारण एकमात्रिक हैं और 'मा' दीर्घ या गुरु होने के कारण द्विमात्रिक है। इस प्रकार उक्त चार वर्णों के शब्द में पाँच मात्राएँ हैं।

२—सानुस्वार और सविसर्ग वर्ण भी दीर्घ व गुरु माने जाते हैं, जैसे;—कंज, पंक और दुःख में 'कं', 'पं' और 'दुः' गुरु वर्ण हैं। सानुस्वार या सविसर्ग वर्ण यदि स्वयं दीर्घ हो तो मात्रा में कोई वृद्धि नहीं होती। जैसे—गांगेय, हाःहा में 'गां' और 'हाः' स्वयं गुरु वर्ण हैं। परन्तु जिस वर्ण के ऊपर अर्द्ध-अनुस्वार या चंद्रबिंदु (ँ) हो उसमें एक ही मात्रा मानी जाती है, अतएव वह लघु गिना जाता है, जैसेः—हँसना, फँसना के 'हँ' तथा 'फँ' लघु वर्ण हैं।

३—संयुक्ताक्षर के पूर्व वर्ण का प्रायः दीर्घ माना जाता है। जैसे—युक्त, अक्षर और वर्ण में 'क्त', 'क्ष' और 'र्ण' संयुक्त हैं। इस कारण इनके पूर्व वर्ण 'यु', 'अ' और 'व' में ज़ोर पड़ने से वे द्विमात्रिक या 'गुरु' माने जाते हैं यदि किसी समासिक पद के उत्तर शब्द का आद्यक्षर संयुक्त हो तो उसके पूर्व के शब्द का अंतिम अक्षर विकल्प से (कवि या पाठक के सुविधानुसार) लघु या गुरु पढ़ा जा सकका है। जैसे—'शब्द-क्रम' में 'ब्द' लघु भी पढ़ा जा सकता है और गुरु भी।

४—कहीं कहीं संयुक्ताक्षर के पूर्व का वर्ण दीर्घ नहीं भी माना जाता, जैसे—तुम्हारा, कुल्हाड़ा आदि के 'तु' और 'कु'।

५—हलंत के पूर्व का वर्ण दीर्घ माना जाता है और हलंत वर्ण की मात्रा नहीं गिनी जाती। जैसे—राजन्, श्रीमान् में 'ज' और 'म' गुरु (द्विमात्रिक) हैं और 'न्' की मात्राएँ नहीं गिनी गईं।

६—कहीं-कहीं लय के अनुसार दीर्घ वर्ण को भी ह्रस्व पढ़ना पड़ता है। ऐसे स्थान पर वह वर्ण एकमात्रिक या लघु ही माना जाता है जैसे—

"हित दीनदयाल महामृदु है, कठिनी अति अंत निबाहनो है"।

इसमें 'निबाहनो' का 'नो' दीर्घ होते हुए भी लघु पढ़ा जायगा। सारांश यह कि लघु गुरु के उक्त नियम होते हुए भी छंद-शास्त्र में 'लय' की ही प्रधानता है।

७—संस्कृत-पद्यों में तथा हिन्दी के वर्णिक वृत्तों में चरणांत का अंतिम लघु वर्ण भी विकल्प से गुरु माना जाता है। जैसे—

यक कर श्रुति सोहै एक में एक लड्डू।*
यक कर श्रृणि राजै एक में है कुठार ॥
सुमत अशन-दाता वश्य कारी 'अहं' को।
विपति-तरु कटैया, हाथ चारों नमामि ॥

यहाँ 'कुठार' और 'नमामि' शब्दों के 'र' और 'मि' पादांत में होने से लघु होते हुए भी छंदानुरोध से दीर्घ माने जायँगे।

छंद दो प्रकार के होते हैं. मात्रिक और वर्णिक। वर्णिक छंदों को हम पुनः दो विभागों में विभक्त कर सकते हैं, गण-छंद और अक्षर-छंद। छंदों के भेदों का विवेचन करने के पूर्व गणों के विषय में जानकारी प्राप्त कर लेना उचित है। तीन वर्णों का एक गण होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, 'वर्ण' लघु-गुरु के भेद से दो प्रकार के होते हैं। अतएव प्रस्तार द्वारा लघु-गुरु के भेद से तीन तीन वर्णों के आठ गण होते हैं। उनके नाम और लक्षण इस प्रकार हैं।

| संख्या | गण | रूप | संकेत | उदाहरण |
|---|---|---|---|---|
| १ | मगण | SSS | म | गोस्वामी |

*लघु गुरु के विषव में निम्न आर्या स्मरण रखिये—

संयुक्ताद्यं दीर्घं, सानुस्वारं विसर्गसंमिश्रम्।
विज्ञेयमक्षरं गुरुं, पदान्तस्थं विकल्पेन ॥
कालीदास ( श्रुतबोध )

| | | | | |
|---|---|---|---|---|
| २ | नगण | ।।। | न | भरत |
| ३ | भगण | ऽ।। | भ | गोकुल |
| ४ | यगण | ।ऽऽ | य | यशोदा |
| ५ | जगण | ।ऽ। | ज | दयालु |
| ६ | रगण | ऽ।ऽ | र | राधिका |
| ७ | सगण | ।।ऽ | स | तुलसी |
| ८ | तगण | ऽऽ। | त | गोपाल |

समस्त पिंगल-शास्त्र में १० अक्षर संक्षेप में गणादि व लघु गुरु के सूचक हैं—म, न, भ, य, ज, र, स, त, ल, ग। आज, कल एक सूत्र चल पड़ा है, जिससे इनके कंठस्थ करने एवं इनके रूपों के समझने में अत्यंत सुविधा होती है।* वह सूत्र यह है—

"यमाता राजभानसलगा।"

इस सूत्र के पूर्व आठ अक्षर आठों गणों के सांकेतिक वर्ण हैं, शेष से 'ल' 'लघु' और 'गा' से 'गुरु' का बोध होता है। इसी सूत्र में सब के रूप भी प्रत्यक्ष हैं। यगण का रूप जानना हो तो य तथा उसके आगे के दो वर्ण मिला कर एक गण बन जायगा 'यमाता (।ऽऽ)' यही यगण का रूप है। इसी प्रकार 'सगण' का रूप होगा 'सलगा (।।ऽ)'। इसी प्रकार और भी समझ लीजिए।

---

*—संस्कृत भाषा में गणों का रूप कंठस्थ करने के लिए अनेक सूत्र एवं श्लोक हैं। पर उनमें से यह श्लोक अत्यन्त सुगम प्रतीत होता है।

आदिमध्यावसानेषु 'यरता' यान्ति लाघवम्।
'भजसा' गौरवं यान्ति 'मनौ' तु गुरुलाघवम्॥

अर्थात् 'य' के आदि 'र' के मध्य, 'त' के अन्त में लघु शेष गुरु। 'भ' के आदि, 'ज' के मध्य, 'स' के अन्त में गुरु, शेष लघु; तथा 'म' समस्त गुरु, 'न' समस्त लघु होता है।

गणों के देवता, और उनके फल आदि के विषय में पिंगलशास्त्र में बहुत कुछ कहा गया है। विस्तारभय से यहाँ उसका उल्लेख करना अनपेक्षित है। संक्षेप में इतना ही कह देना पर्याप्त है कि म, न, भ, य, चार गण शुभ और शेष चार ज, र, स, त, अशुभ हैं। देव-विषयक काव्य में तो शुभाशुभ का विचार ही नहीं रह जाता, किन्तु नर-विषयक काव्य के प्रारंभ में अशुभ गण वर्जित हैं। यह नियम छंद के प्रथम चरण के आदि के तीन अक्षरों के लिए ही है, अन्यत्र नहीं।

गणवृत्तों में गण दोष नहीं माना जाता, क्योंकि वहाँ जिस गण का विधान किया जाता है वह गण शुभ हो चाहे अशुभ लाना ही पड़ता है। जैसे दुर्मिल सवैया आठ सगणों का होता है। यहाँ आरंभ में अशुभ 'सगण' लाना अनिवार्य है। ऐसे अवसर में ध्यान यही रखना चाहिए कि प्रारंभ में यदि ज, र, स, त, लाने पड़ें तो वे यथासंभव मंगलवाची हों। मात्रिक छंदों में तो प्रारंभ में इनका प्रयोग बचाना ही चाहिये।

+ + +

वर्णों में भी शुभाशुभ का ध्यान रखना पड़ता है। स्वर सभी शुभ हैं। व्यंजनों में "क, ख, ग, घ, च, छ, ज, त, द, ध, न, य, श, स," ये शुभ हैं और सब अशुभ। अशुभ वर्णों में भी झ, ह, र, भ, ष, ये पाँच तो नितांत दूषित हैं। इनको दग्धाक्षर कहते हैं। पद्य के आरंभ में इनका होना एकदम वर्जित है। किन्तु यदि 'गुरु' होकर आवें अथवा ये अक्षर देवता वा मंगलवाची शब्द के प्रारंभ में हों तो उक्त दोष का परिहार हो जाता है।

+ + +

प्रत्येक छंद की एक लय होती है। उसे गति या प्रवाह भी कहते हैं। छन्द-रचना में 'गति' या 'लय' का ध्यान रखना ही आवश्यक है, पर इसके लिये

कोई विशेष नियम नहीं है। लय का ज्ञान अभ्यास पर ही निर्भर है। लक्षण के अनुसार शुद्ध रहते हुए भी गति का ध्यान न रखने से छंद दोषयुक्त हो जाता है। जहाँ गति ठीक न हो उसे "गति-भंग-दोष" कहते हैं जैसे—"सहित सनेह भाजन की, तुम करत चाह नाहिं।" यह दोहे के लक्षणों से युक्त होते हुए भी लय-हीन है। पढ़ने में रुकावट आ जाती है, पाठ-प्रवाह ठीक नहीं, अतः दूषित है। इसकी गति यों ठीक होगी—"भाजन सहित सनेह की, करत चाह तुम नाहिं"।

इसके सिवाय बहुत से छन्दों में "विराम" का भी नियम होता है। जहाँ हमें लय के अनुसार 'विश्राम' के लिए नियमित स्थान पर रुककर आगे पढ़ना पड़ता है उसे 'विराम', 'विश्राम', वा 'यति' कहते हैं। जहाँ पिंगल-शास्त्र-विधान से विहित स्थान पर यति का अभाव हो वहाँ "यतिभंग-दोष" माना जाता है।

+ + +

छंद दो प्रकार के होते हैं—वैदिक और लौकिक। वैदिक छंदों का हिन्दी भाषा में कोई प्रयोजन नहीं, अतएव उनका वर्णन इस स्थान पर अनुपयुक्त होगा। लौकिक छंद के पुनः दो भेद हैं—मात्रिक अथवा जाति और वर्णिक। साधारणतः प्रत्येक छंद में चार चरण होते हैं।* चरण को पद अथवा पाद भी कहते हैं। जिन छंदों के चरणों में मात्राओं की संख्या का नियम हो उन्हें मात्रिक छंद कहते हैं, तथा जिनमें वर्णों की संख्या तथा लघु गुरु के क्रम का

---

*कुछ छंद ऐसे भी होते हैं जिनमें चरण तो चार ही होते हैं; पर वे दो ही पंक्तियों में लिखे जाते हैं। यथा—दोहा, सोरठा, बरवै, उल्लाला अनुष्टुप आदि। ऐसे छन्दों में प्रत्येक पंक्ति को 'दल' कहते हैं।

नियम हो उन्हे वर्णिक छन्द या वृत्त कहते हैं। इनमें कुछ को छोड़ अधिकतर गणों का उपयोग किया जाता है। मात्रिक और वर्णिक दोनों प्रकार के छन्द पुनः तीन तीन प्रकार के होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम।

१—"मात्रिक सम" वे छन्द हैं जिनके चारों चरणों में मात्राओं का क्रम समान हो। जैसे—चौपाई, हरिगीतिका, रोला आदि।

२—"मात्रिक अर्द्धसम" वे छन्द हैं जिनके पहले और तीसरे चरणों में तथा दूसरे और चौथे चरणों में बराबर मात्रएँ हों, जैसे—दोहा, सोरठा, उल्लाला आदि।

३—"मात्रिक विषम" वे छन्द हैं जिनके चारों पदों में मात्राओं का क्रम विभिन्न हो, जैसे—आर्या।

ऐसे भी मात्रिक छन्द हिन्दी में बहुत प्रचलित हैं जिन में चार से अधिक चरण होते हैं। उन्हें भी हम मात्रिक विषम छन्दों में ही गिनते हैं। अतएव मात्रिक विषम छन्द का व्यापक लक्षण यह होगा—

जो छंद मात्रिक-सम या मात्रिक अर्द्धसम न हों वे मात्रिक विषम हैं। जैसे—कुंडलिया और छप्पय। ये दोनों छः छः चरणों के छन्द हैं और दो दो छन्दों के मिश्रण से बने हैं।

मात्रिक सम छन्द दो प्रकार के होते हैं—साधारण और दंडक। जिन छंदों के प्रत्येक चरण में ३२ या इससे कम मात्राएँ हों उन्हें "साधारण" कहते हैं और इससे अधिक मात्रावाले छन्दों को "दंडक" कहते हैं।

१—"वर्णिक सम" छन्द वे छन्द हैं जिनके चारों चरणों में 'वर्णों' या 'गणों' का क्रम समान हो; जैसे—वसंततिलका, इन्द्रवज्रा, मालिनी, त्रोटक, दुर्मिल ( सवैया ) आदि।

२—"वर्णिक अर्द्धसम" छन्द वे छन्द हैं जिनके पहले, तीसरे तथा दूसरे, चौथे चरणों में वर्णक्रम तथा संख्या समान हो। जैसे—अनुष्टु छन्द।

३—"वर्णिकविषम" वे छन्द हैं जिनके चारों चरणों में वर्णक्रम भिन्न हो।*

वर्णिक-सम के भी दो भेद होते हैं—साधारण और दंडक। २६ वर्णों तक के वृत्त "साधारण वृत्त" कहलाते हैं और इससे अधिक वर्णवाले "दंडक वृत्त" कहलाते हैं।† वर्णिक-दंडकों में—रूप घनाक्षरी, देव घनाक्षरी और मनहरण कवित्त बहुत प्रसिद्ध हैं।
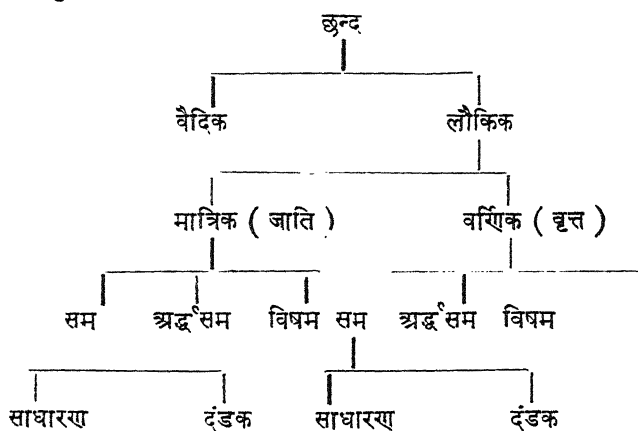
मात्रिक छन्द और वर्णिक छन्द की पहिचान के लिए इन बातों का ध्यान रखना चाहिए।

---

*सूचना—वर्णिक-अर्द्धसम और वर्णिक-विषम का प्रचार हिन्दी में बहुत ही कम—प्राय: नहीं के बराबर है।

†बाईस वर्णों से लेकर छब्बीस वर्णों तक के छन्द 'सवैया' नाम से पुका जाते हैं।

( १ ) जिस छन्द के चारों चरणों में या तो वर्ण बराबर हों या केवल वर्णक्रम एक सा हो अर्थात् लघु गुरु समान क्रम से मिलें वह वर्णिक छन्द होगा। वर्णिकसम वृत्तों में अक्षर तो समान होते ही हैं, साथ ही लघु-गुरु का क्रम एकसा रहने से मात्राएँ भी बराबर ही होती हैं।

( २ ) जिस छन्द के पदों में गुरु-लघु का कोई क्रम न हो, पर मात्राओं में समानता हो, वह मात्रिक छन्द होगा।

॥ इति ॥

## ( ग )—प्रासंगिक कथाएँ

---

### १—शुकदेव

शाखा प्रथम, पद्य ४:—श्रवन सुखद सुक-बैन......।

महामुनि शुकदेव जी महाभारत के रचयिता महर्षि द्वैपायन व्यास के सुपुत्र थे। ये आजीवन ब्रह्मचर्य, ब्रह्मनिष्ठा एवं ब्रह्मज्ञान के लिये प्रख्यात हैं। ये विष्णु-भगवान् के पूर्णावतार श्रीकृष्ण के बालस्वरूप के उपासक थे। द्वादश महाभागवतों में इनका नाम बड़े आदर से लिया जाता है। पौराणिकों में भी इनकी गिनती सर्वप्रथम है। अठारहों पुराणों में सर्वश्रेष्ठ श्रीमद्भागवत पुराण के रचयिता महर्षि शुकदेव जी ही हैं। जब अभिमन्यु के पुत्र राजा परीक्षित को शृंगी ऋषि ने यह शाप दिया था कि "आज से सातवें दिन तुझे तक्षक नाग डस लेगा", तब व्यासादि अनेक ऋषि महर्षि परीक्षित को ज्ञान देने आए। इतने में शुकदेव जी को आते देख कर सबने—यहाँ तक कि इनके पिता व्यास जी ने भी—इनको ज्ञान-वृद्ध समझ अभ्युत्थान द्वारा इनका आदर

किया था। शुकदेवजी ने सात दिन तक नियम से राजा परीक्षित को श्रीमद्भागवत सुनाया था जिसके प्रभाव से उनको परमगति प्राप्त हुई। श्रीमद्भागवत वैष्णव-संप्रदाय का परम पवित्र एवं पूज्य ग्रंथ माना जाता है।

## २—दशरथ

शाखा प्रथम, पद्य १८ :—ह्वै हैं प्रान-विहीन देखि दशरथ कोबानो।

महाराज दशरथ को अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार श्रीरामचन्द्र जी को चौदह वर्ष के लिये वनवास देना ही पड़ा। किन्तु वे रामचन्द्र जी को इतना प्यार करते थे कि उनका वियोग न सह सके। इधर राम बन में पहुँचे ही थे कि उधर राजा दशरथ ने प्राण छोड़ दिये।

## ३—बलि-वामन

शाखा प्रथम, पद्य ६०:—श्रीहित स्याम बने छली······

दैत्यों के राजा 'बलि' विरोचन के पुत्र और परम भागवत प्रह्लाद के पौत्र थे। ये परम वैष्णव और बड़े भारी दानी थे। कोई भी याचक इनके द्वार पर से विमुख नहीं लौट सकता था। इनकी दानशीलता को देखकर देवराज इन्द्र को भय हुआ कि ये कहीं उसकी इन्द्रपदवी पर भी हाथ न मारें। अतः वह घबड़ा कर भगवान् के पास गया और सब हाल कहा। भगवान् इन्द्र की स्वार्थान्धता पर मन ही मन मुसकुराए और उसको आश्वासन देकर विदा किया। इधर स्वयं इन्द्र की माता अदिति के गर्भ से जन्म धारण किया। इन्द्र से पीछे पैदा होने के कारण उनके नाम 'उपेन्द्र' 'इन्द्रावरज' आदि पड़े। उनका कद बहुत ठिगना था, जिससे उनका नाम "वामन" पड़ा। वामन जी बलि के पास गये और तीन डग भूमि माँगी। उनके देदीप्यमान मुखमंडल को देखकर दैत्य गुरु श्रीशुक्राचार्य समझ गए कि ये भगवान् हैं। अतएव उन्होंने

बलि को दान देने से रोका। पर भला बलि अपनी दानशीलता से क्यों विमुख होते ? एक सुपात्र ब्रह्मचारी को अपने दान से क्यों वंचित करते ? 'संकल्प' पढ़ के तीन डग भूमि देदी, अब वामन जी ने अपना विराट् स्वरूप धारण किया और एक डग से आकाश, दूसरे से पाताल नाप कर तीसरे डग के लिए स्थान पूछा, तब बलि भगवान् को पहचान कर मुसकुराए और तीसरा डग अपनी पीठ पर रखने को कहा। भगवान् ने तीसरा पैर उसकी पीठ पर रखकर उसे पाताल को भेज दिया, और उसको पाताल का राज्य देकर बरदान माँगने को कहा। राजा बलि ने कहा कि यदि आप मुझसे प्रसन्न हैं तो आप सदा मेरे रक्षक रहिये। भगवान् ने 'एवमस्तु' कहकर उसका द्वारपाल बनना स्वीकार किया।

## ४—लैला-मजनूँ

शाखा तृतीय, पद्य २३:—यथा मजनूँ मन लैली।

मजनूँ और लैली अरब देशनिवासी प्रेमी और प्रेमिका थे। इनके अचल प्रेम का इतिहास वैसे ही प्रसिद्ध है जैसे पतंग और दीपक का। फ़ारसी, तथा उर्दू साहित्यों में इनके प्रेम का वर्णन अधिकता से आया है। दीनदयाल जी ने इनका ज़िक्र छेड़ कर यह बात दर्शाई है कि वे फारसी साहित्य से भी परिचित हैं।

## ५—कामदेव और शिव

शाखा चतुर्थ, पद्य ४० और ४१।

दक्षयज्ञ में शिवजी का अपमान देखकर उनकी पत्नी सतीजी ने अपने प्राण छोड़ दिये, शिवजी ने दक्ष का यज्ञ विध्वंस कर दिया और स्वयं अचल समाधि-मग्न हो गये। सतीजी ने पर्वतराज हिमालय के यहाँ जन्म लिया और 'पार्वती' कहलाईं। नारद के उपदेश से उन्होंने शिव को अपना पति बनाने के लिये

कठोर तप किया, पर शिवजी की समाधि कौन भंग करता ? इधर तारकासुर ने उपद्रव मचाकर देवताओं को हैरान कर रखा था। ब्रह्मा ने कहा कि शिवजी की संतान के अतिरिक्त और कोई उसका संहार नहीं कर सकता। निदान देवताओं की संमति से कामदेव शिवजी को समाधि भंग करने के लिए नियुक्त किया गया। कामदेव डरते डरते अपनी सेना सहित वहाँ गया और अपने प्रभाव से उसने शिवजी की समाधि भंग कर ही दी। अपने मन को चलायमान होते देखकर शिवजी कारण खोजने लगे। उनका अग्निमय तीसरा नेत्र खुल गया। ज्योंही उनकी वह क्रोधपूर्ण दृष्टि कामदेव पर पड़ी त्योंही वह भस्म हो गया। तब देवताओं की विनती और पार्वती की तपस्या के वश होकर शिवजी ने पार्वती से विवाह किया। उनके गर्भ से कार्तिकेय का जन्म हुआ, जिन्होंने देवताओं का सेनापति बनकर तारकासुर का नाश किया। शिवजी की कृपा से कामदेव भी जी उठा और अतनु ( देहहीन ) होकर ही अपने प्रभाव से लोगों को प्रभावित करने लगा।

### ६—कुंभज ऋषि और समुद्र

शाखा चतुर्थ, पद्य ४५—अँचयो कुंभज नीरनिधि ।

पद्य ६०—रतनाकर अरु चंद के हुते सकल हितकार।

कुंभजात अरु राहु ग्रसत कोउ काम न आए।

अगस्त्य ऋषि की उत्पत्ति एक यज्ञघट से कही जाती है, इसी हेतु वे कुंभज कहलाते हैं।

एक बार समुद्र एक टिट्टिभ के अंडे बहा ले गया। टिट्टिभ ने क्रोध में आकर समुद्र को सुखा देने का इरादा किया। वह और उसकी स्त्री चोंचों से पानी बाहर निकालते और चोंचों से ही उसमें बालू भर देते। उनके दृढ़

उद्योग को देखकर और पक्षी भी उनकी सहायता करने लगे। इतने में कुंभज ऋषि ( अगस्त्य ) उधर से आ निकले। उनको पक्षियों पर दया आ गई और उन्होंने एक ही आचमन से सारा समुद्र सुखा दिया। जब समुद्र ने बहुत विनती की और टिट्टिभ के अंडे दे दिये तब अगस्त्य जी ने अपने प्रभाव से पुनः समुद्र को जल से भर दिया।

### ७—वासुदेव

शाखा चतुर्थ, पद्य ५१ :—किय मन पितु वसुदेव को बंधन तें उद्धार।

जब कंस का अत्याचार इतना बढ़ गया कि उसने अपने पिता उग्रसेन तथा वसुदेव-देवकी को कारागार में डाल दिया और सर्वत्र अधर्म और अन्याय के कारण अँधेर मच गया, तब भगवान् ने कारागार में ही देवकी की कोख से जन्म लिया। वहाँ से वे तुरन्त वृन्दावन में नंद-यशोदा के यहाँ पहुँचाये गए। बचपन से ही उन्होंने राक्षसों का संहार करना आरम्भ कर दिया। आठ ही वर्ष की अवस्था में उन्होंने अपने मामा कंस को मारकर उसके अत्याचार से लोगों की रक्षा की। उग्रसेन को राजगद्दी पर बैठा दिया, और अपने माता पिता देवकी और वसुदेव की बेड़ियाँ काट कर उनको कारागार से मुक्त कर दिया।

### ८—चन्द्रमा और राहु

शाखा चतुर्थ, पद्य ६० :—( देखिए—"कुंभज के प्रसंग में" )

समुद्र मंथन के समय चौदह रत्नों में से अमृत भी निकला। जब सब देवता मिलकर उस अमृत को बाँटने लगे तब राहु भी भेष बदल कर उनमें जा मिला। चन्द्रमा और सूर्य यह भेद जान गए। भगवान् ने चक्र से उसका सिर काट डाला, पर उस समय तक वह अमृत पी चुका था जिससे वह मर

नहीं सका। अपना बदला चुकाने के लिये राहु कभी कभी चन्द्रमा और सूर्य को ग्रस लिया करता है। उसी को लोग चंद्र-ग्रहण और सूर्य-ग्रहण कहते हैं।

## ( घ )—पाठान्तर

आजकल बहुत से संपादक तथा टीकाकार पाठान्तरों की भरमार करके अपने परिश्रम का परिचय देते हैं, चाहे वे पाठान्तर रद्दी ही क्यों न हों। हम पाठान्तर देने के विरोधी हैं। विविध प्रतियों को देख कर जो पाठ हमें उचित और साहित्य रीति से सुन्दर जँचता है, वही हम रखते हैं, शेषों को हम अपनी कृति में यथासंभव बहुत कम स्थान देते हैं। इस पुस्तक की टीका लिखते समय भी हमें विविध प्रतियों में इतने पाठान्तर मिले कि यदि हम चाहते तो पाठान्तर देकर पाठकों को भूलभुलैया में डाल देते पर हमें यह अभीष्ट न था। अधिकतर हमने वही रखा है जो हमें उचित जंचा है। शाखा ४ छंद नं० ३५ का भी हमने वही पाठ रखा है जो पं० बटुकनाथजी वाली हस्तलिखित प्रति में हमें मिला है। सन् १८९१ ई० की, भारतजीवन-प्रेस-द्वारा प्रकाशित प्रति में, इस छंद की तीसरी और चौथी पंक्ति में हमें कुछ अच्छा पाठान्तर मिला, पर प्राचीनता के विचार से हमने वही पाठ रखा है जो इस पुस्तक में है। भारतजीव-वाली प्रति में वे पक्तियाँ यों हैं:—

> "नहीं चाहिये मान देख यह समै सजैहैं।
> द्विजगन के कलगान सुनो पियपीय भजै है॥"

हमें यह पाठ अच्छा जँचता है, और अपने स्वभावानुसार हम यही पाठ रखते, परन्तु पं० बटुकनाथजी कहते हैं कि उनकी प्रति स्वयं दीनदयाल जी की

लिखी हुई है, अतः हमने पाठ नहीं बदला। अब पाठकों को अधिकार है कि वे जिस पाठ को उत्तम समझें उसे स्वीकार करें।

## ( ङ )—प्रश्न-पत्र

### ( प्रथम शाखा )

१—नीचे लिखे नंबर वाले छंदों के अर्थ सरल भाषा में लिखिए:—

छंद नं०—१, ६, १५, २४, ४२, ५०, ५६, ६७।

२—नीचे लिखे नम्बर वाली उक्तियाँ किस पर घटित होती हैं।

नं० ६४, ५७, ५२, ४१, ३६, २६, २०, १४, ८, ५।

३—नीचे लिखे शब्दों के दोनों अर्थ लिखिए।

द्विज, नीलकंठ, मित्र, कुवलय, अंबर, द्विजराज, पलाश, हंस, मंदार, पतंग।

४—नीचे लिखे नम्बर वाले छंदों में अन्योक्ति के सिवाय जो जो अलंकार हों उनके नाम बतलाइये और उनकी परिभाषा लिखिए:—

छंद नं० १, ३, ६, ४२, ५२, ५३, ६३।

५—नीचे लिखे शब्दों की व्युत्पत्ति लिखकर उनके अर्थ बताओ।

दूलह, प्रभंजन, खद्योत, द्विज, प्रकाश, जम-आसा, कुसुमाकर, सरोवर, षट्पद।

६—बादल, कमल, नदी, गंगा और नेत्र के लिये पाँच पाँच पर्यायवाची शब्द लिखिए।

७—हरि, मधु और रस के जितने अर्थ तुम जानते हो वे सब लिखो।

८—छलीक में 'क' और अपत में 'अ' का क्या अर्थ है लिखिये, और इसी प्रकार के अर्थों के तीन तीन उदाहरण और दीजिये।

९—बहादुर, तूल, अंबोह, मिरियास, कागद, तीर, गुनाह और नाहक शब्द किस भाषा से लिए गये हैं ? इन शब्दों के हिन्दी पर्याय लिखिये।

१०—निरजरसर, धुनी, मरंद, सारस, बलाहक, डावरा, और भीखम शब्दों के पर्यायवाची शब्द लिखिये और दो उदाहरण ऐसे दीजिये जहाँ कवि ने संज्ञा शब्द से क्रिया बनाई है।

## ( दूसरी शाखा )

१—नीचे लिखे नम्बरवाले छन्दों की व्याख्या कीजिये :—

१०, १७, २५, ३५, ४०, ५२, ६६, ७६।

२—नीचे लिखे शब्दों के अर्थ व्युत्पत्ति सहित लिखिए :—

चिन्तामणि, दुजिह्व, माहैं, रीस, अचम्भा, नाहर, गंधसार, पाहीं, केहरी, मृगपति, रंगभौन, दिग्गज, मधुकर, कलकंठ।

३—नीचे लिखे नम्बरवाले छन्दों में अन्योक्ति के अलावा और कौन से प्रसिद्ध अलंकार पाये जाते हैं। सकारण उत्तर लिखिए :—

६२, ६६, १५, १७।

४—नीचे लिखे शब्दों के शुद्ध रूप बतला कर अर्थ लिखिए :—

सैलूख, सासना, कुसेसैनिन, ऐगुन, और निरफल।

५—भूप, तुरंग, कुरंग, सुमना, प्रसून, विहंग, और मधुप शब्दों की विशद व्याख्या कीजिये।

६—'सारंग' शब्द इस शाखा में किस किस अर्थ में प्रयुक्त हुआ है? उनके अलावा इस शब्द के जितने अर्थ आप जानते हों, उन्हें लिखिए।

७—सिरताज, दुजिह्व, सुरराज, दीनदयाल, कुसुमाकर, धाराधर, प्रानप्रिय, मरुथल और जलजात शब्दों में समास बतलाकर अर्थ कीजिए।

८—नीचे लिखे मुहावरों के अर्थ बतलाकर उनके शुद्ध प्रयोग दिखलाइए :—

रीस करना, फूल जाना, बहा देना, नाम बजना, काम सरना, भाँवरी भरना, चार दिना की चाँदनी, बाज रहना, और भाग्य खुल जाना।

९—दूसरी शाखा की अन्योक्तियों में से तुम्हें जो अन्योक्ति सर्वाधिक उत्तम जँची हो, उसे लिखकर उसकी व्याख्या कीजिए।

१०—चातक और चकोर के विषय में कवि प्रौढ़ोक्ति क्या है? इनके सम्बन्ध की एक एक उक्ति (यदि कंठाग्र हो) लिखकर तात्पर्य समझाइये।

## ( तीसरी शाखा )

१—नीचे लिखे नम्बरवाले छन्दों की व्याख्या कीजिए :—

१, ३, ३३, ३४ और ३५।

२—नीचे लिखे शब्दों की व्युत्पत्ति देकर उनके अर्थ करो :—

मृदंग, पांडेय, गँवार, दरज़ी, कठपुतरी, ठकुरानी, चितेरा, पाहरू, इतिहास, बजंत्री, कल्द्रुम छत्री और रजक।

३—नीचे लिखे शब्दों के अर्थ लिखिए :—

चौमुखबजार, पिछान, दारुनटी, खवारी, त्रिजोना, पोत नकीब बाज़ी ओबरी, ठठेर-मंजारिका, और खलक।

४—छंद नं० २३ का तात्पर्य बतलाइये और उसमें के 'तथा मजनूँ मन लैली' संबंधी कथा-प्रसंग लिखिए।

५—छत्रीकुल-तिलक में 'तिलक' का क्या अर्थ है? यही अर्थ देने वाले और कौन कौन शब्द हैं। उदाहरण सहित लिखिए।

६—इस शाखा में जो फारसी के शब्दों का प्रयोग कवि ने किया है, उसे देखते हुए क्या यह अनुमान किया जा सकता है कि कवि फारसीदाँ था? सकारण लिखिये।

७—इस शाखा में वैश्य और माली पर कवि ने तीन तीन उक्तियाँ लिखी हैं। इनमें से प्रत्येक के विषय में तुम्हें कौन सी सर्वोत्तम जँचती है। उत्तर लिखिए।

८—ठकुरानी, परिहारी, त्यागी, नटी, अधिकाई, उड़ायक, सौदागर और जौहरी शब्द किस प्रकार बनाए गए हैं, व्याकरण से सिद्ध करके उत्तर लिखो।

९—नीचे लिखे नम्बर वाले छंदों की अन्योक्तियाँ किस पर घटित होती हैं? तात्पर्य लिखकर समझाइए :—

१५, २०, २५, २६, और ३३।

१०—सर, अंग, गुन, घट, पट, नट, तम और वारी शब्दों के जितने अर्थ आप जानते हों वे सब लिखिए।

## ( चौथी शाखा )

१—नीचे लिखे नम्बर वाले छंदों की व्याख्या सरल भाषा में कीजियेः—

२, ६, १५, २०, २३, ४८, ६५ और ७४।

२—नीचे लिखे मुहवरों के अर्थ लिखकर उनका शुद्ध प्रयोग दिखलाइए:—
नदी नाव संयोग, चहुँपास, ठगौरी डारना, और शोर लाना।

३—छंद नं० १६ किस आधार पर लिखा गया है? उसका तात्पर्य समझाकर लिखिए।

४—लोभ को कुंभज (छंद नं० ४५) और कलंदर (छंद नं० ४६ अभिमान को जंबुक (छंद नं० ४८) और त्याग को मृगेश (छंद नं० ५३) के साथ रूपण करने में क्या कोई विशेष चमत्कार है? समझाकर लिखिए।

५—परिकरांकुर, श्लेष, मुद्रा, रूपकातिशयोक्ति अलंकारों की परिभाषा लिखिए और उदाहरण इसी ग्रंथ से दीजिए।

६—नीचे लिखे शब्दों की व्याख्या लिखकर अर्थ कीजिए।
बटपार; आवागौन, भटिहारी, अपजस, कुंभज, वासुदेव सुरधुनी, कुचाल, सूलधर, सुवशज, और जलज।

७—प्रेमपंचक के पाँच सवैयों में से आप किस सवैया को सर्वोत्तम समझते हैं। उसका तात्पर्य लिखिये, और उसका नाम भी सलक्षण लिखिये।

८—कैवर्तक आश्चर्य, पश्चात्ताप, हृदय, द्वार, पिपासा, कुत्र, अद्यापि, मृत्यु, पार्श्व, दृष्टि, दीर्घ, और परीक्षण के लिये ठेठ हिन्दी शब्द लिखिए।

९—अध, गंभीर, बावरी, मेल, सती, शत्रु, बूड़ना, कठिन, खल, मधुर, और पार शब्दों के लिये विरोधवाची शब्द लिखिए।

१०—पाहन, किवाड़, नचत, सिवाल, भौंर, हाथ, रैनि दवारिखंभ, सुजान, और रीस शब्दों के शुद्ध सस्कृत रूप लिखिए।

## ( विशेष )

१—ग्रन्थकर्ता का संक्षिप्त परिचय दीजिए। और उनकी काव्य-शक्ति के विषय में अपने विचार लीखिए।

२—रहस्यवादी कवियों में ग्रन्थकर्ता को आप कौन-सा स्थान दे सकते हैं।

३—इसी ग्रन्थ से प्रमाणित कीजिए कि ग्रन्थकर्ता फ़ारसी भाषा तथा उसके साहित्य से परिचित था।

४—ग्रन्थकर्ता के भाषा सम्बन्धी दोषों का सोदाहरण दिग्दर्शन कराइये।

५—कुंडलिया, मालिनी और घनाक्षरी छन्दों की परिभाषा लिख कर उदाहरण दीजिए।

६—दोहा और सवैया छन्द कितने प्रकार के होते हैं। प्रत्येक के दो दो उदाहरण दीजिए।

७—अन्योक्ति, परिकरांकुर, रूपकातिशयोक्ति और श्लेष अलंकारों की उपयोगिता के विषय में अपने विचार लिखिए और उदाहरण दीजिए।

८—दीनदयाल की उस प्रतिभा का दिग्दर्शन कराइये, जिसके सहारे वे श्रृङ्गारी कविता करते हुए भी अपने को पूर्ण संन्यासी प्रमाणित कर सके हैं।

९—"दीनदयाल जी ने संस्कृत कवियों की अन्योक्तियों से खूब सहायता ली है," इस कथन को उदाहरण देकर प्रमाणित कीजिए।

१०—अपने विचार के अनुसार बतलाइए कि इस ग्रन्थ में कवि ने किस प्रसंग में पूर्ण कवि-कौशल प्रगट किया है। कुछ उदाहरण देकर अपने विचार की पुष्टि कीजिए।

॥ इति ॥

---

Printed by RAMZAN ALI SHAH at the National Press.
Allahabad.